दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

संपादक
डॉ. अश्विनी महाजन
रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

दृष्टिकोण प्रकाशन
WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045

वर्ष : 8 अंक : 3 ❑ मई–जून 2016

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड

डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन

डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरवोरोग, ओन्टारियो

डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची

डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका

डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा

डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संपादकीय सम्पर्क:
448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I, दिल्ली–110091
फोन : 011–22753916
e-mail : editorialindia@yahoo.com
©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

ISSN 0975-119X

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

शिक्षा जगत के परिवेश आज हर तरह से उपेक्षित हो रहे हैं। जहां सर्वोपरि गुणवत्ता होनी चाहिए, वहां बची-खुची योग्यता व टैलेंट का प्रयोग हो रहा है। जिसका कहीं प्रयोग नहीं हो सका वह शिक्षा जगत में आ रहा है। जहां शिक्षा का धड़ल्ले से व्यापार हो रहा है। आज शिक्षा देने के नाम पर गली-गली निजी, सरकारी शिक्षा केन्द्र खुले तो मिल जायेंगे पर इनमें से अधिकांश के पास कुशल योग्य स्टाफ नहीं होने से शिक्षा के साथ जो खुला मजाक हो रहा है, उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। भारी-भरकम रकम का खुला खेल शिक्षा केन्द्र स्थापना से लेकर संचालित होने तक यहां आसानी से देखा जा सकता है। जगह-जगह इस क्षेत्र में खुली दुकानदारियां इसका साक्षात् उदाहरण दे रही हैं, जहां शिक्षा के वास्तविक मूल्य का कोई अर्थ नहीं। इस तरह की भूमिका में सरकार भी कहीं पीछे नहीं है, जो बिना वास्तविक जांच किये ही शिक्षा का पट्टा गले में टांग कर वाहवाही लूट लेती है। एक सरकार मान्यता देती है तथा दूसरी सरकार उसे रद्द कर देती है। इस तरह के परिवेश में अर्थ कमाने की साफ-साफ प्रवृत्ति हावी देखी जा सकती है। इस तरह के परिवेश के चलते आज यहां लाखों नौजवान प्रकाश पाने के मार्ग में अंधकारमय भविष्य के प्रति चिंतित हैं। शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त इस तरह की घिनौनी विकृतियों के आज लाखों शिकार हो रहे हैं जो स्थायित्व के लिए घातक है। जहां शिक्षा का वास्तविक स्वरूप निरूउद्देश्य होता साफ-साफ दिखाई दे रहा है। जिसके कारण आज शिक्षा एवं शिक्षकों के बीच दूरियां बढ़ती ही दिखाई दे रही है। इस तरह के परिवेश जीवन की सार्थकता को मिटा रहे हैं। शिक्षा के बदलते व्यवसायिकरण स्वरूप ने शिक्षा के उद्देश्य को ही मिटा डाला है।

शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को उजागर करने के लिये हमें गुरुकुल की अवधारणा को फिर से कायम करना होगा। जहां गुरू एवं शिष्य के बीच बनी आदर्श अवधारणा को साकार रूप देने में सफल सिद्ध हुई है। शिक्षा के क्षेत्र में टैलेंट को नकारा जाना इसके मूल उद्देश्य को समाप्त करता है। इसलिये किसी भी कीमत पर इस दिशा में समझौता नहीं किया जाना चाहिए। गुरू को सर्वोपरि पद पर रखकर ही ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। तभी गुरू एवं शिष्य के बीच एक आदर्श परंपरा का निर्वाह हो सकेगा और यही परंपरा शिक्षा के मूल रूप को जीवन में उतारने में सहायक सिद्ध होगी। स्वावलंबन, आध्यात्म के साथ वर्तमान शिक्षा पद्धति को जोड़ा जाना शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को उजागर कर सकता है।

आज शिक्षा का पूरा तंत्र एक बड़े व्यवसाय में तब्दील हो रहा है, तब क्या हम शिक्षा और शिक्षक की गरिमा को बरकरार रख पाए हैं? वास्तव में पूंजीवादी विश्व के बदलते स्वरूप और परिवेश में हम शिक्षा के सही उद्देश्य को ही नहीं समझ पा रहे है। सही बात तो यह है कि शिक्षा का सवाल जितना मानव की मुक्ति से जुड़ा है उतना किसी अन्य विषय या विचार से नहीं। एक बार देश के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने ब्रिटेन के एडिनबरा विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए कहा था कि शिक्षा और मानव इतिहास का संपूर्ण लक्ष्य सर्वजन हिताय की परिधि से हटकर घोर वैयक्तिक

दायरे में सिमट जाए तो मानव-मन स्व के निहितार्थ ही क्रियाशील हो उठता है और समाज में करुणा की जगह क्रूरता, सहयोग की जगह दुराव, प्रेम की जगह राग-द्वेष व प्रतियोगिता की भावना ले लेती है।

इन दिनों जब शिक्षा की गुणात्मकता का तेजी से ह्रास होता जा रहा है, समाज में सहिष्णुता की भावना लगातार कमजोर पड़ती जा रही है और गुरु-शिष्य संबंधों की पवित्रता को ग्रहण लगता जा रहा है। डॉ. राधाकृष्णन का पुण्य स्मरण फिर एक नई चेतना पैदा कर सकता है। वह शिक्षा में मानव के मुक्ति के पक्षधर थे। वह कहा करते थे कि मात्र जानकारियां देना शिक्षा नहीं है। करुणा, प्रेम और श्रेष्ठ परंपराओं का विकास भी शिक्षा के उद्देश्य हैं। शिक्षा की दिशा में हमारी सोच अब इतना व्यावसायिक और संकीर्ण हो गई है कि हम सिर्फ उसी शिक्षा की मूल्यवत्ता पर भरोसा करते हैं और महत्व देते हैं जो हमारे सुख-सुविधा का साधन जुटाने में हमारी मदद कर सके, बाकी चिंतन को हम ताक पर रखकर चलने लगे हैं। देश में बी.एड. महाविद्यालयों को खोलने को लेकर जिस तरह से राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् धड़ल्ले से स्वीकृति प्रदान कर रहा है, वह एक दुखद गाथा है। प्राय: सभी महाविद्यालय मापदंडों की अवहेलना करते हैं। महाविद्यालय धन कमाने की दुकान बन गए हैं और शिक्षा का अर्थ रह गया है परीक्षा, अंक प्राप्ति, प्रतिस्पर्धा तथा व्यवसाय। देश में यही हालत तकनीकी शिक्षा की है जहां बिना किसी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की गारंटी के लगातार कॉलेज खुल रहे है।

लोगों को यह एक अच्छा व्यवसाय नजर आने लगा है। पिछले दिनों इस पर योजना आयोग ने अपना ताजा दृष्टिकोण-पत्र जारी कर दिया है। आयोग चाहता है कि ऐसे उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना की अनुमति दे दी जानी चाहिए, जिनका उद्देश्य मुनाफा कमाना हो। दृष्टिकोण-पत्र के मुताबिक 1 अप्रैल, 2012 से शुरू हो रही 12वीं पंचवर्षीय योजना में उच्च शिक्षा, खासकर तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में निजी क्षेत्र को बड़ी भूमिका देने के लिए अनुकूल स्थितियां बनाने की जरूरत है। अभी इस दृष्टिकोण-पत्र पर सरकार की मुहर नहीं लगी है, इसके बावजूद यह सुझाव पिछले वर्षों के दौरान उच्च शिक्षा क्षेत्र के बारे में चली चर्चा के अनुरूप ही है। विदेशी विश्वविद्यालयों को भारत में अपनी शाखा खोलने की इजाजत के साथ भी यह बात जुड़ी हुई है कि वे सिर्फ मुनाफे की संभावना दिखने पर ही यहां आएंगे। आज आवश्यकता है देश में प्राचीन समृद्ध ज्ञान के साथ युक्तिसंगत आधुनिक ज्ञान आधारित शिक्षा व्यवस्था की। देशभक्ति, स्वास्थ्य-संरक्षण, सामाजिक संवेदनशीलता तथा अध्यात्म—यह शिक्षा के भव्य भवन के चार स्तंभ हैं। इन्हें राष्ट्रीय शिक्षा की नीति में स्थान देकर स्वायत्त शिक्षा को संवैधानिक स्वरूप प्रदान करना चाहिए। इन सब उपायों से शिक्षा की चुनौतियों का मुकाबला किया जा सकता है। शिक्षा बाजार नहीं अपितु मानव मन को तैयार करने का उदात्त सांचा है। जितनी जल्दी हम इस तथ्य को समझेंगे उतना ही शिक्षा का भला होगा। तभी हम शिक्षक दिवस को सच्चे अर्थों में सार्थक कर सकेंगे और डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अधूरे सपनों को पूरा कर पाएंगे।

इस अंक में

इतिहास

बौद्ध धर्म का उदय एवं सामाजिक रूपरेखा–डॉ. *रितेश कुमार* 7

बंगाल विभाजन एवं तीव्र राष्ट्रीय भावना का विकास–*गौरव कुमार* 11

एम. एन. राय: चिन्तन एवं व्यवहार का विलक्षण व्यक्तित्व–*राकेश कुमार* 17

उत्तराखण्ड में स्त्री शिक्षा के जनक: मिशनरियां–डॉ॰ *सावित्री कैड़ा जन्तवाल* 28

चम्पारण में किसान आन्दोलन का यथार्थ–*मदन पासवान* 36

खिलाफत आंदोलन और बिहार के मुसलमान–*मो॰ तौकिर अहमद जान* 42

संथालों का परिवार एवं समाज–*शम्भु कुमार राम* 48

हिन्दी साहित्य

युग प्रवर्तक प्रेमचंद–डॉ॰ *बृजेन्द्र पाण्डेय* 52

साहित्यकार चन्द्रकिशोर जायसवाल के 'सात फेरे' उपन्यास में सामाजिक परिवेश–*सुनीता राजपूत* 56

मीडीया के परिपेक्ष में हिंदी–डॉ॰ *विजया जगन्नाथ पिंजारी* 60

राम की शक्ति पूजा: एक सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक प्रासंगिक रचना –*ब्रजेश कुमार तिवारी* 65

संस्कृत

संस्कृतशिक्षणे संस्कृतच्छात्राणाम् अभिवृत्तिः–*बुद्धिमान केरकेटा* 70

संस्कृत साहित्य में परमात्मा की अवधारणा–डॉ. *मनीषा भट्ट* 74

"वेदों में देव-तत्व का प्रथम चरण: प्रकृतिवादी बहुदेववाद"–*पूर्णिमा कुमारी* 77

रामायण एवं महाभारत में नारी की स्थिति–कु॰ *सुनीता आर्या* 82

"स्मृति ग्रंथों में पराशर स्मृत्ति का स्थान एवं महत्व"–डॉ. *प्रदीप ठाकुर* 87

संस्कृत व्याकरण में शाब्दबोध - विचार–डॉ. *हेमवती नन्दन पनेरु* 91

षड्दर्शन में ईश्वर की सत्ता एवं उसकी सर्वज्ञता–डॉ॰ *अवधेश कुमार यादव* 96

राजनीति विज्ञान

फिलस्तीन मुक्ति संघर्ष में भारत की भूमिका और इजराइल–*उपेन्द्र कुमार सिंह* 100

म्यांमार में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना में भारत की भूमिका–*पप्पू कुमार* 114

भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में जातिप्रथा की भूमिका का विश्लेषण–*अजय कुमार*	129
सम्प्रदायिकता की समस्या का राजनैतिक विश्लेषण–*श्रवण पासवान*	141

भूगोल

बिहार में लीची उद्योग की संभावना, समस्या एवं निदान–*नूतन कुमारी*	148
कृषि आधारित उद्योग की संभावनाएँ - बिहार के संदर्भ में–*प्रमोद कुमार*	153
नवादा जिला में पान की खेती: एक भौगोलिक अध्ययन–*डॉ॰ संजय कुमार*	157
उत्तर एवं दक्षिण बिहार की प्रादेशिक विशमताओं का तुलनात्मक भौगोलिक अध्ययन–*सुशील कुमार सिंह*	166

अर्थशास्त्र

आर्थिक मानवाधिकार और विकास–*डॉ. शंकर साह*	170
पर्यावरणीय प्रदूषण और महात्मा गाँधी–*डॉ. गोखुला प्रसाद सिंह*	180
भारत में महिला - केन्द्रित ग्रामीण आर्थिक विकास की आवश्यकता–*डॉ॰ मोहन कुमार लाल; डॉ॰ गगनदेव प्रसाद यादव*	184

समाजशास्त्र

ग्रामीण विकास में पंचायती राज की भूमिका–*कुमार हेमंत नारायण*	193

मनोविज्ञान

भारत में उच्च शिक्षा–चुनौतियाँ एवं समाधान–*डॉ. मनीषा बासल*	198

नृत्य कला

ग्वालियर की संगीत परंपरा में कथक नृत्य शैली–*सुश्री तरूणा सिंह*	202

गृह विज्ञान

प्राचीन भारतीय आहार, पोषण का आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता–*तुहिना विजय*	205

बौद्ध धर्म का उदय एवं सामाजिक रूपरेखा

डॉ. रितेश कुमार

**रेमिडियल क्लासेज, इतिहास विभाग, एल,एन.डी. कॉलेज
(बी.आर.बी.यु. मुजफ्फरपुर) मोतिहारी**

छठी शताब्दी ई0पू0 का इतिहास असाधारण मानसिक और आध्यात्मिक अशांति का युग था। इसका वर्णन "विश्वव्यापी प्रश्नों" के शताब्दी के रूप में किया जाता है। इस काल में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय (लगभग 62) का उदभव एवं विकास हुआ। कोई भी धार्मिक आन्दोलन अपने परिवेश के प्रतिक्रिया से प्रारंभ होती है उस समय सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना में तीव्र परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध सम्प्रदाय ने सामाजिक समानता, मित्यव्यतिता तथा अहिंसा पर बल दिया जो व्यवसायियों क्षत्रियों एवं शोषित समाज के मनोवृति तथा आकांक्षा के अनुकूल थी। सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आशा में व्यवसायी, क्षत्रिय तथा अन्य वर्ग के द्वारा विपुल-दान बौद्ध-धर्म के आन्दोलन का प्रमुख उर्जा-स्त्रोत था। इतिहास के मर्मज्ञ इसे "द्वितीय नागरीकरण" या 'बुद्ध-युग' की संज्ञा देते हैं।

भारतीय धर्मो के इतिहास में बौद्ध मत का स्थान अद्वितीय है।[1] भावी जीवन में दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था ब्राह्मणवाद की आधारशिला है। बौद्ध-मत अपने द्वार समाज के सभी वर्गो के लिए खोल दिया इतना ही नहीं इसने भारत में बसे भारतीय-युनानियों तथा भारतीय सिथियनों जैसे विदेशियों को आत्मसात् किया। धीरे-धीरे बौद्ध मत श्रीलंका, वर्मा, थाईलैंड, कम्बोडिया, मध्य एशिया, चीन, नेपाल, तिब्बत, कोरिया तक फैल गया।[2] संक्षेप में बौद्ध मत के माध्यम से सम्पूर्ण एशिया ने भारतीय संस्कृति परंपरा का उपयोग किया।

[3]बुद्ध के आगमन के पूर्व ही हिन्दू-समाज ने बौद्ध धर्म और जैन धर्म के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।[4] वस्तुतः बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के मध्य अन्तर्संघर्ष एक कटु सत्य है।[5] मौर्य समाज के पतन और ब्राह्मणों के राज्यरोहण को ब्राह्मणों के प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। मनुवादी व्यवस्था के पोषक के अनैतिक और विचारशुन्य क्रियाकलापों के फलस्वरूप समाज अन्तर्द्वन्द के चरम स्थिति में पहुंच चुका था।

[6]ब्राह्मणों के द्वारा समाज के अंधविश्वास, अनैतिकता और घूर्त को ब्राह्मणों ने "अस्त्र" के रूप में प्रयोग किया। यज्ञों में अनैतिकता का बोलबाला था। शताब्दियों के विधि-विधान को ब्राह्मणों के द्वारा एक ऐसे "कामधेनु गाय" के रूप में विकसित किया गया। समाज में इस तथ्य को सुनियोजित ढंग से प्रसारित किया गया कि यज्ञों की दक्षिणा से ही फल की प्राप्ति संभव हो सकती हैं यज्ञो की

संख्या अधिक से अधिक बढ़ाया जाए और प्रत्येक गृहस्थ उन्हें अवश्य निभायें जिसके फलस्वरूप यज्ञ करने की प्रवृत्ति की गतिशीलता बनी रहे। यज्ञ का स्वरूप चाहे छोटा हो या बड़ा दोनों परिस्थिति में इन्हें लाभ पहुंचता रहे। समाज में यज्ञों की आवश्यकता इस प्रकार प्रचारित किया जा रहा था कि यज्ञों के बिना जीवन निर्रथक है।[7] सम्पूर्ण राज्य और राज्याधिकारी की चिंता ''यज्ञ'' करने में थी। फलत: राज्य का विकास अवरूद्ध हो गया।

पशुओं के लगातार वध, ब्राह्मणों का "सोमरस" में झुमना तथा गृहस्थीयों एवं राज्य से लगातार दक्षिणा की मांग इत्यादि कर्मो ने जनता के हृदय में ब्राह्मणों के प्रति कटुता उत्पन्न कर दी।[8] मनुस्मृति में ब्राह्मणों के "उत्कृष्टता" का वर्णन है। ब्राह्मण समाज के सुनियोजित षड्यंत्र के द्वारा जनता में इस भ्रम को फैला दिया गया कि "तप तथा आत्मनिग्रह के द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता है, इस कृत्य के द्वारा तपस्वीयों और देवताओं से आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि प्राप्त किया जा सकता है।"[9] शनै: शनै: जनता इस अंधविश्वास को समझने लगी।

हिन्दु धर्म में कई ऐसी क्रियाये मिली जो सर्वथा निरर्थक और जनसाधारण के विचार से परे थे। उपनिषद् की गहन दार्शनिकता, शास्त्र और सुत्रों की जनता के जीवन पर कोई प्रभाव नही पड़ा। वैदिक धर्म के उच्च विचार और उच्चादर्श, आत्मा-परमात्मा का गहन रहस्य और अन्य आध्यात्मिक धारणायें ऐसी थी जो जनता के समझ से परे थी। इन सभी तथ्यों के फलस्वरूप एक ऐसे धर्म की आवश्यकता पड़ी। जिसमें गहराई भले कम हो, किन्तु जनता के जीवन के कल्याणार्थ आवश्यक अंग बन सके।

ब्राह्मणों के जीवन में नैतिकता की कमी आने लगी। वे सांसारिक जीवन में उलझने लगे। उनका संचित धन उनके पतन का कारण बना।[10] जाति प्रथा की कठोरता के कारण निम्न वर्ग, उच्च वर्ग की प्रबलता और बड़प्पन के भार को उतार फेंकने को आतुर था, क्योंकि उच्च वर्ग शताब्दियों से निम्न वर्ग का शोषण कर रहे थे। क्षत्रिय एवं वैश्य को समाज में वह स्थान प्राप्त नहीं था जिसके वे वास्तविक हकदार थे। शारीरिक बल और धन से श्रेष्ठ होने पर भी ब्राह्मणों के मिथ्या-अभिमान को सहना पड़ता था।

[11]बुद्ध की शिक्षाओं की सरलता इस धर्म-विस्तार का प्रमुख कारण बनी। बौद्ध धर्म की जीवन संबंधी धारणायें साधारण नियमों पर आधारित थे। इस धर्म में न धन और न पुरोहितों की आवश्यकता थी। बौद्ध धर्म की दार्शनिकता तथा भाषा सरल और सुगम थी।[12] बुद्ध ने अपने सभी उपदेश जनभाषा पाली में दी, जो लोगों की प्रिय भाषा थी।

बौद्ध धर्म ने जाति-प्रथा का विरोध किया तथा इस धर्म के द्वार सभी जातियों के लिए खोले गये। बौद्धों का विश्वास था कि मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से प्रधान होता है।[13] वैश्यों और शुद्रों ने इसे स्वभाविक रूप से स्वीकार किया।

[14]धन की न के बराबर आवश्यकता ने बौद्ध धर्म के प्रति आर्कषण को और बढ़ाया।[15] बौद्ध धर्म के विकास में बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व एक प्रमुख कारण था। जब पूर्ण शुद्ध हृदयता और समान्य दयाभाव एक ही व्यक्ति में निहित हो जाते है तो वह व्यक्ति श्रद्धेय और आराध्य बन जाता है। जो बौद्ध-मत के उद्देश्य और प्रचार का द्योतक था।

कोई यह कल्पना तक भी नही कर सकता था कि एक छोटा सा "सूत्र" अपने भीतर ब्राह्मणों तक के धर्म को परिवर्तित करने की शक्ति धारण किये होगा किन्तु भय और संस्कारों से मुक्ति प्राप्त करने वाले इसके प्रवर्तक की पवित्रता और इस धर्म के नैतिक आचार की उच्चता इतनी श्रेष्ठ थी कि इसने लोगों के मन और मस्तिष्क पर जादू सा कर दिया। यह धर्म की संवेदनशीलता का ही परिणाम है कि "अलौकिक प्रेम" का एक चित्र लोगों के समक्ष उपस्थित हुआ। भिक्षु और भिक्षुणियों का धर्म के प्रति समर्पण और बुद्ध के विचार को जनसाधारण तक पहुंचाना ही इनका एक मात्र उद्देष्य था।[16] बौद्ध धर्म की प्रमुख विशेषता उसकी समायोजन की क्षमता थी। स्वयं बुद्ध ने बौद्ध-सभाओं को इतनी शक्ति प्रदान कर रखी थी कि वे साधारण एंव गौण नियमों को स्वयं बना सके जिसके फलस्वरूप देश-काल के अनुसार बौद्ध धर्म में परिवर्त्तन होने लगा। इन समस्त तथ्यों के फलस्वरूप समाज में एक ऐसी पृष्ठभुमि तैयार हुई जिसने बौद्ध-मत के विकास में उत्प्रेरक भुमिका निभाई।

वस्तुत: "धम्म" की असाधारण क्षमता, बौद्धिक समायोजन की प्रवृति, सामान्य ज्ञान, समान्य वर्गो का निर्वहन, व्यक्ति विशेष और धर्म विशेष सम्प्रदाय विशेष का न होना स्वनैतिकता का क्रिया निर्वहन सबके लिए ये बौद्ध धर्म को सार्वदेशीक और सर्वकालिक बनाया। स्वधर्म की विशेषता और नव-मानवतावाद (Neo-Humanatism) पर विशेष बल देता है। मनुष्य में महान बनने की सहज क्षमता विद्यमान है अपितु मानवतावादी दर्शन की चरम परिणति है जिसमें मानव के भविष्य की सभी आशाएँ निहित है। सामाजिक व्यवस्था का आधार बहुमत न होकर उन आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तियों की नैतिक अंतरात्मा होगी जो सामाजिक व्यवस्था और राजकीय व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी होंगे। बौद्धिक आधारों पर निर्मित साध्यों के राज्य में ही व्यक्ति सच्चे अर्थों में स्वराज्य और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। बौद्ध धर्म में सहृदय मानवतावादी दर्शन की अवधारणायें निहित है, जिसने बौद्ध धर्म के विकास में उत्प्रेरक भूमिका निभाई।

नैतिकता, सदाचार और अहिंसा को समय-समय पर नई दशा और दिशा देती रही है। जिसके फलस्वरूप वर्तमान गला-घोटू परिवेश में बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता हैं। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म में विश्व धर्म बनने की क्षमता विद्‌यमान है जो स्तरीय सांसारिक क्रियान्वयन पर बल देता है और कर्मयोगी बनाता है और स्वस्थ्य आध्यात्मीक भावना गतिमान रखता है जहाँ जाति, क्षेत्र, धर्म, व्यक्ति विशेष आड़े नहीं आते। वर्त्तमान उपभोगतावादी संस्कृति में बौद्ध धर्म का ही आत्मबल है जो उच्च जीवन स्तर की परिभाषा में कम से कम उपभोग को अति-विशेष स्थान दिया है। लगातार वैश्विक उपभोगवादी अर्थ-व्यवस्था, दोहनवाद पर कुठाराघात किया और नव-मानवतावाद (Neo-Humanatism) पर बल दिया ये आज भी प्रासंगीक है।

संदर्भ संकेत

1. जे0टी0 व्हीलर, ऐन्श्येन्ट एण्ड हिन्दु इंडिया, 1961, पृ. 461
2. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 153
3. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 1153
4. बी0आर0 अम्बेदकर, द अनटचेबिल्स, 1969 पृ. 1471

5. जयशंकर मिश्रा, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 1231
6. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 153
7. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 154
8. मनुस्मृति, 1.93 उत्तम अंग (मुख) से उत्पन्न होने के कारण क्षत्रिय से पहले उत्पन्न होने के कारण, वेदो को धाारण के कारण ब्राहमण की सम्पूर्ण जगत के स्वामी है।
9. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 154
10. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1984 पृ. 156
11. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 167
12. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 55
13. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 59
14. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, 1984, पृ. 144
15. डा0 केनेथ साण्डर्स, दी स्टोरी ऑफ बुद्धिजम.
16. बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 164

❊❊❊

बंगाल विभाजन एवं तीव्र राष्ट्रीय भावना का विकास

गौरव कुमार

शोध अध्येता, इतिहास विभाग, बा.भी.अ.बि. विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में बंगाल विभाजन की घटना भारतीय जनमानस के अन्दर बढ़ रहे एकता एवं राष्ट्रीय चेतना को कमजोर करने की एक सोची समझी चाल थी, जो विपरीत परिणामों का अनुगामी बना एवं प्रकारान्तर में तीव्र राष्ट्रवादी भावना का विकास कर अंग्रेजी शासन व्यवस्था को उखाड़ फेकने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया।

यद्यपि कर्जन के उदेश्य राजनीतिक और कूटनीतिक दोनों थे। उसने बंगालियों की बढ़ती हुई राजनीतिक जागृति को समाप्त करने का एक मार्ग निकाला था। उसने एक निजी और गोपनीय पत्र में 17 फरवरी 1904 को भारत सचिव को लिखा था- ये बंगाली अपने आप को एक राष्ट्र मानते हैं और वे उस समय का स्वप्न देख रहे हैं, जब अंग्रेज यहाँ से निकाल दिए जा चुके होंगे और कलकत्ता के राज भवन में एक बंगाली बाबू बैठा होगा, वे लोग निश्चय ही अपने इस स्वप्न को साकार करने में किसी बाधा को उपस्थित करने को अच्छा नहीं मानते। यदि हमने इस समय तनिक भी शिथिलता दिखाई और उनके शोर से हम पिछे हट गए तो हम बंगाल को पुनः कभी भी जितने में सफल नहीं होंगे और आप भारत के पूर्व भाग में उन शक्तियों को दृढ़ कर रहे होंगे जो हमारे लिए भविष्य में निश्चय ही कष्टदायक सिद्ध होगी।

हालाकि कर्जन द्वारा उठाया जानेवाला सर्वाधिक अलोकप्रिय कदम अर्थात बंगाल का विभाजन इतिहासकरों के बीच बड़े विवाद का विषय रहा है। तात्कालिन और बाद के राष्ट्रवादी इतिहासकारों का कहना है कि यह कदम जान बूझकर 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अन्तर्गत उठाया गया था, जबकि इसके पक्षधरों का तर्क है कि मुख्यतः प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखकर बंगाल विभाजन किया गया था।

बात जो भी हो 19 वीं सदी ज्यों-ज्यों ढ़लती जा रही थी भारत में राष्ट्रीय चेतना विकसीत होती जा रही थी और जुझारु रुख अख्तियार कर रही थी। भारतीय राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र था बंगाल। अंगरेजों ने इसी जुझारु चेतना पर आघात करने के लिए ही बंगाल के बँटवारे का निर्णय किया। उस समय वायसराय लॉर्ड कर्जन के अनुसार अंग्रेजी हुकूमत का यह प्रयास कलकत्ता को सिंहासनयुक्त करना था, बंगाली अबादी का बँटवारा करना था, एक ऐसे केन्द्र की स्थापना करना था जहाँ से बंगाल व पूरे देश में काँग्रेस पार्टी का संचालन होता था, साजिशें रची जाती थी।

बंगाल विभाजन के प्रस्ताव की खबर बंगाल में आग की तरह फैली और विरोध की अवाजें उठने लगी। कर्जन इस पर बहुत तिलमिलाए और गृह सचिव को लिखा यदी हमने इस विरोध को अभी नहीं दबाया तो हम बंगाल को कभी विभाजित नहीं कर पाएँगें, विरोध को न दबा पाने का मतलब यह होगा की तुम पहले से ही मजबूत एक ताकत को और भी मजबूत बनाने का मौका दोगे, एक ऐसी ताकत को, जो भविष्य में हमारे लिये और भी संकट पैदा करेगी।

बंगाल विभाजन का मकसद सिर्फ यह नहीं था कि बंगालवासियों को दो प्रशासनिक हिस्सों में बाँटकर उनके प्रभाव को कम किया जाए। अंग्रेजी हुकूमत का मकसद मूल बंगाल में बंगालवासियों में बंगालियों की अबादी कम कर उन्हें अल्पसंख्यक बनाना था। मूल बंगाल में एक करोड़ 70 लाख बंगाली और तीन करोड़ 70 लाख उड़िया व हिन्दी भाषी लोगों को रखने की योजना थी।

इस विभाजन योजना में एक और विभाजन अंतर्निहित था। धार्मिक आधार पर विभाजन। 19 वीं सदी के अंत में अँग्रेजों ने काँग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने के लिए मुस्लिम सम्प्रदायिकता को भड़काने का काम शुरु किया गया था। अब एक बार फिर उन्होंने इस हथकंडे को अपनाने की कोशिश की। ढ़ाका में विभाजन के पक्ष में मुसलमानों को रिझाने के लिए कर्जन का भाषण उनकी कुटील चाल का भांडा फोड़ता है। उन्होंने कहा- बंगाल विभाजन से ढ़ाका, बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी वाले नए प्रान्त की राजधानी बन जरएगा। (एक करोड़ 80 लाख मुसलमान और एक करोड़ 20 लाख हिन्दु) इससे पूर्वी बंगाल में मुसलमानों में एकता स्थापित होगी। मुसलमानों को बेहतर सुविधाएँ मिल सकेगी और पूर्वी जिले कलकत्ता की राजशाही से मुक्त भी हो जाएँगे।

दिसंबर 1903 और 19 जुलाई 1905 की औपचारिक घोषणा के बीच एक स्थानान्तरण योजना को फ्रेजर रिजले और कर्जन ने पूर्ण विभाजन में बदल दिया जिससे अन्तत: पूर्वी बंगाल और असम के प्रान्त में असम के अतिरिक्त चटगाँव, ढ़ाका और राजशाही डिवीजन, हिलटिपरा और मालदा भी सम्मिलित कर दिए गए।

सार्वजनिक रूप से सरकार इसमें राजनीतिक चाल की बात अस्वीकार करती रही, किन्तु सरकारी विवरण, टिप्पणियाँ एवं निजी पत्र कुछ और ही दर्शाते हैं। विशेष रूप से इस दूसरे चरण में जान बूझकर हिन्दु मुसलमान तनाव को बढ़ावा देने की बात थी।

बात जो भी हो इतना तो अवश्य ही तय है कि यह लार्ड कर्जन की एक सोची समझी चाल थी। यह लार्ड कर्जन की मनमानी का जीता जागता उदाहरण था। इस तरह से 1905 में बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट दिया गया तब तक उग्र राष्ट्रवाद के उदय की परिस्थितियाँ विकसीत हो चुकी थी। इसी के साथ भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का दूसरा चरण प्रारंभ होता है।

दिसम्बर 1903 में बंगाल विभाजन के प्रस्ताव की जानकारी सबको मिली। खबर मिलते ही जबरदस्त विरोध की लहर उठी विरोध इतना जबरर्दस्त था कि इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पहले दो महिनों में ही केवल पूर्वी बंगाल में विभाजन के खिलाफ 500 बैठकें हुई विभाजन के खिलाफ 40-50 हजार परचे पूरे बंगाल में बाँटे गए। जिनमें विभाजन से होने वाले खतरे के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई थी । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, कृष्ण कुमार मित्र, पृथ्वीचन्द्र राय व अन्य नेताओं ने विभाजन प्रस्ताव के खिलाफ 'बंगाली, हितवादी, संजीवनी' जैसे अखबारों, पत्रिकाओं के माध्यम से आंदोलन छेड़ा। मार्च 1904 और जनवरी 1905 में कलकता टाउन हॉल में कई विशाल विरोधी सभाएँ हुई। इन सभाओं में दूर दराज से आए अनेक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भारत सरकार

के गृह सचिव के तमाम विरोध याचिकाएँ भेजी गई। केवल ढ़ाका डिवीजन से ही 69 ज्ञापन भेजे गए थे इनमें से कुछ याचिकाओं पर तो 70 से भी ज्यादा लोगों के दस्तखत थे। उस जमाने की राजनीतिक चेतना को देखते हुए यह संख्या बहुत अधिक थी। बड़े जमींदार भी जो अब तक अँग्रेजी हुकूमत की लल्लो - चप्पो करते थे, काँग्रेस के साथ हो गए। आवेदनबाजी, ज्ञापनबाजी, भाषणबाजी, जनसभाओं का आयोजन और प्रेस के माध्यम से प्रचार सब कुछ बड़ी तेजी से शुरु हो चुका था। मुख्य उदेश्य था विभाजन प्रस्ताव के खिलाफ भारत व ब्रिटेन में जनमत तैयार करना।

1905 का यह बंगाल विभाजन राजनीतिक दृष्टि से जागरुक जनता का सीधा अपमान था जिसने व्यापक आंदोलन को जन्म दिया। भारतीय जनता ने बंगाल विभाजन का बड़ा विरोध किया। इस विरोध ने राष्ट्रीय आंदोलन का रुप धारण कर लिया। भारतीय जनता का विचार था कि बंगाल का विभाजन बंगालवासियों की राष्ट्रीयता की भावना को दबाने के लिए किया गया है। वह इसे अँग्रेज का एक षड़यंत्र मानती थी। इस तरह भारतीय राष्ट्रवादियों को पता चल गया, वे एक स्वर से विरोध में उठ खड़े हुए और विभाजन - विरोध तथा स्वदेशी आंदोलन शुरु हो गया।

1905 के बंगाल विभाजन के निर्णय की घोषणा कर दी गयी। यह आंदोलनकारियों और विभाजन विरोधी जनता के मुँह पर तमाचा था। जनता और नेताओं ने महसूस किया कि ज्ञापनों और आवेदनों की लड़ाई में कुछ हासिल होनेवाला नहीं है। संघर्ष का कोई दूसरा तरीका अपनाना ही होगा। और हुआ भी ऐसा समूचे आंदोलन ने एक नयी दिशा पकड़ी। विभाजन के निर्णय कि घोषणा के तुरंत बाद दिनाजपुर, पाबना, फ़रीदपुर, तंगाइल, जैसोर, ढ़ाका, वीरभूमि, बारीसाल व अन्य कस्बों में विरोध सभाएँ आयोजित की गयी, जहाँ विदेशी माल के बहिष्कार कि प्रतीज्ञा कि गयी, कलकता में भी छात्रों ने अनेक विरोधी बैठकें की।

7 अगस्त 1905 को कलकत्ता के टाउन हाँल में एक ऐतिहासिक बैठक में स्वदेशी आंदोलन की विधिवत घोषणा कि गयी। विभाजन के विरोध अचानक फूटा एवं बिखरा यह आंदोलन अब संगठित होने लगा। इसे केन्द्रीय नेतृत्व और सही दिशा मिली। 7 अगस्त की बैठक में ऐतिहासिक 'बहिष्कार प्रस्ताव' पारित हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे अनेक नरमपंथी नेता भी देश के दौरे पर निकल गए और लोगों से मैनचेस्टर के कपड़ो एवं लिबरपुल के नमक के बहिष्कार की अपील करने लगे। पहली सितम्बर को सरकार ने घोषणा की कि विभाजन 16 अक्टूबर 1905 से प्रभावी होगा। इस घोषणा के बाद तो बहिष्कार आंदोलन ने और जोर पकड़ा। हर रोज विरोधी बैठक होने लगी। और विदेशी माल के बहिष्कार का नारा बुलंद होने लगाा। विरोधी बैठकों में भारी जन समूह इकट्ठा होता। बारीसाल की बैठक में तो 10 से 12 हजार लोग तक इकट्ठा हुए थे। विदेशी माल का बहिष्कार घर-घर पहुँच गया। इसका अंदाज इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सितम्बर 1904 से सितम्बर 1905 के बीच कलकत्ता के बाहर कई जिलों में अंग्रेजी कपड़ों की बिक्री से आय 5 से 15 गुना तक कम हो गई।

16 अक्टूबर 1905 का दिन पूरे बंगाल में शोक दिवस के रुप मे मनाया गया था। घरों में चूल्हा नहीं जला, लोगों ने उपवास रखा और कलकत्ता में हड़ताल घोषित की गई। जनता ने जुलूस निकाला, जत्थे के जत्थे लोगों ने गंगा में स्नान किया और फिर सड़कों पर 'वंदेमातरम्' गाते हुए प्रदर्शन करने लगे। यह 'वंदेमातरम्' समूचे आंदोलन की ओर से युद्ध की दुंदुभी था। लोगों ने एक दूसरे के हाथ पर राखियाँ बाँधी यह जताने के लिए कि बंगाल को बाँटकर अंग्रेज उनकी एकता में दरार नहीं डाल

सकते। बाद में दिन में आनंद मोहन बोस और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने दो विशाल सभाओं को संबोधित किया। एक जनसभा में 50 हजार और दूसरी में 75 हजार लोग इकट्ठे हुए थे। राष्ट्रीय आंदोलन के झंडे तले इसे पहले इतनी बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे नहीं हुए थे इन बैठकों के कुछ ही घंटों के भीतर आंदोलन के लिए 50 हजार रुपए इकट्ठे किए गए।

स्वदेशी आंदोलन व बहिष्कार आंदोलन का संदेश पूरे देश में फैल गया। लोकमान्य तिलक ने पुरे देश में, विशेषकर बंबई और पुणे में इस आंदोलन का प्रचार किया। अजीत सिंह और लाला लाजपत ताय ने पंजाब व उत्तर प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में इस आंदोलन को पहुँचाया। उत्तर प्रदेश में रावलपिंडी, काँगड़ा, मुल्तान और हरिद्वार में आंदोलन ने खूब जोर पकड़ा। सैयद हैदर राज ने दिल्ली में इस आंदोलन का नेतृत्व किया। चिदबंरम पिल्लै ने मद्रास प्रसीडेंसी में इसका नेतृत्व किया। जहाँ विपिन चन्द्र पाल ने अपने भाषणों से इस आंदोलन को और मजबूत किया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने भी स्वदेशी आंदोलन के लिए काम करना शुरु किया। 1905 में गोखले कि अध्यक्षता में हुए बनारस अधिवेशन ने बंगाल में स्वदेशी आंदोलन व बहिष्कार आंदोलन का समर्थन किया। तिलक, बिपिन चंद्रपाल, लाला लाजपत राय और अरविंद घोष जैसे गरमपंथी नेताओं के समर्थक इस आंदोलन को पुरे देश में फैलाना चाहते थे। वे महज स्वदेशी आंदोलन एवम् बहिष्कार आंदोलन से हीं संतुष्ट नहीं थे वरन् इसे एक राजनितिक जन संघर्ष का रूप देना चाहते थे। अब लक्ष्य था 'स्वराज्य' विभाजन को समाप्त करने कि माँग अब बहुत छोटा मुद्दा हो गया था ।

1905 के बाद बंगाल में स्वदेशी आंदोलन पर उग्रवादियों की पकड़ मजबूत हो गई जनता के सामने अनेक विचार, योजना और तरीके रखे। व्यापक जन-आंदोलन के जरिए राजनितिक स्वाधीनता हासिल करने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए 'बहिष्कार आंदोलन' को असहयोग आंदोलन और शांतिपूर्ण प्रतिरोध तक ले जाना था। केवल विदेशी कपड़ों का ही बहिष्कार नहीं बल्कि सरकारी स्कूलों, अदालतों, उपाधियों और सरकारी नौकरियों का बहिष्कार इसमें शामिल था। हड़ताल की भी बात की गयी। उदेश्य था कि प्रशासन एकदम पंगु हो जाए। भारतीय जानता के आर्थिक शोषण में अंग्रेज असमर्थ रहें।

इस आंदोलन में संघर्ष की जितनी भी धाराएँ फूटी उनमें सबसे अधिक सफलता मिली विदेशी माल के बहिष्कार आंदोलन को। यह आंदोलन काफी लोकप्रिय और सफल रहा। बंगाल एवं देश के दूर-दराज के हिस्सों में विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई और विदेशी कपड़ें बेचने वाले दूकानों पर धरने दिए गए। औरतों ने विदेशी चूड़ियाँ पहनना व विदेशी बरतन का इस्तेमाल बंद कर दिया। धोबियों ने विदेशी कपड़े धोने से इन्कार कर दिया। यहाँ तक कि महंतों ने विदेशी चीनी से बने प्रसाद को लेने से इन्कार कर दिया।

इस आंदोलन के चलते विशाल जन सभाओं और प्रदर्शनों की बाढ़ आ गयी। जनमत तैयार करने का यह सबसे सशक्त तरीका सिद्ध हुआ। बड़े-बड़े शहरों से लेकर जिलों कस्बों, तालुकों, गाँवों में जनसभाओं के आयोजन से जनता में राजनीतिक चेतना आयी स्वराज्य के लिए मन मचलने लगा ।

स्वदेशी आंदोलन ने जनजागरण के लिए संगठनों की खूब मदद ली। इन संगठनों ने आंदोलन के लिए जनमत तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन में सबसे महत्वपूर्ण 'स्वदेश बाधव समिति'। बारीसाल के एक अध्यापक अश्विनी कुमार दत्त के नेतृत्व में गठित इस समिति की 159 शाखाएँ पूरे जिले के दूर-दराज इलाकों में फैली थी।

स्वदेशी आंदोलन की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसनें 'आत्म निर्भर', 'आत्म शक्ति' का नारा दिया। आंदोलनकारी नेताओं का मानना था कि सरकार के खिलाफ संघर्ष चलाने के लिए जनता में स्वावलंबन की भवना भरना जरुरी है। स्वावलंबन व आत्मनिर्भरता का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान, आदर और आत्मविश्वास के साथ जुड़ा था।

गाँवों के आर्थिक व सामाजिक पुनरुत्थान के लिए गाँवों में रचनात्मक कार्य शुरू करने की जरुरत महसूस की गई, लोगों में यह चेतना भरने की कि अपनी प्रगति में वे खुद अपने आगे आएँ। रचनात्मक कार्यों में सामाजिक सुधार लागू करना तथा जाति प्रमुख, बाल-विवाह, दहेज, शराबखोरी जैसी सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ जिहाद छेड़ना शामिल था। आत्मनिर्भरता के लिए स्वदेशी अथवा राष्ट्रीय शिक्षा की भी जरुरत बड़ी सिद्धत के साथ महसूस की गयी।

टैगोर ने शांति निकेतन की तर्ज पर बंगाल नेशनल कॉलेज की स्थापना की। बहुत थोड़े समय में ही पूरे देश में अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हो गई। अगस्त 1906 में 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्' का गठन हुआ। इसमें उस समय के देश के सारे जाने-माने लोग शामिल थे। परिषद् का उदेश्य था राष्ट्रीय नियंत्रण के तहत जनता को इस तरह का साहित्यिक, वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा देना था जो राष्ट्रीय जीवन धारा से जुड़ी हो। शिक्षा का माध्यम देशी भाषा बनी, जो क्षेत्र विशेष में प्रचलित थी। उदेश्य था कि शिक्षा घर-घर में पहुँचें। तकनीकी शिक्षा के लिए 'बंगाल इन्स्टीच्यूट' की स्थापना की गई। चंदा इकट्ठा पर कोष बनाया गया, जिसे छात्रों को ऊँची शिक्षा के लिए जपान भेजा जा सके।

आत्मनिर्भरता के लिए स्वदेशी उद्योगों की जरुरत महसूस की गई लगभग इसी समय पूरे देश में तमाम स्वदेशी कल-कारखानें स्थापित होने लगें। कपड़ा मिलें, साबुन, माचिस के कारखानें, चर्म उद्योग, बैंक, बीमा कम्पनियाँ अस्तित्व में आई।

बहुआयामी कार्यक्रमों और गतिविधियों वाले इस आंदोलन ने पहली बार समाज के एक बहुत बड़े तबके को अपने दायरे में लिया। जानता का एक बहुत बड़ा हिस्सा सक्रिय राष्ट्रवादी राजनीति में भागीदार बना। राष्ट्रीय आंदोलन एवं राष्ट्रवाद का यह दायरा काफी फैला और इसमें कुछ जमींदार शहरी निम्न मध्यमवर्गीय लोग तथा छात्र शरीक हुए पहली बार औरतें घर से बाहर निकली प्रदर्शन में हिस्सा लेने लगी, धरने पर बैठने लगी। यह वह समय था जब पहली बार मजदूर वर्ग की आर्थिक कठिनाईयों को राजनीतिक स्तर पर उठाया गया था। उसे राजनीतिक संघर्ष से जोड़ा गया।

1908 के मध्य तक आते-आते स्वदेशी आंदोलन की उर्जा खपत हो गई, इसके अनेक कारण थे। पहली बात यह कि आंदोलन के खतरे को सरकार भाँप गई और उसने इसे निर्ममता पूर्वक दबाना शुरु किया। दमन चक्र शुरु हो गया सार्वजनिक सभाओं, प्रदर्शनों और प्रेस पर प्रतिबंध लगाए जाने लगे। दूसरा कारण था काँग्रेस पार्टी में आपसी मदभेद। 1907 के काँग्रेस विभाजन ने स्वदेशी आंदोलन को बहुत क्षति पहुँचाई। तीसरा कारण था कि स्वदेशी आंदोलन के पास कोई प्रभावी संगठन नहीं। था। आंदोलन के तमाम गाँधीवादी तरीके जैसे अहिंसा, असहयोग, जेलभरों आंदोलन, सामाजिक सुधार, गाँवों में रचनात्मक कार्य इत्यादि अपनाए लेकिन संगठन के अभाव में आंदोलन इन तरीकों को कोई अनुशासित केन्द्रीय दिशा देने में असफल रहा।

यह आलेख इतना तो अवश्य स्पष्ट करता है कि अंग्रेजों ने जिस मकसद से बंगाल विभाजन का प्रस्ताव रखा एवं विभाजन किया उसके खिलाफ अपनी तमाम कमजोरियों के बावजूद अंग्रेजों के इस

मकसद को कि भारतीय राष्ट्रवाद को कमजोर किया जा सकता है, के विपरीत काफी हद तक राष्ट्रवादी भावना के तीव्र विकास का अनुगामी बना। यह कहना गलत होगा कि विभाजन के उपरांत स्वदेशी आंदोलन असफल रहा। आंदोलन ने समाज के उस बड़े तबके में राष्ट्रीयता की चेतना का संचार किया जो उससे पहले राष्ट्रीयता के बारे में अनभिज्ञ थे। इस आंदोलन ने औपनिवेशिक विचार धारा तथा फिरंगी हुकूमत को काफी हद तक क्षति पहुँचाई और जीवन के हर पहलू को जितना प्रभावित किया उसकी इतिहास में मिसाल मिलना मुश्किल है।

यही संघर्ष भावी राष्ट्रीय आंदोलन का नीव बना। यह आंदोलन उपनिवेशवाद के खिलाफ पहला सशक्त राष्ट्रीय आंदोलन था जो भारतीय जनमानस में तीव्र राष्ट्रीय चेतना का संचार कर भावी संघर्ष का बीज बोकर ही खत्म हुआ।

संदर्भ स्त्रोतः

1. बी0 एल0 ग्रोवर, अलका मेहता यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन, एस0 चन्द्र एंड कंपनी लि0 राम नगर नई दिल्ली 2003।
2. सुमित सरकार, आधुनिक भारत (1885-1947) राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली इलाहाबाद पटना, 2007।
3. बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय 2006।
4. एस0 एल0 सिकरी, राइज एंड फुलफीलमेंट ऑफ इंडियन नेशनल मुवमेंट, एजुकेशन पब्लिशर एंड प्रिन्टर्स।
5. बिपिन चन्द्र, आधुनिक भारत, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण प्ररिषद्, मार्च 2005।
6. रामलखन शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय 2002।
7. डा0ए0 के0 मित्तल, आधुनिक भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
8. सुमित सरकार, स्वदेशी मुवमेंट इन बंगाल, 1903-1908, नई दिल्ली 1973।
9. अमलेश त्रिपाठी, द एक्सट्रीमिस्ट चैलेंज, कलकत्ता 1967।
10. एस0 गोपाल, ब्रिटीश पौलिशी इन इंडिया, 1858-1905 कैम्ब्रिज 1965।
11. रजत राय कृत, सोशल कांफि्लक्ट एंड पॉलिटिकल अनरेस्ट इन बंगाल, 1875-1917, कैम्ब्रिज वि0 विद्यालय का अप्रकाशित शोध प्रबंध।
12. भूपेन दत्त, भारतेर द्वितीय स्वाधीनता संग्राम, कलकत्ता 1906-1949।
13. एच0 और यू0 मुखर्जी , श्री अरबिदो एंड दि न्यू थॉट इन इंडियन पालिटिक्स कलकत्ता 1964 ।
14. जे0 सी0 पालिटिकल ट्रबुल इन इंडिया 1907-1917 कलकत्ता 1917।
15. रूीउद्दीन अहमद, द बंगाल मुस्लिम 1871-1906।
16. द सोसिएट प्रेस ऑफ इंडिया।
17. द रायटर।
18. द ट्रिब्यून।
19. द इंडियन रिब्यू।
20. द बंगाली।
21. द स्टेट्स मैन

❄❄❄

इतिहास

एम. एन. रायः चिन्तन एवं व्यवहार का विलक्षण व्यक्तित्व

राकेश कुमार

शोध प्रज्ञ, बी. आर. ए. बिहार वि., मुजफ्फरपुर

मार्च-अप्रैल 1887 में एक शिक्षक दीनबन्धु भट्टाचार्य के घर में नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य (एम. एन. राय का मूल नाम) का जन्म 24 परगना जिले के अरबलिया गाँव में हुआ था। दीनबन्धु भट्टाचार्य सुधारवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। रूढ़ियों से जकड़े समाज में पिता के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नरेन की जिन्दगी पर पड़ा। लेकिन बंगाल के क्रांतिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में वे अपने किशोर अवस्था में ही आ गये, जो पूरी जिन्दगी उनके साथ जुड़ा रहा। उन्हीं शुरूआती दौर में उनके कुछ मूल भावनात्मक एवं बौद्धिक सरोकारों ने आकार ग्रहण किया। नरेन एक प्रतिबद्ध क्रांतिकारी हो गये। उनकी शिक्षा बाधित हुई। उनकी पारिवारिक कठिनाइयों के चलते भी ऐसा हुआ होगा। नये स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय, जिसके साथ श्री अरविन्दो जुड़े हुए थे, से नरेन ने इंट्रेस परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। उसके बाद उन्होंने बंगाल तकनीकी संस्थान में दाखिला लिया लेकिन वर्ष 1907 में एक राजनैतिक डकैती में शामिल होने के चलते, संस्थान का त्याग कर दिया।

राय की शुरूआती गतिविधियों एवं साहसिक कार्रवाइयों तथा बाद में उनके राजनैतिक एवं बौद्धिक विकास को समझने के लिये, राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन या "अतिवादी राष्ट्रवाद" की विचारधारा को समझना आवश्यक है।

प्रो. मजुमदार के शब्दों में बंगाल का जुझारू राष्ट्रवाद दो स्तम्भों पर टिका हुआ है। वेदान्त एवं गीता के दार्शनिक शिक्षा के आधार पर स्वामी विवेकानन्द का देशभक्ति का आह्वान तथा बंकिम चन्द्र द्वारा मातृभूमि के प्रति धार्मिक भक्ति।[1] लेकिन नये राष्ट्रवाद के सबसे बड़े पुरोधा श्री अरविन्दो ने इस जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को भारत में एक गहरी एवं विस्तारित राजनैतिक अनुकूलता प्रदान की। भारतीय अतिभूतवादी भाषा में लिपटे उनके राष्ट्रीय दर्शन में हेगेल के दर्शन की मजबूत छाप थी।[2]

जिस राष्ट्रवाद की उन्होंने शिक्षा दी वह सर्वोत्तम धर्म था। चूंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता ईश्वर प्रदत्त है इसलिये राष्ट्रीय संघर्ष एक पवित्र (धार्मिक) उद्देश्य है जिसमें सभी तरह के संकीर्ण स्वार्थों, संबंधों, यहाँ तक कि सामान्य नैतिक विचारों को पीछे छोड़ना पड़ता है। वे स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये तथा उसे प्राप्त करने के तरीके के बारे में कोई समझौता करने के लिये तैयार नहीं थे। सुधारवादी कांग्रेसजनों के राजनैतिक कार्यकलापों के ठीक उलट उनकी राजनीति के महत्व एवं निहितार्थों को समझा जा सकता है। यह बात उस समय सामने आई जब 1907 के सूरत कांग्रेस

(सम्मेलन) में सुधारवादी कांग्रेसजनों को इन अतिवादियों के गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा, उस समय तक कांग्रेस पर इन्हीं सुधारवादी या उदारवादियों का वर्चस्व था। ये सुधारवादी प्रशासन में भारतीयों की पूर्ण भागीदारी, सही कर नीतियों के जरिये भारतीय उद्योगों की सुरक्षा आदि माँगे रखते थे। वस्तुत: ब्रिटिश शासित राज्य, विकास के रास्ते के बारे में एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिये ये उदारवादी संवैधानिकता का सहारा ले रहे थे। वे बार-बार ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता की दुहाई देते थे तथा कभी-कभी उनकी आवाज गिड़गिड़ाहट में बदल जाती थी। बौद्धिक रूप से अतिवादी विचारधारा के सबसे तेजस्वी प्रणेता के रूप में श्री अरविन्दो ने इन उदारवादी कांग्रेसी नेताओं की कटुतम शब्दों में निन्दा की। राजनैतिक स्वतंत्रता किसी भी देश के लिये हमारी सांस के समान है।[3]

राजनैतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य हासिल किये बगैर, सामाजिक सुधार, शिक्षा में सुधार, उद्योगों का विस्तार एवं राष्ट्रीय जाति के नैतिक मूल्यों के उत्थान के प्रयास, मूर्खता की हद एवं बेकार की बात है। उन्होंने जोर देकर कहा कि एक पराधीन राष्ट्र स्वतंत्रता हासिल करने के लिए धीरे-धीरे अपने को तैयार नहीं करता है, यह स्वतंत्रता हासिल कर प्रगति की ओर बढ़ता है।[4] उन्होंने भिक्षा माँगने के तरीके तथा प्रार्थना एवं आवेदन करने एवं प्रतिरोध करने की नीतियों की खिल्ली उड़ाई। राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये विस्तारित सामाजिक आधार की कल्पना, उनके राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। उन्होंने सुधारवादियों के मध्यवर्ग के प्रति एक खास तरह की पक्षधरता, उनकी आम जनता के प्रति विश्वास का अभाव, उद्योग, व्यापार, पेशा, प्रशासन में लगे मध्य वर्ग के प्रति मोहग्रस्तता की तीखी आलोचना की।[5] इसके विपरीत उन्होंने बहुत ही प्रगतिशील लहजे में कहा कि इस परिस्थिति से लड़ने की कुंजी सर्वहारा है। जो कोई भी सर्वहारा की स्थिति को समझने की कोशिश करता है और उसकी ताकत को अपने पक्ष में करता है, वही परिस्थिति का मालिक होगा। हमारा पहला एवं सबसे पवित्र उद्देश्य सर्वहारा को ऊपर उठाना और उसे ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करना है। एक धार्मिक राष्ट्रवादी जो समाजवादी नहीं है, उसके मुँह से सर्वहारा की बात सुनना, एक तरह से असंगत लगता है। लेकिन बंगाल के जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को अरविन्दो ने जो नयी ऊर्जा एवं उसे नयी स्थिति प्रदान की, उसमें इन विचारों का एक बड़ा प्रभाव होगा। कम से कम उच्च मध्यवर्ग एवं उनकी राजनीति के बारे में वितृष्णा का भाव तो होगा ही।[6]

19वीं सदी के अन्तिम समय में बंगाल के उग्र युवाओं ने स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा प्राप्त करते हुए लाठी का प्रयोग करने तथा शारीरिक व्यायाम के लिये व्यायाम शालाएँ स्थापित की। इन व्यायाम शालाओं ने 1901 में प्रमथ मित्रा के नेतृत्व में सर्वविदित क्रांतिकारी संस्था अनुशीलन समिति के गठन का आधार प्रदान किया।[7] करीब-करीब उसी समय श्री अरविन्दो ने इसी तरह की संस्था के गठन पर विचार किया। वस्तुत: उन्होंने बड़ौदा से जतीन मुखर्जी एवं अपने छोटे भाई बरिन्द्र घोष को इस उद्देश्य के लिए बंगाल भेजा। लेकिन जल्द ही उनका संगठन अनुशीलन समिति के साथ समाहित हो गया जो बंगाल और भारत के अन्य हिस्सों में गुप्त गतिविधियों का प्रमुख संगठन हो गया। बंकिम चन्द्र के आनंद मठ का संगठन पर प्रभाव तथा बंगाल में अनुशीलन समिति का अनुशासन तथा 1904 में महाराष्ट्र में उसी तरह का संगठन नवभारत बहुत मजबूती से उभरा। आनंद मठ मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिये संन्यासियों के समूह की एक संघर्षपूर्ण कहानी है। आनंद मठ से लिया गया राष्ट्रीय

गीत ''वन्देमातरम'' बंकिम चन्द्र की भावना का उद्रेक और भारत माता की पूजा में गाया गया गीत है।[8] संगठन में नये आगंतुकों के लिये जो शपथ दिलाई जाती थी उसमें भारत माता की स्वतंत्रता के लिये पूर्ण प्रतिबद्धता सिखाई जाती थी तथा भारत माता का नाम बहुत आदर एवं भक्तिभाव से ली जाती थी। संगठन के बारे में रायबाबू याद करते हैं कि आनंद मठ हमारी प्रेरणा का समान श्रोत था। उस उपन्यास से हमें क्रांतिकारी आदर्श का दर्शन होता था। वस्तुत: हमलोगों ने उस नाटक के मुख्य पात्रों की भूमिका का बंटवारा अपने बीच कर लिया था। वे संन्यासी थे। हमलोगों ने उनके रास्तों पर चलने की प्रतिज्ञा की थी।[9]

बंगाल के बंटवारे से (1905) पूरे देश में, खासकर बंगाल में क्रोध की लहर दौड़ गई। जुझारू राष्ट्रीयतावाद को और आगे बढ़ने का मौका मिला। आक्रोश से भरे बंगाल के क्रांतिकारी आगे की योजना बनाने में जुट गये। जल्द ही उनके बीच मतभेद उभर गये। उनके बीच जो अतिवादी थे, वे ब्रिटिश शासकों के खिलाफ आंतकवादी कार्रवाई के जरिये उनके हौसले को तोड़ना चाहते थे तथा प्रशासन को प्रभावहीन बनाना चाहते थे। दूसरे लोग आतंकवाद को तिलांजलि देकर अंतिम तौर पर सत्ता पर कब्जा करने के लिये संगठित सैनिक तैयारी करना चाहते थे। इस समूह के नेता अनुभवी प्रमथ मित्रा थे। उनकी मृत्यु के बाद नेतृत्व का भार जतीन मुखर्जी के कंधे पर आ गया। नरेन भट्टाचार्य उनके सिपहसालाकारों में से एक हो गये।[10]

हालांकि नरेन की साहसिक कार्रवाइयों का विस्तार प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने के बाद हुआ लेकिन उस समय तक वे एक अति साहसी क्रांतिकारी बन चुके थे। वे 1907 में 'चिंगरीपोटा'' डकैती मामले में गिरफ्तार हुए लेकिन पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में मुक्त कर दिये गये। वे फिर 1910 में हावड़ा षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और एक अभियोगी कैदी के रूप में 20 महीनों तक जेल में बंद रहे। जेल से छूटने के बाद, वे थोड़े दिनों के लिये सन्यासी बन गये, लेकिन जल्द ही वे राजनीति में लौट आये।

युद्ध के छिड़ने के बाद, जर्मनी की आर्थिक मदद से बंगाल के क्रांतिकारियों ने एक बड़े हमले की योजना बनाई। उन्होंने आनेवाली क्रान्ति के लिये एक 'जेनरल स्टाफ' का गठन किया तथा जतीन मुखर्जी को उसका प्रधान सेनापति बनाया।[11] कोष की वसूली के लिये उनलोगों की कई डकैतियों (दोनों डकैतियाँ फरवरी 1915 में हुई) में नरेन शामिल थे। लेकिन उनकी योजना का केन्द्र बिन्दु गुप्त रूप से जर्मनी से बड़े पैमाने पर अस्त्र प्राप्त करना था। जर्मनी और फ्रांस्सिको में कार्यरत भारतीय क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित किये गये। पूर्व निर्धारित योजना के मुताबिक एस. एस. मेमरिक को अस्त्र लादकर भारत आना था। अस्त्रों को पहुँचाने की व्यवस्था के लिये अप्रैल 1915 में नरेन को बटाविया भेजा गया। उन्होंने अपना नाम सी. मार्टिन रख लिया। वे बटाविया में जर्मनी के वाणिज्य दूत थियोडोर टेल्फी से मिले। अस्त्र से भरे जहाज को उड़ीसा तट पर भेजने की योजना बनाकर, वे वापस चले आये। एस. एस. मेमरिक, अमरीकी एवं ब्रिटिश अधिकारियों के चपेट में पड़ गये और अपने नियत स्थान पर नहीं पहुँच सके। नरेन ने फिर अगस्त में दूसरी बार जावा की यात्रा की। लेकिन इस बार की असफलता के बाद वे भारत नहीं लौटे और अपना भाग्य आजमाने जापान चले गये। रास बिहारी बोस से निराशा के बाद, चूँकि उनसे नरेन की ज्यादा अपेक्षा थी, उन्होंने सनयात सेन से भेंट की जिन्होंने जापान में आश्रय लिया था। सनयात सेन ने उनके सामने प्रस्ताव रखा कि अगर वे जर्मनी

के राजदूत से 50 लाख डॉलर प्राप्त करने में सफल हों तो वे उस रूपये का उपयोग यू आन शी काई को परास्त करने में करेंगे और तीसरी क्रान्ति को सफल बनायेंगे।[12] इस क्रान्ति को पूरा होने के बाद, जो बेकार अस्त्र-शस्त्र होंगे वे उत्तर सीमांत की ओर से भारत भेज दिय जायेंगे। इस महायोजना ने मेरी साहसिक ऊर्जा को पंख लगा दिया। बहुतेरे साहसिक कारनामों के बाद उन्होंने चीन में जर्मनी के राजदूत एडमिरल वॉन हिन्ज से मुलाकात की। राजदूत ने उन्हें सलाह दिया कि इतनी बड़ी रकम आवंटित करने का काम जर्मन शाही सेनापति ही कर सकते हैं, अतः आप जर्मनी चले जाँय।[13]

चीन और जापान में सम्मानजनक कार्य नहीं करने की स्थिति में उन्होंने बर्लिन जाने से पहले, अमेरिका में रहने वाले क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित करने का निर्णय लिया। बहुतेरे रोमांचक कारनामों के बाद नरेन 1916 में अन्ततः सन फ्रांसिसको पहुँच गये। लेकिन पुलिस से होनेवाली मुश्किलों को भांपते हुए वे स्टेन फोर्ड विश्वविद्यालय वाले शहर पालो आल्टो चले गये। वहाँ वे धन-गोपाल मुखर्जी से मिले जो जादु गोपाल मुखर्जी के छोटे भाई थे। जादु गोपाल मुखर्जी, नरेन के भारत में क्रांतिकारी सहयोगी थे। धन गोपाल मुखर्जी के सुझाव पर उन्होंने अपना नाम एम. एन. राय रख लिया। उसी विश्वविद्यालय परिसर में उन्हें एक स्नातक महिला एवलिन से मुलाकात हुई। उनलोगों ने आपस में विवाह करने का निर्णय लिया और वे वहाँ से न्यूयार्क रवाना हो गये, जहाँ उन्होंने लाला लाजपत राय के साथ दोस्ती गांठी। लाजपत राय उन दोनों के प्रति स्नेहशील थे और राय के बारे में उनकी सोच सकारात्मक थी। यही पर नरेन मार्क्सवाद की ओर मुड़े, लेकिन उनके बौद्धिक विकास का वाजिब श्रेय एवलिन को दिया जाना चाहिये। न्यूयार्क में लाजपत राय और राय आमतौर पर प्रगतिशील लोगों, समाजवादियों, अराजकतावादियों संघवादियों के साथ वाद-विवाद में मार्क्सवादी भौतिकवाद का विरोध करते थे।[14] इस वाद विवाद में वे आध्यात्मिक ज्ञान का सहारा लेते थे। वाद-विवाद में प्रभावी ढंग से हिस्सा लेने के लिये राय ने मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन किया। लेकिन इस संबंध में याद करते हुए वो कहते हैं कि इस अध्ययन ने उनके उद्देश्य को पराजित करने की स्थिति पैदा कर दी। एक दिन जब लाजपत राय साम्राज्यवादी शोषण के चलते भारत की गरीबी की हृदयविदारक तस्वीर पेश कर रहे थे, एक क्रांतिकारी ने उनसे प्रश्न किया कि भारत की स्वाधीनता के बाद भारतीय कैसे देश से गरीबी खत्म करने का काम करेंगे? लाजपत राय द्वारा इस संबंध में दिये गये असंतोषजनक उत्तर के बाद फिर एक प्रश्न पूछा गया कि भारतीय जनता को इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि उनका शोषण विदेशी साम्राज्यवादियों के बदले देशी पूँजीपतियों द्वारा हो रहा है?[15]

हालांकि लाजपत राय क्रोधित हो गये लेकिन इस प्रश्न ने राय के विचार में पूर्ण बदलाव ला दिया। राय ने इस संबंध में याद करते हुए कहा है, कि मैं इस प्रश्न के सामने अन्दर से बेचैनी महसूस कर रहा था, हमारे मामले में कुछ बातें गलत थीं। अचानक मेरे मस्तिष्क में एक प्रकाश कौंध गया और यह एक नये ढंग का प्रकाश था। न्यूयार्क सार्वजनिक पुस्तकालय में उन्होंने कार्ल मार्क्स की कृतियों का गहराई से अध्ययन किया और उसमें उन्होंने नया अर्थ ढूढ़ा। वे आगे कहते हैं, कि उसके बाद मैंने भौतिकवादी दर्शन को छोड़कर, समाजवाद ग्रहण कर लिया। वह अन्तिम प्रयास था, जिसकी रक्षा मैंने लम्बे समय तक की। वर्ष 1917 के शुरूआती समय में वे जर्मन-हिन्दू षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और न्यायालय के सामने प्रस्तुत किये गये। न्यायालय ने उन्हें वहाँ से भागने के

विरुद्ध चेतावनी दी। लेकिन कानून के रक्षकों को झांसा देने में माहिर राय भागकर मैक्सिको चले गये।[16]

मैक्सिको न सिर्फ सुरक्षित और रहने लायक ही जगह था, बल्कि उसने इनके ऊपर कल्पना से परे सम्मान, अवसर एवं सहुलियतें न्योछावर कर दी। एक अजीब तरह के षड्यंत्रकारी घटना क्रम के दौरान राय को जर्मनी के श्रोत से तथा मैक्सिको सरकार से अप्रत्याशित आर्थिक मदद मिल गई। वे ऊँची राजनैतिक, सामाजिक और खासकर समाजवादी खेमे में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने लगे जिससे सभी मिलना चाहते हो। यह एक ऐसा अनुभव था जिससे मुझे भाग्य पर भरोसा होने लगता लेकिन चूंकि मैं जन्म से ही शंकालू था, इसलिये मैं भाग्यवादी होने से बच गया।[17]

जब नरेन मैक्सिको में थे उसी समय बोल्शेविक क्रान्ति हुई। मैक्सिको के तमाम वामपंथी समाजवादियों पर इसका ऊर्जामय प्रभाव पड़ा। राय ने इस प्रभाव का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है। मैं इस ऊर्जामय प्रभाव के वशीभूत हो गया। यह मेरे राजनैतिक विकास का नविनीकरण था। यह एक कट्टर राष्ट्रवादी का साम्यवाद की ओर छलांग थी। इस बदलाव का आंतरिक मनोविज्ञान बहुत रोचक है।

राय द्वारा बाद में दी गई बातों की जानकारी नीचे दी जा रही है। (हालांकि ये जानकारियाँ तार्किकता के तत्व से एकदम मुक्त नहीं हो सकती है) जिससे उनके बौद्धिक विकास का संभावित सूत्र प्राप्त होता है। राय कहते हैं कि ''सबसे क्रान्तिकारी विश्वास के प्रतिनिष्ठा व्यक्त करना एक भावनात्मक संतुष्टि थी। सांस्कृतिक तौर पर मैं अभी भी राष्ट्रवादी था। और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक ऐसा दुराग्रह है जो बहुत देर तक जकड़े रहता है। अपने साम्राज्यवाद विरोधी वैचारिक तेवर के चलते समाजवाद, मुझे एक सही विचारधारा लग रहा था। इसके आदर्शवादी एवं मानवीय पहलू उनके लिये उतने नये नहीं थे, जिन्होंने आनन्दमठ से क्रांतिकारी प्रेरणा ग्रहण की थी।

राष्ट्रीय क्रांति का पुराना परिपेक्ष्य अब समाजवादी परिपेक्ष्य के रूप में सामने आ चुका था। इसके साथ ही, जहाँ तक पुराने कामरेडों को सहायता देने का सवाल है, यह उनका कर्तव्य है। जर्मनी का दृष्टिकोण उत्साहजनक था। वस्तुतः यूरोप में अपनी हार के बाद उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षी रणनीति को लागू करने के लिये व्याकुलता के साथ भारत और अन्य क्षेत्रों का उपयोग करने के लिये उनकी ओर हाथ बढ़ाया। जर्मनी का शाही वाणिज्यिक अधिकारी, मैक्सिको आया और राय के साथ चीनी अस्त्र खरीदने की पुरानी योजना पर चर्चा की। राय को सभी संभव सुविधाएँ प्रदान करने का आश्वासन दिया गया तथा मैक्सिको के राष्ट्रपति ''कोरेन्जा'' जिन्हें सारी बातों की जानकारी थी, उन्होंने इस योजना में राय के कामयाबी की कामना करते हुए उनके यात्रा का पूरा इंतजाम किया। लेकिन मैक्सिको के जमीन एवं समुद्री मार्ग के द्वारा मैक्सिको तट के इर्द-गिर्द थकावट पूर्ण यात्रा के बाद राय ने इस योजना पर कार्य करना बंद कर दिया और मैक्सिको लौट आए। उन्होंने राष्ट्रीय राजनीति के पुराने रास्ते को पुरी तरह तिलांजली दे दी और अपने नये आदर्श समाजवाद को साकार करने में पूरी निष्ठा से कूद पड़े ।[18]

सरकारी संरक्षण एवं पैसे की अधिकता से राय एक आरामदायक जिन्दगी, यहाँ तक कि ऐशपूर्ण जिन्दगी जी सकते थे। उनके जो पुराने सात्विक संकोच थे वे धीरे-धीरे समाप्त हो गये और उन्होंने

जीवन से जुड़ी अच्छी चीजों की प्रशंसा शुरू कर दी। वे अच्छे भोजन, पेय पदार्थों, नृत्य, गीत आदि का आनंद लेने लगे। यह उनकी जीवन दृष्टि में एक मौलिक परिवर्तन का द्योतक था। हालांकि बहुत बाद में उन्होंने भौतिकवाद को जिन्दगी से जुड़ा दर्शन बतलाया, लेकिन वे खुद भौतिकवादी हो गये थे क्योंकि वे जीवन के आनंद में शामिल होना कोई बुराई नहीं समझते थे। और उन्होंने सात्विकता को अवैज्ञानिक, अमानवीय एवं ढोंगीपन के रूप में देखना शुरू किया। यह उनके साथ एक प्रतिबद्ध विचारधारा के रूप में जुड़ा रहा जो उनके मानवतावादी दर्शन का आधार बना।[19]

लेकिन सबसे उनके जीवन का नाटकीय पहलू, उनका देश के सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि पाना है। एक अनजाने विदेशी के साथ राष्ट्रपति एवं अन्य मंत्रियों द्वारा देश की ऊँची राजनीति के बारे में सलाह-मशविरा और उनका एक राजनेता के रूप में सम्मान तथा विशेष भोज में स्वागत सत्कार तथा देश के बौद्धिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में बिना माँगे एवं अप्रत्याशित ढंग से नेतृत्वकारी भूमिका प्रदान करना, निश्चय ही विस्मयकारी है । ऐसे अवसरों के मर्मस्पर्शी अनुभवों को राय ने अपनी प्रतिक्रिया में इस तरह व्यक्त किया है – ऐसे तमाम घटनाक्रम ''हॉस्य ओपेरा'' से लिये गये दृश्यों की तरह होता था। यह एक जासूसी कहानी की तरह लगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि भाग्य मुझे फिर से मेरी निष्ठा को हासिल करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है।

एक बुद्धिजीवी के रूप में राय ने एक अच्छी शुरूआत की। उन्होंने स्पेनिश भाषा सीखी और वामपंथी स्पेनिश पत्रिकाओं में लिखना शुरू किया। भारत पर स्पेनिश में उनकी किताब ''ला इंडिया : सू पसाडे, सूप्रेजेन्ट, सूपोरमेनीर 1918 में प्रकाशित हुई। इस छोटी किताब में मोनरो सिद्धान्त पर लिखा–"दी वे टू डुरेबुल पीस" जब अमरीका में राय थे तब लिखा गया था, जोड़ दिया गया। इस किताब को प्रशंसा मिली। विश्वविद्यालय के रेक्टर मेस्ट्रो कैसास के आमंत्रण पर उन्होंने एक भाषण दिया। यह एक ऐसे आदमी के लिये जिसे किसी औपचारिक शिक्षा का लाभ नहीं मिला है, अत्यन्त ही आनन्ददायक बात थी। मैक्सिको के समाजवादी आन्दोलन में राय का चमत्कारिक महत्व था। इसमें कोई शंका नहीं कि मैक्सिको की सरकार और वहाँ का समाजवादी आन्दोलन जिस तरह राय के व्यक्तित्व का इस्तेमाल करना चाहते थे उससे राय की इतनी ऊँची हैसियत हो गई थी। लेकिन यह राय की कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी कि वे इस परिस्थिति के अनुरूप एक बड़ी हस्ती बन गये थे। एक बौद्धिक एवं राजनैतिक नेता के रूप में अपने को सम्पन्न साबित करने में वे आश्चर्यजनक रूप से कामयाब रहे। दिसम्बर 1918 में मैक्सिको की समाजवादी पार्टी के महासचिव चुने जाने के बाद उन्होंने उस पार्टी को वर्ष 1919 में कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह रूस के बाहर पहली कम्युनिस्ट पार्टी थी।[20]

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के प्रतिनिधि के तौर मैक्सिको आये बोरोदिन ने इस बात के लिये प्रमुख रूप से पहल किया। मैक्सिको आने के बाद बोरोदिन ने राय से गहरी मित्रता गाँठ ली। हालांकि राय ने बोरोदिन को आर्थिक संकट एवं अन्य संकटों से मुक्त होने में सहायता की लेकिन बोरोदिन की मित्रता से राय की जिन्दगी में एक बड़ा बदलाव आ गया। राय के अनुसार बोरोदिन ने उन्हें हेगेल के द्वन्द्ववाद की गुन्थियों से साक्षात्कार कराया, जो मार्क्सवाद की कुंजी है। भारतीय ज्ञान के संबध

में जो लम्बे समय से चला आ रहा विश्वास था, वह धूमिल पड़ता गया और उनसे मैंने यूरोप की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। बोरोदिन ने उन्हें मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में ''कम्युनिस्ट इंटरनेशनल'' के दूसरे सम्मेलन में शामिल होने के लिये राजी किया। उन्होंने राय द्वारा उनके पुनर्जन्म की जगह को छोड़े जाने में हो रही हिचकिचाहट को दूर किया और कहा कि अपने देश को मत भूलों, मास्को तो रास्ते में है। राय ने टिप्पणी की कि इस बात से उनके सामने एक नया दृश्य कौंध गया, यह मेरे जीवन का नया अध्याय था।

मास्को की उनकी यात्रा उत्तेजनापूर्ण अनुभवों के बगैर पूरी नहीं हुई। इस बार उन्होंने वी. ग्रेसिया के नाम से यात्रा की और मैक्सिको की सरकार ने उन्हें बहुत सारी सहूलियतें प्रदान की। रास्ते में वे बर्लिन में रूक गये (दिसम्बर 1919 से अप्रैल 1920)। यह उनकी अंतिम यात्रा नहीं थी। बर्लिन में ठहरना, उनके लिये बहुत उपयोगी साबित हुआ। मैंने बहुत कुछ सीखा और बहुत से नये मित्र और परिचित बनाये।[21]

जिनको मित्र बनाया और नये लोगों से परिचित हुए उनमें जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन के पुराने कद्दावर नेता, बर्न्सटीन, काउत्सकी, हलफरडिंग और नये कम्युनिस्ट नेता थैलिमर, ब्रान्डलर, फुक्स, एनेस्ट मेयर, इसके साथ-साथ उन्हें विश्व के विभिन्न हिस्सों के क्रांतिकारियों के साथ क्रांति की समस्या पर बात करने का अवसर मिला। यह जर्मनी में कम्युनिस्ट क्रान्ति का घटनाओं से भरा दौर था। यह गौरवशाली संघर्षो एवं दर्दनाक पराजय का दौर था। बर्लिन में रूकने से उनकी सैद्धांतिक समझ ज्यादा समृद्ध तथा व्यवहारिक अर्न्तदृष्टि गहरा हुआ होगा। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के बहसों में जो बाद में उन्होंने हिस्सा लिया, वह ठोस आकार ग्रहण कर रहा था। जर्मनी में अनेकों महीनों तक रहने से मुझे यूरोप के हालात का पता चला और उनके तात्कालिक परिप्रेक्ष्य से मेरी यह समझ बनी कि महानगरीय देशों के सर्वहारा सत्ता हासिल करने के साहसिक प्रयास में तबतक सफल नहीं होंगे जबतक कि औपनिवेशिक देशों की जनता विद्रोह के जरिये साम्राज्यवाद को कमजोर न कर दे।

मास्को पहुँचने के बाद उनकी मुलाकात रूस की कम्युनिस्ट पार्टी एवं कम्युनिस्ट इंटननेशनल के शीर्ष नेतृत्वकारी साथियों से हुई। उन दिनों के उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया जा सकता है। बोल्शेविकवाद की माँ बालबानोवा के साथ एक बैठक के दौरान, राय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के दूसरे सम्मेलनों के लिये लेनिन द्वारा राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न पर तैयार सैद्धान्तिक दस्तावेज दिया गया। ऊपर के पृष्ठ के बाये कोने पर लेनिन ने लिखा था, राय के आने पर उनकी आलोचना एवं सुझाव लिये जॉय। राय ने इसका वर्णन करते हुए कहा कि सचमुच में मेरे लिये यह सातवें आसमान पर उड़ने वाली बात थी। राय को कुछ देर के बाद लेनिन से मिलने के लिये कहा गया। उत्तेजना के मारे वे उस दस्तावेज को लेनिन से मिलने से पहले सावधानी पूर्वक नहीं पढ़ सके। लेनिन के साथ राय की पहली मुलाकात अत्यन्त संक्षिप्त थी, लेकिन यह उनकी जिन्दगी के लिये सबसे स्मरणीय घटना थी। राय ने कामिन्टर्न के दूसरे सम्मेलन में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी देशों में कम्युनिस्ट पार्टी की रणनीति एवं कार्यनीति के सवाल पर लेनिन के साथ बहस किया। राय का लेनिन के साथ प्रसिद्ध विवाद, किसी नौसिखुए महत्वाकांक्षी व्यक्ति का नाटकीय ढंग

से हठधर्मिता दिखलाना नहीं था। उनका लेनिन के साथ निजी तौर पर बहस हुआ था। उसके बाद उन्होंने लेनिन के ही कहने पर अपनी ओर से एक पूरक दस्तावेज प्रस्तुत किया। लेनिन का विचार था कि औपनिवेशिक एवं अर्द्ध औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद का आधार देशी सामन्तवाद के बीच हैं और इसके आलोक में चूँकि पूँजीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन प्रगतिशील प्रकृति का है। अतः इस संदर्भ में इसे सभी कम्युनिस्टों का समर्थन मिलना चाहिये। भारतीय पृष्ठभूमि के आधार पर बोलते हुए राय ने विचार व्यक्त किया कि पूँजीपतियों की शक्ति को कम करके आंका जा रहा है और उसकी प्रकृति को समझने में भूल की गई है। हमलोगों ने देखा है कि किस तरह बंगाल के जुझारू राष्ट्रवादी कांग्रेसी उदारवादियों के आवेदन देने, प्रार्थना करने और प्रतिरोध करने की बात को नापसन्द करते थे। श्री अरविन्दो ने सर्वहारा के हितों और उसकी संभावनाओं के बारे में खुलकर बातें रखी थीं। एक मार्क्सवादी होने के नाते, लेनिन के साम्राज्यवाद संबंधी सिद्धांतों के आधार पर वे भारतीय क्रांति को एक भिन्न परिपेक्ष्य में देखते थे। हालांकि यह समाजवादी क्रांति नहीं था लेकिन यह पूँजीवादी जनवादी क्रांति के दौर से बहुत आगे था। युद्ध के बाद भारत में आर्थिक विकास के क्रम में उन्होंने इस नीति की कल्पना की जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतीय पूँजीपतियों को छूट दी जायेगी और भारत का पूंजीपति वर्ग उसके साथ समझौता करेगा। राष्ट्रवादी राय के लिये पूँजीपतियों के व्यवहार पर विश्वास करना संभव नहीं था और एक मार्क्सवादी राय के लिये तो यह और भी दुष्कर बात थी। वे भारत में समाजवादी क्रांति के विकास के लिये इसमें और ज्यादा गहरा महत्व खोजने लगे। इसीलिये राय ने शुरू से ही पूँजीपतियों के प्रति सावधानी बरतने की नीति अपनाई और सही सामाजिक आधारों, मजदूरों, किसानों तथा निम्न पूजीपतियों पर विश्वास करने की बात कही। इसके आगे उन्होंने कहा कि साम्राज्यवादी मुल्कों द्वारा औपनिवेशिक देशों के शोषण से लिये गये अत्यधिक मुनाफे के कारण ही ये देश टिके हुए हैं इसलिये क्रांति का भविष्य पूर्व की जीत पर ही निर्भर है।[22]

हालांकि रूसी एवं अन्य कम्युनिस्ट नेता राय के विचार से पूरी तरह सहमत नहीं हुए लेकिन उनसे वे प्रभावित जरूर हुए। उन्हें जिम्मेदारी वाला पद दिया गया और वे पूर्व के देशों के प्रधान प्रवक्ता के रूप में सम्मानित किये गये।

सम्मेलन के बाद राय को ताशकन्द में क्रांतिकारी आधार तैयार करने की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी दी गई। भारतीय सीमा के साथ इसकी नजदीकी और रूसी सरकार का अफगानी सरकार के साथ दोस्ताना संबंध के चलते, वहाँ क्रान्ति के सैनिकों को तैयार करना एक अच्छा एवं संभावना से भरा लक्ष्य था। ताशकन्द में राय के ठहरने के दौरान उन्हें उत्तेजनात्मक अनुभवों से गुजरना पड़ा।

उसी समय भारत में खिलाफत आन्दोलन परवान चढ़ रहा था तथा मुजाहिरों का एक समूह लम्बे एवं कठिनाइयों से गुजरते हुए पैदल तुर्की जाने के बजाय ताशकन्द पहुँचा। राय ने इन लोगों के राजनैतिक शिक्षण का काम किया एवं उनके लिये भारतीय सैनिक स्कूल में सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1920 के अन्त में या 1921 की शुरूआत में हुआ। लेकिन ब्रिटेन के विरोध के चलते सैनिक विद्यालय को बन्द करना पड़ा। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का

मुख्यालय मास्को चला गया। राजनैतिक क्रांतिकारियों की राजनैतिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिये पूर्व के श्रमिकों के लिये कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय की स्थापना 1922 में की गई। राय को इस विश्वविद्यालय का निदेशक नियुक्त किया गया। इस विश्वविद्यालय में हो. ची. मिन्ट के एक छात्र के रूप में दाखिले की चर्चा है।

कॉमिन्टर्न में राय का उत्थान बहुत तेज गति से तथा अचंभित करने वाला था। 1922 में इसके कार्यकारिणी समिति के उम्मीदवार सदस्य के रूप में शुरू करते हुए, 1924 में ये इस समिति में मतदान के अधिकार के साथ पूर्ण सदस्य हो गये तथा 1926 तक इनके प्रभाव ने अन्तिम ऊँचाई प्राप्त कर ली। उन्होंने कॉमिन्टर्न के एक के बाद एक होनेवाले सम्मेलनों (1921 तीसरा सम्मेलन, चौथा 1922, पाँचवाँ 1924) में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी मुल्कों में क्रांति की राजनीति एवं कार्यनीति के संबंध में पारित प्रस्तावों एवं नीतिगत प्रश्नों पर राय के प्रभाव को देखा जा सकता है।[23]

1928 के छठे कमिन्टर्न के सम्मेलन में निष्कासन के पहले तक, राय एक मार्क्सवादी लेखक, पत्रकार एवं संगठक के रूप में बहुत सक्रिय थे। इन वर्षों के दौरान इन्होंने दो महत्वपूर्ण किताबें लिखी। 1. ''इंडिया इन ट्रांजीशन (भारत परिवर्तन के दौर में) 2. ''दी फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स'' (भारतीय राजनीति का भविष्य)। ये किताबें उन्होंने अपनी खास अंदाज में लिखी। परिस्थितियों के अनुकूल बर्लिन, ज्यूरिख, एन्ने और पेरिस में रहने के दौरान उन्होंने दो पत्रिकाओं को सम्पादित किया। ''वेन्गार्ड ऑफ इंडियन इंडिपेन्डेन्स'' (भारतीय स्वाधीनता का अगुआ दस्ता) इन पत्रिकाओं की प्रतियों को उन्होंने चोरी-छिपे भारत में भेजने की व्यवस्था की। उन्होंने कॉमिन्टर्न के मुख पत्र, इन्प्रेकर में लेखन के माध्यम से योगदान किया। हालांकि उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की ताकत को बढ़ा-चढ़ाकर तथा गांधी की ताकत को कम करके आंका लेकिन वे भारतीय राजनीति में एक हद तक क्रांतिकारी (मौलिक सुधारवादी) रूझान पैदा करने में सफल हुए तथा भारत में साम्यवाद के विकास के लिये जगह मिली।

चीन की पराजय और उससे जुड़ी परिस्थितियों के बाद कॉमिन्टर्न से निष्काषन की घटनाओं का जिक्र अध्याय पाँच में हैं। वे 1930 में भारत लौट गये। लेकिन 1924 एवं 1926 के कम्युनिस्ट षड्यंत्र मामले के अभियुक्त के नाते उन्हें 6 वर्ष के लिये कारावास की दण्ड सुनाई गई। 1936 में अपनी रिहाई के बाद उन्होंने ''एलेन'' से विवाह किया, जिनसे उनका परिचय भारत आने से पहले जर्मनी में हुआ था। (एवलिन और राय 1926) में एक-दूसरे से अलग हो चुके थे) राय के प्रति एलेन की प्रतिबद्धता तथा उनके साथ सहयोग की बातें रायवादियों के बीच मशहूर हैं।

राय ने तत्काल राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना शुरू किया, लेकिन इस बीच में वे बड़े तौर पर बदल चुके थे। जेल के अन्दर उन्होंने दर्शन पर ढेरों किताबें पढ़ी। हालांकि अभी भी वे राजनैतिक समस्याओं के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाते थे लेकिन अब उनके ऊपर दार्शनिकता की छाप ज्यादा दिखाई पड़ती थी। वे मार्क्सवाद को एक नई रोशनी में देखने लगे। करीब 6 वर्षों तक उनके अन्दर बौद्धिक जंग जारी रहा।[24]

यह संघर्ष अपने तर्क पर आधारित था जिसके फलस्वरूप नव मानवतावाद का जन्म हुआ। यहाँ यह कहना माकूल होगा कि राय की राजनीति से निराशा और उसे नहीं पसंद करने के पीछे, उनके

विचार में हुआ परिवर्तन उत्तरदायी था। जेल से निकलने के बाद उनके द्वारा लिखी गई ढेरों पुस्तकें, उनके इस वैचारिक परिवर्तन की तरफ इशारा करती है।

तीसवें एवं चालीसवें दशक में राय का राजनैतिक अनुभव, बहुत अच्छा नहीं था। वे कांग्रेस को अपनी तरफ मोड़ना चाहते थे लेकिन कांग्रेसी नेता उनके लिये बहुत चालाक निकले। उन्होंने अपने से सहानुभूति रखनेवालों एवं प्रशंसक समूहों को लेकर ''रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी'' का गठन वर्ष 1940 में किया। यह भारतीय राजनीति में अपनी पहचान नहीं बना सका। धर्म एवं राष्ट्रवाद के बारे में उनकी क्रांतिकारी एवं अलोकप्रिय (अग्राह्य) विचार इसके प्रमुख कारण थे। 1931 के पहले तक के राय ''एक साजिशकर्त्ता'' एक संगठन एवं कार्यनीति निर्धारण करने वाले के रूप में जो भी कहा जाय लेकिन उसके बाद राजनैतिक स्वार्थ परायणता के प्रति उनका कोई लगाव नहीं रहा। उसके बाद एक उद्देश्य के प्रति समर्पित एक बड़े चिन्तक के रूप में उन्होंने काम करना शुरू किया। उनकी मोटी पुस्तकों का बड़ा हिस्सा धर्म और राष्ट्रवाद की आलोचना से जुड़ा हुआ है। हमलोगों को धर्म के बारे में उनके विचारों के बारे में इस अध्ययन के दौर में और बहुत सी बातें कहनी होंगी।[25]

राष्ट्रवाद के खिलाफ उनकी लगातार आलोचना के पीछे उनका स्पष्ट अभियोग था कि राष्ट्रवाद में फासीवाद अन्तर्निहित है। गांधीजी के राष्ट्रवाद और धर्म के बारे में उनकी यही समझ थी। उनका मानना था कि जबतक इन विचारधाराओं के खिलाफ अन्त तक लड़ाई नहीं चलाई जायेगी, भारत में जनतंत्र का भविष्य सुरक्षित नहीं हो सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उन्होंने फासीवाद विरोधी मोर्चा की पुरजोर वकालत करते हुए कांग्रेस की इस बात के लिये आलोचना की कि वह ब्रिटेन के मुश्किलों का फायदा उठाना चाहती है। राय एक बार फिर गांधी को समझने में भूल कर गये, लेकिन यह दूसरा मामला है।

आश्चर्य नहीं कि राय की रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी भारतीय राजनीति में थोड़ा भी आगे नहीं बढ़ सकी। उनकी असफलता भी उतनी ही बड़ी साबित हुई। ऐसा मालूम पड़ता था कि उनका राजनैतिक इतिहास, उनके दार्शनिक यात्रा की तैयारी थी। अपने ऐश्वर्यशाली राजनैतिक जीवन के इस निस्तेज अंत से उन्हें थोड़ा भी पाश्चाताप नहीं था। वे राजनीति से मुक्त होना चाहते थे। अपनी कष्ट साध्य जिन्दगी एवं स्व विश्लेषण के दौरान उन्होंने अपने सहयोगियों से कहा (जो उनकी राजनीति के प्रति शंकालू हो रहे थे) कि मैं राजनीति में बहुत बेचैनी महसूस करता हूँ। मैं पानी से बाहर रहने वाली मछली की तरह अनुभव करता हूँ। लेकिन अपने प्रारंभिक जीवन से ही इस झंझावात में शामिल हो जाने के बाद, इससे निकल नहीं पा रहा हूँ। अब समय आ रहा हैं, जब मैं ऐसा कर सकूँगा।[26]

शीघ्र ही वह समय आ गया। राजनीति से उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया और नवमानवतावाद को परिभाषित करने में अपना पूरा ध्यान लगा दिया। नवमानवतावाद के दर्शन के मुताबिक दलीय राजनीति की असंगतता के चलते "रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी" 1948 में भंग कर दी गई। मानवतावादी आन्दोलन को निर्देशित करने के लिये नवमानवतावाद, एक नये नवजागरण की हुंकार है जो विश्व को वर्तमान संकट से मुक्त करेगा और एक अच्छी जिंदगी सामने आयेगी । 1954 में अपनी मृत्यु तक उन्होंने अपनी पूरी ऊर्जा नवमानवतावाद के प्रचार और उसे और आगे बढ़ाने में लगाया।

संदर्भ:

1. हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया ले. आर. सी. मजूमदार, खंड II, पृ. 167.
2. वही, खंड एए पृ. 423.
3. द प्रफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, ले. कर्ण सिंह, पृ. 82.
4. वही, पृ. 90.
5. वही, पृ. 89.
6. वही, पृ. 53.
7. वही, खंड I, पृ. 458.
8. एम. एन. राय मेमोयर्स, पृ. 98.
9. रिसजेन्स ऑफ इंडिया, शिशिर मित्रा, पृ. 367.
10. मेमोयर्स, पृ. 3.
11. वही, पृ. 7.
12. वही, पृ. 14.
13. वही, पृ. 27.
14. वही, पृ. 28.
15. वही, पृ. 29.
16. वही, पृ. 62.
17. वही, पृ. 59.
18. वही, पृ. 61.
19. वही, पृ. 71.
20. वही, पृ. 195.
21. वही, पृ. 212.
22. वही, पृ. 214.
23. द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया एण्ड इट्स फार्मेशन एवोर्ड, मुजफ्फर अहमद, पृ. 87-88.
24. एम. एन. राय एण्ड रेडिकल ह्यूमनिज्म, ले. जी. पी. भट्टाचार्य, पृ. 2.
25. एम. एन. राय एण्ड कमिनटर्न, ले. जे. पी. हैथोयेक्स, पृ. 144.
26. सर्वोदय सोशल आर्डर, जयप्रकाश नारायण, पृ. 91.

❄❄❄

इतिहास

उत्तराखण्ड में स्त्री शिक्षा के जनकः मिशनरियां

डॉ॰ सावित्री कैड़ा जन्तवाल

एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, डी॰एस॰बी॰ परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही कुमाऊँ की धार्मिक व्यवस्था को ईसाईयत से चुनौती मिलना स्वभाविक था क्योंकि सरकार का परोक्ष छूट ईसाई धर्म को प्राप्त था, यद्यपि कुमाऊँ से जुड़े हुए हिमालय के प्रति (मुख्यतः तिब्बत के प्रति) आकर्षण अंग्रेजों के भारत आगमन के साथ ही प्रारम्भ हो चुका था। 1624 ई0 में सर्वप्रथम अन्तोनियों दे आन्द्रादे ने श्रीनगर-गढ़वाल से होकर तिब्बत की यात्रा की थी। पुनः 1625 में उसने तिब्बत यात्रा की तथा छपराड़ में गिरजाघर बनाया। सत्रहवीं सदी में ईसाई पादरियों का भ्रम था कि तिब्बत के गोरी चमड़ी वाले निवासी ईसाई के अनुयायी है, पर धर्म के प्रचारकों से सम्बन्ध न रहने से ईसाई मत के कुछ सिद्धान्तों को भूल चुके थे। 1936 ई में डी0 पेरिस व दौस अंजोस नाम दो पादरी श्रीनगर के प्रचार केन्द्र में भेजे गये। दौस अंजोस की मृत्यु हो जाने पर 1637 में पादरी मोपलिक को श्रीनगर भेजा गया था। 1657 से जैसुइट पादरियों ने श्रीनगर में निवास बन्द कर दिया। इसके लगभग आगामी 200 वर्षो तक सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में ईसाई धर्म प्रचारकों की गतिविधियां ठप्प सी हो गई।[1]

1815 ई0 में कुमाऊँ अधिकार के पश्चात् प्रारम्भ में अंग्रेजों ने स्थानीय धर्मरीति-रिवाजों में हस्तक्षेप नहीं किया और 1824 में बिशप हैबर ने इस क्षेत्र की यात्रा की और ईसाईयों को यहाँ से टारटरी तक फैलाने का सपना देखा,[2] लेकिन मिशनरी का सक्रिय कार्यक्रम 1850 के बाद हुआ। इस बीच मिशनरी सोसाइटी का पादरी खैरैण्ड बडन अल्मोड़ा पहुँचा तथा यहाँ पर लंदन मिशनरी सोसाइटी की स्थापना की। कुमाऊँ कमिश्नर रैमजे तथा उसके मित्रों ने बडन को सब प्रकार से सहायता देने का वचन दिया।[3] बडन द्वारा कुमाऊँ (अल्मोड़े) में स्कूल खोला गया जो कि आज "रामजै स्कूल" के नाम से विख्यात है, यह स्कूल कुमाऊँ का प्रथम स्कूल था।[4] इस स्कूल के अलावा एक लड़कियों का स्कूल, अस्पताल, एक अनाथालय, एक पुस्तकालय की स्थापना की गई। मिशन के इन कार्यो ने निर्धन तथा निम्न वर्ग के परिवारों को तेजी से प्रभावित किया, किन्तु बडन के द्वारा कुमाऊँ में ईसाई धर्म का प्रचार अधिक सरल कार्य न था, क्योंकि गो मांस का भक्षण करने वाले ईसाई धर्म के प्रति कुमाऊँ वासियों का आकर्षण होना इतना सरल नहीं था फिर भी बडन के प्रयासों से ईसाई धर्म प्रचारकों ने नैनीतान और अल्मोड़ा में प्रचार कार्य तत्परता से किया। साथ ही ब्रिटिश शासन के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि उनको अपने साम्राज्य का विस्तार तथा स्थायित्व में

ईसाई मिशनरियों के रुप में एक आक्रमक सहयोगी मिला। जिसने मानवतावादी गतिविधियों और धर्मांतरण को कोशिशों द्वारा निम्न जातीय, निम्न वर्गीय परिवारों में ब्रिटिश सत्ता के प्रति समर्थन को व्यापक रुप दिया।[5] देखा जाय तो 1850 के बाद से ही यहाँ पर प्रभावी होते जा रहे ईसाई मिशनरियों ने मानवतावादी गतिविधियों विशेषत: शिक्षा सुविधाओं तथा स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार व निम्न वर्गों को उन्नत करने के बहाने से ईसाई मत का प्रचार किया। उनका उद्देश्य न केवल अधिकाधिक लोगों को ईसाई धर्म में रुपांतरित करना था, वरन् ब्रिटिश सत्ता के प्रति स्थानीय जनमत में निष्ठा व समर्थन को भी बढ़ाना था, औपनिवेशिक शासकों के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग और समर्थन से न केवल उन्हें अपनी गतिविधियों के विस्तार में मजबूती मिली बल्कि साथ ही उन्होंने इसे एक आन्दोलन का रुप दे दिया। विशेषकर शिक्षण सुविधाओं व गतिविधियों में उनकी सक्रिय निष्ठा ने उनकी लोकप्रियता को उच्च जातियों में भी बढ़ा दिया। जिन्होंने अपनी आरम्भिक हिचकिचाहट के बाद मिशन स्कूलों से शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ कर दिया।[6] अत: इस बीच उभरने वाले स्थानीय अफसर, राजनीतिज्ञ, कवि, पत्रकार, साहित्यकार आदि की शिक्षा मिशन स्कूलों से होना इस बात की ओर इशारा करता है कि मिशनरियां शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक व लोकप्रिय होती जा रही हैं।[7] अब धीरे-धीरे पाश्चात्यकरण, बाह्मणवादी, कर्मकाण्डों तथा जातिगत भेदभाव से ऊबकर मिशनरियों द्वारा सरल, समतायुक्त, सामाजिक सेवा के रुप मे ईसाई धर्म से प्रभावित होकर 19 वीं सदी के अन्त तक उच्च वर्ण के पाण्डे, पन्त, जोशी, सनवाल व रावत भी ईसाई बनने लगे।[8] मगर मिशनरियों का सबसे अधिक प्रभाव निम्न जातियों पर पड़ा, उसका कारण व्यापक गरीबी, अशिक्षा तथा निम्न वर्ग के प्रति उच्च वर्ग द्वारा भेदभाव व शोषण की नीति।

उक्त बातों ने एक प्रकार से मिशनरियों के लिए उर्वर वातावरण तैयार कर दिया था और 19वीं सदी के अन्त तक मिशनरियों को निम्न जातियों के धर्मांतरण में बहुत सफलता मिली। 1881 में यहाँ के तत्कालीन चार जिलों अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल और कुमाऊँ में ईसाई धर्म को मानने वालों की संख्या 4671 थी और 1881 व 1911 में उक्त चार जिलों की कुल जनसंख्या क्रमश: 1190130 व 153865 थी।[9] जबकि चौका देने वाली बात यह थी कि केवल अल्मोड़ा जिले में यह संख्या- 2393 थी[10] और यह बढ़कर 1911 में 2581 हो गई।[11] इन चार जिलों में 1881 से 1911 तक कुल जनसंख्या क्रमश: 1190130 व 1533865 थी, तथा टिहरी रियासत की 199836 और 300819 थी।[12] बद्रीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि धर्म परिवर्तन का यह सिलसिला पिथौरागढ़ में 1884-85 के आस-पास से प्रारम्भ हुआ। उसके बाद चौंदास, जोहार तथा धारचूला में तीव्र गति से आगे को फैलता चला गया।[13] इसके साथ ही डंगोली, द्वाराहाट व बेरीनाग में चर्च की स्थापना हुई।[14] मिशनरियां लोगों को बराबर अपनी ओर आकर्षित कर रही थी, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण अस्कोट के पुष्कर रजवार ने अपनी बिमारी के उपचार करने के प्रतिफल के रुप में मि0 मार्या को चर्च हेतु जमीन दी।[15]

अन्तत: यह सत्य है कि ईसाई मिशनरियों ने समाज में अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए समाज सेवा का कार्यक्रम चलाया। जिसमें स्त्री शिक्षा के विस्तार पर विशेष बल दिया और उनके द्वारा नैनीताल में तीन कन्या पाठशालाएं खोली, जिनमें दो अमेरिकन मिशन के प्रबन्ध में थी और एक सरकारी स्टेट के खर्चे से चलती थी।[16] इसके अलावा मिशनरियों द्वारा महिलाओं के लिए अस्पताल, अनाथाश्रम, आवासगृह तथा डिस्पेंसरी की स्थापना का प्रयास किया जा रहा था।[17] अत: स्वाभाविक

ही स्त्रियों के लिए शिक्षण संस्थाओं का खोला जाना और उनका विस्तार उनकी संगठनात्मक गतिविधियों का महत्वपूर्ण अंग बना, यद्यपि मिशनरियों का वास्तविक उद्देश्य मानवतावादी गतिविधियों के रुप में शिक्षणात्मक गतिविधियों के विस्तार के माध्यम से अधिकाधिक स्थानीय जनता को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित कर उनका धर्मांतरण करना था। स्त्री शिक्षा के प्रसार हेतु उनके प्रयासों व रुचि ने समाज में स्त्री शिक्षा के प्रति स्थायी निषेधात्मक नकारात्मक दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में मदद की। जहाँ तक शिक्षा के क्षेत्र में उनका अधिक ध्यान देना था। वह आकस्मिक नहीं वरन् सोची समझी रणनीति का ही एक अंग था। केवल धर्मांतरण करना किंतु लोगों को शिक्षित न करना मिशनरियों की दृष्टि में परस्पर विरोधी सत्य थे। उनका यह स्पष्ट दृष्टिकोण था कि केवल धर्मांतरण करना न केवल व्यर्थ बल्कि खतरनाक भी है।

अत: मिशनरी कार्यों की सफलता के लिए लोगों को शिक्षित किया जाना जरुरी है।[18] उक्त बातों को देखते हुए मिशनरियों का प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म की शिक्षाओं के प्रचार के लिए शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं को बढ़ावा देना अति आवश्यक था क्योंकि गैर ईसाईयों के जीवन को ईसाईयत के सिद्धान्तों के माध्यम से प्रभावित किया जा सके।[19] मिशनरी ने केवल यूरोप में विकसित शिक्षण की सार्वजनिक संस्थाओं से पूर्णतया परिचित थे बल्कि उसके लाभदायक परिणामों को भी अनुभूत करते थे। उनका यह निश्चित विश्वास था कि ब्रिटिश शासन के नैतिक आधार के विस्तार, सुदृढ़ीकरण व जनता में उसकी लोकप्रियता के लिए जितनी जरुरी थी पुरुषों की शिक्षण व्यवस्था उससे कम जरुरी नहीं था। स्त्री शिक्षा का प्रसार, स्त्रियों का परिवार में केन्द्रीय महत्वपूर्ण भूमिका के चलते मिशनरियों द्वारा धर्मांतरण को स्थायी और सफल बनाने के लिए स्त्रियों को शिक्षित करने पर बल देना तथा उन्हें प्रभावित करना नितान्त स्वाभाविक ही था।

मिशनरियों में स्त्री शिक्षा हेतु अपने प्रयासों को संगठित रुप दिया "जनाना व्यवस्था" व सार्वजनिक विद्यालयों की स्थापना के माध्यम से, स्त्री-पुरुष के सह-शिक्षण की व्यवस्था के प्रति समाज के नकारात्मक दृष्टिकोण ने मिशनरियों को स्त्रियों हेतु पृथक स्कूल विद्यालयों को स्थापना हेतु प्रेरित किया।[20] ब्रिटिश प्रशासकों का समर्थन मिशनरियों को न केवल प्राप्त ही था। अपितु उन्हें विदेशों से प्राप्त हो रही आर्थिक सहायता भी इस कार्य हेतु आर्थिक मजबूती प्रदान करती थी। मिशनरी संगठनों ने महिला प्रचारकों (मिशनरी) के माध्यम से ताकि उन्हें भारतीय स्त्रियों का विश्वास हासिल करने में सुविधा हो। स्त्री शिक्षा हेतु "जनाना व्यवस्था" के माध्यम से 'परिवार' में हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त कर लिया था।

राष्ट्रीय स्तर पर 1840 में महिला मिशनरियों का आगमन हुआ, जिन्हें महिलाओं और मध्य कार्य करने का दायित्व सौंपा गया था। उन्होंने स्वयं को वयस्क विवाहिता महिलाओं को ईसाई धर्म में धर्मांतरित करने के उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दिया। इन महिला ईसाई प्रचारकों को शिक्षक के रुप में घरों में प्रवेश की सुविधा हासिल हो जाती थी। जहाँ वे महिलाओं को कहानियों के माध्यम से शिक्षा देती थी, इसके अलावा उन्हें कढ़ाई-बुनाई-सिलाई का शिक्षण प्रशिक्षण देती थी और घर के सदस्यों को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित करने का भी भरपूर प्रयास करती थी। उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता बहुत ही कम मिलती थी। लेकिन उन्होंने अपना उत्साह न छोड़ा बल्कि अपनी भारतीय शिष्याओं और ईसाई परिवार की भारतीय महिलाओं को कन्याओं के विद्यालय में अध्यापिका के रुप

में नियुक्ति दे दी गई।[21] इन मिशनरियों ने लड़कियों की शिक्षा हेतु अलग विद्यालयों की स्थापना की, जिससे प्राइमरी तथा मिडिल स्तर की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। अत: यहाँ पर मिशनरियों ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की, माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य मिशनरी विद्यालयों द्वारा किया गया जो इस प्रकार है- सर्वप्रथम 1845 में "जीसस एण्ड मैरी कान्वेंट स्कूल" की स्थापना हुई,[22] साथ ही 1854 में लंदन सोसाइटी द्वारा मसूरी में "वुडस्टाक हाई-स्कूल" की स्थापना की गयी।[23] 1859 में "यू0जी0एन0आई0 गर्ल्स इण्टरमीडिएट कॉलेज" की स्थापना देहरादून में प्राइमरी स्कूल के रुप में हुई। तत्पश्चात् 1870 में इसे मिडिल स्कूल तथा 1890 में हाईस्कूल की मान्यता मिली। 1858 में इण्टरमीडिएट स्कूल बना दिया गया। 1864 मे मिशनरी आर्क देक प्रेट द्वारा कन्याओं की शिक्षा हेतु मसूरी में "कैनेविले हाउस स्कूल" खोला गया।[24] 1867 में ब्राडबुरी द्वारा नैनीताल में "डायोसिसन स्कूल" की स्थापना की गयी जो कि प्रारम्भ में कन्या और बालकों का साथ-साथ स्कूल था। 1874 में पृथक विद्यालय के रुप में लड़कियों के लिए "आलसेंट डायोसिसन गर्ल्स कॉलेज" की स्थापना स्टोनले कम्पाउण्ड में की गयी, जिससे कन्याओं की संख्या 1874 तक 85 हो गयी थी।[25]

1878 में मदर सैलेसिया द्वारा नैनीताल में "सेंट मेरी कान्वेंट स्कूल" की स्थापना हुई, जिसमें उस वक्त 40 छात्राऐं पढ़ाई कर रही थीं और 1928 तक इनकी संख्या बढ़कर 200 हो गई।[26] शिक्षा को मजबूती देने के लिए कमिश्नर रैम्जे के प्रयासों से श्रीमती ब्राडबुरी के निर्देशन में मैथोडिस्क मिशन सोसाइटी द्वारा 1869 में कुमाऊँ में छात्र-छात्राओं के लिए एह सह-शिक्षण विद्यालय की स्थापना की। 1870 में अमेरिकन मिशन द्वारा एक अतिरिक्त छात्राओं का विद्यालय खोला गया, जिसमें छात्राओं की संख्या लगभग 20 थी।[27] 1869-70 में मिशनरी श्रीमती मानसेल ने चौपड़ा में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की, जिसमें मुख्य रुप से अनाथ बालिकाओं को लिया गया। कुछ समय पश्चात् अन्य बालिकाओं के लिए "बालिका छात्रावास" की स्थापना की गई।[28] 1873 में डब्ल्यू0एन0 ट्राइब के डिजायन पर अल्मोड़ा में एक कन्या स्कूल खोला गया।[29] इसी वर्ष 1873 में लाडूर क्षेत्र (देहरादून) में यूरेशियन लड़कियों के लिए "वुडस्टाक कॉलेज" की स्थापना हाईस्कूल के रुप में की गयी, जिसे कालान्तर में कॉलेज के रुप परिवर्तित कर दिया।[30] इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध कर दिया, 1884 में अमेरिकन मैथोडिस्ट मिशन ने मिस इ0के0 नोअलस के निर्देशन में मिशनरी और यूरोपीय परिवारों के बच्चों के लिए नैनीताल में "वेलेजली गर्ल्स हाईस्कूल" की स्थापना की[31] और अंग्रेज कमिश्नर हेनरी रैम्जे के प्रश्रय में ईसाई बडन ने सर्वप्रथम अल्मोड़ा में एक कन्या पाठशाला का शुभारम्भ किया।[32] ''ओकग्रोप स्कूल'' 1896 में झाड़ी पानी में लड़कियों के शिक्षा हेतु स्थापित किया गया था, यह स्कूल वस्तुत: ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी ने 1888 में यूरोपीय कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के उद्देश्य से स्थापित किये गये स्कूल का विस्तार था, जिसमें छात्रों की संख्या बढ़ने के कारण कन्याओं के लिए अलग से स्कूल खोलने की प्रेरणा प्राप्त हुई और 1950 में इस स्कूल में 150 कन्याऐं पढ़ने लगी।[33] इसी वर्ष 1896 के आसपास गडोली में अमेरिकन मेथोडिस्ट मिशन ने लड़कों व लड़कियों के लिए एक साथ स्कूल की व्यवस्था की, जब 1899 में इनसाइन गिल इस स्कूल का प्रबन्धक बनने के बाद से इसमें ईसाई लड़कियां ही प्रवेश पाने लगी, साथ ही लड़कियों के लिए छात्रावास की व्यवस्था भी की गयी। मिस गिल के प्रयासों से 1903 में इस स्कूल को मिडिल स्कूल में परिवर्तित कर दिया गया परिणाम स्वरुप स्कूल का नाम "मेरी इनसाइन गिन गर्ल्स स्कूल" रखा

गया। इस कन्या स्कूल से 1905 में प्रथम बार लड़कियों ने मिडिल परीक्षा दी और लड़कियों को अध्यापिकाओं या दाईयों के रुप में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाने लगा।[34]

चूँकि दलित व निर्धन वर्ग हेतु शिक्षा सुविधाओं का विशेष अभाव था। अत: उनके लिए विद्यालयों की स्थापना के अतिरिक्त मिशनरियों द्वारा स्त्री शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण उत्तराखण्ड में हिल स्टेशनों, सैन्य छावनियों व ब्रिटिश प्रशासनिक व आर्थिक गतिविधियों के विस्तार के फलस्वरुप बढ़ी संख्या में यूरोपीय तथा यूरेशियन जनसंख्या की उपस्थिति भी थी जिसकी उचित व कुशल शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता ने न केवल मिशनरी शिक्षण गतिविधियों को प्रोत्साहित किया बल्कि उसे लोकप्रिय विस्तार भी दिया, 1904 में यूरोपियन तथा यूरोशियन जनसंख्या के लिए नैनीताल व मसूरी जिलों में 21 मिशनरी शिक्षण संस्थाऐं कार्यरत थी। जिनमें लगभग 2100 छात्र अध्ययनरत थे।[35]

सेंशस ऑफ इण्डिया 1931, पार्ट-1 रिपोर्ट ऐसे शहरी क्षेत्रों में जो सैन्य छावनियों व हिल स्टेशनों के रुप में विकास की ओर बढ़ा, में यूरोपीय व यूरेशियन जनसंख्या बड़ा हुआ प्रतिशत स्पष्ट करता है।[36] –

	कुल जनसंख्या				यूरोपियन व एग्लो-इंडियन जनसंख्या				
	कुल (1)	*पुरुष (2)*	*स्त्री (3)*	*स्त्रियों का प्रतिशत (4)*	*कुल (5)*	*पुरुष (6)*	*स्त्री (7)*	*स्त्रियों का प्रतिशत (8)*	*स्त्रियों का प्रतिशत कुल महिला जनसंख्या के सन्दर्भ में (9)*
नैनीताल नगरपालिका	17375	12167	5208	30:	1996	1047	949	48:	18:
मंसूरी नगरपालिका	17115	12362	4753	28:	3484	1706	1778	51:	37:
रानीखेत सैन्य छावनी क्षेत्र	9489	7246	2243	24:	3182	2578	604	19:	27:
चकराता सैन्य छावनी क्षेत्र	5935	4918	1017	17:	2101	1871	230	11:	23:
लंडूर सैन्य छावनी क्षेत्र	2878	2071	807	28:	310	142	168	54:	21:

इन मिशनरियों के प्रभाव से ही उत्तराखण्ड में 1920 के आस-पास महिलाओं की शिक्षा घर-घर में चर्चा का विषय बन गया। वस्तुत: उत्तराखण्ड में यह वह समय था जब राष्ट्रीय आन्दोलन की हलचलें होने लगी थी, यह भी उत्तराखण्ड के लिए सौभाग्य की बात थी कि यहाँ पर सामाजिक सुधारों और राजनैतिक चेतना के कारण महिला शिक्षा को सामाजिक समर्थन मिलना भी प्रारम्भ हो गया था और लोग समझने लगे थे कि शिक्षा वह वस्तु है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है, यह तो सभी कहते है कि शिक्षित आदमी की तीन आँखें होती है यह तीसरी आँख बुद्धि है जो शिक्षा से खुलती है।[37] 1913 में कन्या मिशन, पौड़ी के बेहतरीन परीक्षा परिणामों की प्रशंसा करते हुए ''गढ़वाली'' पत्र ने लिखा कि इससे हमें यही ज्ञात होता है कि गढ़वाली लड़कों की अपेक्षा लड़कियां चतुर होती है और बुद्धिमान होती है परन्तु शोक इस बात का है कि हमारे यहाँ के लोगों का ध्यान अभी स्त्री शिक्षा की ओर प्राय: नहीं गया है।[38] उसी क्रम में गढ़वाली यह भी लिखता है कि जैसे

मकान की बुनियाद उसके मजबूती के लिए है उसी प्रकार समाजोन्नति के लिए विद्या है। सुतरां मान्यवर समाज सुधारकों के लिए आवश्यक है कि पहले अपने समाज में विद्या के बीज बोये,[39] धीरे-धीरे अब मिशनरियों द्वारा महिलाओं के शिक्षा सम्बन्धी कार्यो पर कुमाऊँनी जनता का ध्यान जाने लगा उन्हें महसूस भी होने लगा कि महिलाओं की शिक्षा न केवल सामाजिक संगठन की प्रमुख इकाई के रुप में "परिवार" को और मजबूत करेगी बल्कि भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परम्परा को भी सशक्त करेगी।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरियों के प्रयासों की व्यापकता व महत्ता का स्पष्टीकरण इस तथ्य से आसानी से होता है कि उत्तराखण्ड आजादी के पहले विशेषत: 1911 तक स्त्री शिक्षा के प्रसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान मिशनरियों का था। देहरादून जिले में शिक्षा के विस्तार में मिशनरी प्रयासों की महत्ता पर टिप्पणी करते हुए जी0आर0सी0 विलियम लिखते है कि देहरा मिशन के प्रभाव क्षेत्र के बाहर मेजर यंग के समय से शिक्षा की सामान्य प्रगति अत्यन्त क्षीण रही। जिन्होंने कि अपने निजी व्यय पर गोरखा लाइन में एक स्कूल खोला था, ने अनुभव किया कि वे सैनिकों के बच्चों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी विद्यालय में प्रवेश करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकें।[40] उन्होंने आगे लिखा है कि 1874 में देहरादून क्षेत्र के उन निवासियों को छोड़कर जो कि इस क्षेत्र में, कार्यरत मिशनरियों के प्रभाव में थे।

अन्य निवासियों की शिक्षा का स्तर अत्यन्त पिछड़ा हुआ था[41] बद्रीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि भावर के स्कूलों का प्रबन्ध मिशनरियों के हाथ में था।[42] तथापि मिशनरियों के स्त्री शिक्षा सम्बन्धित प्रयासों की लोकप्रियता विशेषत: यूरोपियन समुदाय और धर्मांतरित ईसाईयों के मध्य तक सीमित रही। नवीन धर्मान्तरित (ईसाई धर्म में) लोगों की लड़कियों को सम्भवत: उनके भाईयों की तुलना में स्कूल में ज्यादा भेजा जाता था, क्योंकि उन्हें परिवार की आजीविका चलाने वाले सदस्य के रुप में ज्यादा देखा जाता था[43] निम्न जातियों के विपरीत उच्च जातियों के सम्पन्न आभिजात्य वर्ग में मिशनरी स्कूलों को संदिग्ध रुप में देखा जाता था, वे मानते थे कि इनमें उनकी लड़कियों का प्रवेश उन्हें धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक रुप से भ्रष्ट कर देगा।

अत: मिशनरियों के स्त्री शिक्षा के शिक्षण संस्थाओं व प्रयासों के प्रति वे अधिकांशत: अनिच्छुक व तटस्थ बने रहे। स्त्रियों की शिक्षा हेतु मिशन स्कूलों का विस्तार तथा लोकप्रियता अधिकांशत: शहरी केन्द्रों जहाँ कि यूरोपियन तथा यूरेशियन जनसंख्या अधिकांश केन्द्रित थी, तक ही सीमित रही तथापि मिशनरियों ने स्थानीय समाज में स्त्री शिक्षा को एक लाकेप्रियता विचार के रुप में प्रभावशाली तरीके से विकसित होने में सर्वाधिक मदद की।[44] उक्त तमाम बातों को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि मिशनरियों द्वारा स्त्रियों की शिक्षा के लिए किये गये संगठित प्रयासों तथा गतिविधियों ने समाज के विशेष सर्वण वर्ग के स्त्री शिक्षा के प्रति विशेधात्मक दृष्टिकोण में परिवर्तित को प्रेरित किया और यह भी सच है कि आजादी से पहले विशेषत: 1911 तक स्त्री शिक्षा के प्रसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान मिशनरियों का था।

सन्दर्भ सूची:

1. मुनौला, मनोहर सिंह: ब्रिटिश कुमाऊँ का सामाजिक इतिहास 1815-1947 शोध प्रबन्ध: कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल: नवम्बर 1989 : पृष्ठ- 293।
2. हैबर, डी0 डी0 रेनीगाल्ड: नैरेटिव ऑफ ए जर्नी थ्रेंद अपर प्रोविन्सेज ऑफ इण्डिया: लन्दन: 1828: पृष्ठ- 324-25।
3. कैनेडी जेम्स: लाइफ एण्ड वर्क्स इन बनारस एण्ड कुमाऊँ: लन्दन: 1884: पृष्ठ- 252।
4. कैनेडी जेम्स: उक्त।
5. भट्ट, जया: बीसवीं शताब्दी के दौरान ब्रिटिश शासन का उत्तराखण्ड के समाज पर प्रभाव (स्त्रियों के विशेष सन्दर्भ में एक सामाजिक अध्ययन) 2008: शोधा प्रबन्ध: कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल: पृष्ठठ- 184।
6. उक्त: पृष्ठ- 184।
7. पाठक, शेखर: उत्तराखण्ड में सामाजिक आन्दोलनों की रुपरेखा: पहाड़ अंक-2: 1986, पृष्ठ-98-99।
8. उक्त: पृष्ठ- 106।
9. डबराल, शिवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास: भाग- 8: बीरगाथा प्रकाशन दो-गडडा गढ़वाल: 1965-78 : पृष्ठ- 150।
10. सैंसस आफ इण्डिया: 1881: पृष्ठ- 2-5।
11. सैंसस: 1911: पृष्ठ- 788-97।
12. सैंसस: 1911: पृष्ठ- 6-7।
13. पाण्डे, बद्रीदत्त: कुमाऊँ का इतिहास: प्रेम कुटीर अल्मोड़ा-1937: पृष्ठ- 454-455।
14. भट्ट, जया: पृष्ठ- 185।
15. स्वाधीन प्रजा (हिन्दी समाचार पत्र): 13 मई, 1931: पृष्ठ- 6।
16. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 90।
17. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ दि यूनाइटेड प्राविंस ऑफ आगरा एण्ड अवध, सैक्शन-11, वा0 XXXV, अल्मोड़ा डिस्ट्रिक्ट: पृष्ठ- 22-23।
18. भट्ट, जया: पृष्ठ- 374।
19. विलियम, जी0आर0सी0: हिस्टारिकल एण्ड स्टेटिसरिकल मेयायर ऑफ देहरादून: रूड़की- 1874: पृष्ठ- 34।
20. भट्ट, जया: पृष्ठ- 375।
21. उक्त: पृष्ठ- 375।
22. वाल्टन, एच0जी0: डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ दि यूनाइटेड प्राविंस, देहरादून: वाल्यूम-1: पृष्ठ- 159।
23. उक्त।
24. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 39।
25. उत्तर-प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, देहरादून- 1978: पृष्ठ- 201।
26. उक्त।
27. क्ले, जे0एन0: नैनीताल : ए हिस्टारिकल एण्ड डिसक्रिप्टिव आकाउण्ट: पृष्ठ- 49-50।

28. वाल्टन, एच0सी0: अल्मोड़ा गजेटियर- इलाहाबाद, 1928: पृष्ठ- 49-50।
29. डबराल, ज़िवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास: भाग- 8 : पृष्ठ- 151।
30. वाल्टन, एच0जी0: पृष्ठ- 156।
31. उक्त: पृष्ठ- 156।
32. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 39।
33. शर्मा, डी0डी0: उत्तराखण्ड का सामाजिक एवं राजनैतिक इतिहास: 2001, वाल्यूम-1, अल्मोड़ा: पृष्ठ- 210।
34. वाल्टन, एच0जी0: पृष्ठ- 157-58।
35. भट्ट, जया: पृष्ठ- 376।
36. सैंसस ऑफ इण्डिया: 1931: रिपोर्ट: पृष्ठ- 146-47।
37. गढ़वाली: हिन्दी समाचार पत्र: अगस्त 1907 भाग-3: पृष्ठ- 5।
38. गढ़वाली: जून 1913 भाग-3: पृष्ठ- 83।
39. गढ़वाली: अप्रैल 1908 भाग-3, अंक 12: पृष्ठ- 26।
40. भट्ट, जया: पृष्ठ- 318।
41. उत्तर-प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, देहरादून-1979: पृष्ठ- 271।
42. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 487।
43. भट्ट, जया: पृष्ठ- 381।
44. उक्त।

❄❄❄

इतिहास

चम्पारण में किसान आन्दोलन का यथार्थ

मदन पासवान

इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

अंग्रेजों के शासन में चम्पारण के किसान, जमींदारों और साहूकारों के पंजों में जकड़े हुए थे और कहीं-कहीं उनकी दशा मजदूरों से भी बदत्तर थी। धन का अभाव, अज्ञानता, भाग्यवादिता तथा अपनी भूमि के प्रति उनका अत्यधिक लगाव उन्हें अपना संगठन बनाने और उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने में बाधक बना रहा परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ।

19वीं शताब्दी में किसानों की अशांति, विरोधों, विद्रोहों तथा प्रतिरोधों में प्रकट हुई। जिनका मुख्य उद्देश्य सामन्तशाही बन्धनों को तोड़ना था। उन्होंने बेदखली और साहूकारों की ब्याजखोरी के विरुद्ध विरोध प्रकट किया। किसानों के सुव्यवस्थित संगठन न होने के कारण किसानों के विद्रोहों ने राजनैतिक रूप धारण नहीं किया, परन्तु 20वीं शताब्दी में वर्ग जागृति आई और किसान सभाओं की स्थापना हुई। स्वतंत्रता प्रप्ति के पूर्व के दशक में किसान सभाएं अधिकाधिक वामपंथी राजनैतिक दलों, जैसा कि कांग्रेस समाजवादी दल तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव में आई।[1]

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय इतिहास का सबसे प्रमुख पक्ष यह था कि देश में बार-बार अकाल पड़े तथा भूख से लाखों किसान तथा अन्य कमजोर वर्ग के लोग मृत्यु ग्रस्त हो गए, जिसका सीधा प्रभाव चम्पारण के किसानों पर पड़ा। 1876-78, 1896-97 तथा 1899-1900 के भीषण अकालों से यह स्पष्ट हो गया कि उत्पीड़क भूमि कर नीति का क्या फल होता है। सूखे तथा अकालों से ग्रामीण क्षेत्रों में शांति तथा व्यवस्था की स्थिति इतनी बिगड़ गई कि ग्रामीण धनियों की तो बात ही क्या, नगर निवासियों तथा प्रशासकों के दिल भी हिल गए। 1880, 1898 तथा 1901 के अकाल आयोगों ने यह स्पष्ट कर दिया कि सरकार के राहत कार्यों का मुख्य उद्देश्य देश में किसानों पर परोपकार नहीं अपितु सम्पत्ति की संस्था को बनाए रखना और उसकी रक्षा करना है।[2] किसान आन्दोलनों से परेशान होकर 1878 ई. में अंग्रेजी सरकार ने अकाल कमीशन की नियुक्ति की तथा अकाल से संबंधित कुछ नियम बनाये। इसके साथ ही सरकार ने किसानों को जमींदारों एवं साहूकारों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए कुछ नियम बनाये परन्तु किसानों को उनके दु:खों से मुक्त नहीं कराया जा सका। किसान आंदोलन ने उत्तर-पश्चिमी बिहार के चम्पारण में सीधे और ठोस रूप में गांधीवाद के उदय में योगदान किया। यह सत्य है कि इन स्थानों में स्थानीय मुद्दों को अखिल-भारतीय राजनीति के स्तर तक ले जाने के लिए गाँधीजी का हस्तक्षेप अपरिहार्य था, फिर भी इस बात के

पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि इन स्थान पर असंतोष और विरोध की भावना गाँधीजी के आगमन से बहुत पहले ही विद्यमान थी और वह भी जिसे जाक पुष्पादास अपने चंपारण के अध्ययन में **'स्वयं ग्रामीण जनसामान्य की ओर से ऊर्ध्वगामी दबाव'** कहते हैं।[3]

चम्पारण में 1860 के दशक से तिनकठिया व्यवस्था का छिटपुट विरोध होता रहा था। इस व्यवस्था के अंतर्गत यूरोपीय प्लांटर (निलहे) रामनगर, बेतिया और मधुबन के जमींदारों से जमीन का पट्टा ले लेते थे और किसानों को बाध्य करते थे कि वे अपनी जमीन के कुछ भाग में नील की खेती करें। इसके लिए उन्हें मजदूरी भी नहीं दी जाती थी। जब 1900 के लगभग कृत्रिम रंगों की प्रतिस्पर्धा के कारण नील के व्यापार में मंदी आने लगी तो इन प्लांटरों ने यह भार भी किसानों पर डालने का प्रयास किया। नील उगाने की बाध्यता से मुक्ति के बदले उन्होंने शरहबेशी (लगान-वृद्धि) अथवा तावान (एकमुश्त मुआवजा) की मांग की।[4] 1905-08 के बीच मोतिहारी-बेतिया क्षेत्र में इसका बड़ा विरोध हुआ। इसने 400 वर्गमील क्षेत्र को प्रभावित किया जिसमें कुछ हिंसक घटनाएं हुई। (ब्लूमफील्ड नाम के एक फैक्ट्री मैनेजर की हत्या), फौजदारी के 57 मामले चले और 277 सजाएं हुई। अधिक समृद्ध किसानों ने इस संघर्ष को अगले दशक में भी जारी रखी। वे प्रार्थनापत्र भेजते थे और मुकदमे करते थे।[5] बिहार के कुछेक कांग्रेसी नेताओं एवं पत्रकारों से भी उनका संपर्क था और इसी निरंतर संघर्ष के चलते 1916 की लखनऊ कांग्रेस में राजकुमार शुक्ल का गाँधीजी से संपर्क हुआ। शुक्ल खाते-पीते किसान और छोटे-मोटे साहूकार थे। शुक्ल ने गाँधीजी से चम्पारन के किसानों के पक्ष में प्रस्ताव पारित करने की मांग की लेकिन, गांधीजी ने इसका विरोध किया और कहा कि वे स्वयं व्यक्तिगत रूप से किसानों की स्थिति का निरीक्षण करेंगे और तभी उनके संबंध में कोई प्रस्ताव पारित किया जायेगा। महात्मा गांधी और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद दोनों ने चम्पारन की यात्रा की और वहाँ के बहुत से किसानों के बयान दर्ज किये और उनकी दर्दभरी कहानी सुनी। जिस समय गाँधीजी इस संबंध में पूछताछ कर रहे थे, वहाँ के मजिस्ट्रेट ने उन्हें चम्पारन छोड़ने का आदेश दिया किन्तु गांधीजी ने आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। अन्त में गांधीजी के प्रयासों से चम्पारन के किसानों को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हुई और उनका एक-चौथाई लगान माफ कर दिया गया। नि:सन्देह चम्पारण के पीड़ित किसानों के लिए गांधीजी का प्रयास अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हआ।[6] इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि किसान आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ने का श्रेय मुख्य रूप से महात्मा गाँधी को है।

चम्पारण में, जैसाकि हम देख चुके हैं, निलहों के विरुद्ध असंतोष और आंदोलन का एक लंबा इतिहास रहा था। जाक पुष्पादास का विस्तृत विश्लेषण दर्शाता है कि किसान आंदोलनों में मध्यस्थता की महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाले कस्बे के वे बुद्धिजीवी नहीं थे जो गांधीवाद में दीक्षित हुए थे। ए.एन. सिन्हा जैसे वकील या कृपलानी जैसे मुजफ्फर कॉलेज के अध्यापक, जिन्हें ज्यूडिथ ब्राउन 'सब-कांट्रेक्टर्स' कहते हैं न चम्पारण आन्दोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिये थे। वहीं समृद्ध और मंझोले किसानों की अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के राजकुमार शुल्क जो गांधीजी को आमंत्रित करने के लिए लखनऊ गए थे और साथ ही संत राउत और खेंडर राय जैसे स्थानीय महाजनों और व्यापारियों ने, जिन्हें साहूकारी एवं व्यापार के क्षेत्र में निलहों की प्रतिस्पर्धा से शिकायत थी, कुछ ग्रामीण मुख्तारों और स्कूल अध्यापकों में पीर मुहम्मद एवं हरबंस सहाय ने भी इस आन्दोलन में अपना

भूमिका निभाई थी। अन्ततः चम्पारन के नील-उत्पादकों की जांच और प्रचार के फलस्वरूप तिनकठिया प्रथा की समाप्ति हुई। लेकिन इसका जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा वह ठोस गतिविधियों से कहीं अधिक थी।[7] बिहार के बेतिया जिले के एस.डी.ओ. ने 29 अप्रैल, 1917 की अपनी रिपोर्ट में लिखा: गांधीजी 'प्रतिदिन अज्ञानी जनसमुदाय की कल्पना को आसन्न स्वर्णयुग के स्वप्न दिखाकर रूपांतरित कर रहे हैं।'' एक रैयत ने गांधीजी की तुलना रामचन्द्र से की और जांच समिति के समक्ष कहा कि 'अब गांधीजी आ गए हैं तो काश्तकारों को राक्षस निलहों का कोई भय नहीं है।" बाद में ऐसा भी अफवाहें फैली कि सभी स्थानीय अधिकारियों एवं निलहों को काबू में करने के लिए वायसरॉय या सम्राट ने गांधीजी को भेजा है, यह भी कि कुछ ही महीनों में अंग्रेज चम्पारण छोड़कर चले जायेंगे। ऐसे संघर्ष के संकेत भी मिले जो गांधीवादी सीमाओं को पार करने लगे थे, जैसेकि नील के कारखानों पर आक्रमण एवं आग लगाने की कुछेक घटनाएं।[8]

1917 के अंत तक किसान कभी-कभी तो घटी हुई दरों पर भी 'शरहबेशी' देने से इन्कार करने लगे थे जिसे गांधीवादी व्यवस्था के अंतर्गत देना स्वीकार कर लिया गया था। गांधीजी अपने पीछे 15 स्वयंसेवकों को छोड़ गए थे जिन्होंने गांवों में रचनात्मक कार्य करने का प्रयास किया। उन्होंने राजेन्द्र प्रसाद से कहा था कि समस्या का एकमात्र हल 'रैयतों को शिक्षित करना और उनके एवं निलहों के बीच निरंतर मध्यस्थता की प्रक्रिया'' है। लेकिन ऐसे उपाय चम्पारण में अधिक सफल नहीं हुए। वहाँ मई 1918 तक ग्राम स्तर के केवल 3 कार्यकर्त्ता रह गए थे।[9]

अप्रैल 1935 में साउथ इंडियन फेडरेशन ऑफ पेजेंट्स एंड एग्रीकल्चरल लेबर की स्थापना की गई जिसके महासचिव एन.जी.रंगा और संयुक्त सचिव ई.एम.एस. नंबूदरीपाद थे। इसने अक्टूबर 1935 के अपने अधिवेशन में तत्काल एक अखिल भारतीय किसान संगठन बनाए जाने का सुझाव दिया। किसान आन्दोलन का आरंभिक केन्द्र चम्पारण ही था। आरम्भ में इसके प्रति अधिक उत्साहित नहीं था, क्योंकि भय था कि यह एकता मात्र औपचारिक होगी, लेकिन अंत में सहजानंद अखिल भारतीय किसान सभा के लखनऊ में होने वाले पहले अधिवेशन का सभापतित्व करने के लिए सहमत हो गए। इसके एक अन्य अग्रणी नेता इंदुलाल याज्ञित थे जो गुजरात के जमे हुए गांधीवादी थे, किन्तु अब मोहभंग की प्रक्रिया से गुजर चुके थे और किसान बुलेटिन के संपादक बन गए थे। किसान सभा ने अपना ध्यान मुख्य रूप से उन किसानों की शिकायतों पर केन्द्रित किया जिनके पास थोड़ी जमीन थी। ये शिकायतें जमींदार, व्यापारी, साहूकार और सरकार के विरूद्ध थीं।[10] अगस्त 1930 के किसान घोषणापत्र में मांग की गई थी कि जमींदारी का उन्मूलन किया जाए, वर्तमान भू-राजस्व के स्थान पर 500 रू. से अधिक की कृषि आय पर आरोही आयकर लगाया जाए, और ऋणों को निरस्त किया जाए। इसमें न्यूनतमन मांगों का एक घोषणापत्र भी सम्मिलित था: राजस्व और लगान में 50% की कटौती, सभी काश्तकारों को पूरे दखली अधिकार, बेगार की समाप्ति, ऋणों एवं ब्याज की दर में कमी और पारंपरिक वन-अधिकारों की बहाली। किसानों के बीच मौजूद वर्ग-भेद और जोतधारी किसानों एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के बीच मौजूद तनाव किसान सभा (और संपूर्ण वामपंथ) के लिए सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों ही रूपों में सदा क्लेशदायक बने रहे। किन्तु किसान घोषणापत्र में यह सुझाव था कि ऊसर पड़ी सरकारी और जमींदारी भूमि पांच एकड़ से कम जमीनवाले किसानों

और भूमिहीनों में बांट दी जाए जिनके सहकारी संस्थाओं में संगठित होने की आशा की गई थी। फिर भी, जोत पर कोई आम सीमा लगाने की मांग नहीं की गई थी।[11]

किसान बुलेटिन के एक आरंभिक अंक में सहजानंद ने खेतिहर मजदूरियों के मामले में जांच की मांग की थी और आशा की थी कि ''किसानों के साथ बातचीत करके और जमींदारों एवं बागान-मालिकों के विरुद्ध खेतिहर मजदूरों की संगठित हड़ताल में सहायता करके' स्थिति में सुधार किया जा सकता है। यह भेद रोचक भले ही लगे, अस्वाभाविक नहीं था।[12] बिहार की किसान सभा ने नवंबर 1936 में मुंगेर जिले के बढ़ैया ताल में जमींदारों द्वारा कब्जाई गई किसानों की भूमि को बकाश्त में परिवर्तित किए जाने के प्रयासों के विरूद्ध एक बड़ा आंदोलन छेड़ दिया था।[13] भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जब 1937 में लोकप्रिय सरकारें बनी तो किसानों ने इनसे बहुत आशाएं रखीं परन्तु उन्हें निराशा हुई। अपनी मांगों की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए बिहार विधान सभा के अधिवेशन के पहले दिन, 23,000 किसान, विधान सभा भवन के सामने एकत्रित हो गए। उनके नारे थे, ''हमें पानी दो हम प्यासे हैं, हमें रोटी दो हम भूखे हैं, हमारे सभी कृषि ऋण छोड़ दो। हमें जमींदारों के शोषण से बचाओं।''[14]

सरकार के बाकाश्त भूमि अधिनियम तथा बिहार मुजारा अधिनियम के पुन: लागू करने से किसानों को कुछ राहत मिली। सरकार जमींदारों की अनुमति के बिना भी मुजारों को भूमि के हस्तान्तरण की अनुमति दे देगी। सलामी की दरें निश्चित की गई तथा कम की गई एवं भूमि कर भी लगभग 25% कम कर दिए गये। लेकिन किसान नेता तो चाहते थे कि कांग्रेस सरकारें किसान राज्य स्थापित कर दें अर्थात्, जमींदारी समाप्त कर दें और भूमि, भूमिरहित किसानों में बांट दें। बिहार की कांग्रेस सरकार जिसे जमींदारों का समर्थन प्राप्त था, जमींदारी समाप्त नहीं कर सकती थी।[15]

विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के बाद किसानों ने 1929-30 ई. में अपने संगठित आन्दोलन करने प्रारम्भ किये। आर्थिक कठिनाईयों ने चम्पारण के किसानों की कमर तोड़ दी और जमींदारों व साहूकारों का उत्पीड़न उत्तरोत्तर बढ़ता गया। बिहार के उत्तर पश्चिमी जिले के किसानों ने सामूहिक रूप से इसका विरोध किया और कांग्रेस ने उन्हें समर्थन प्रदान किया। किसानों ने अपनी कमेटियों का गठन करके जमींदारों के उत्पीड़न के विरूद्ध आवाज उठाना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे किसानों ने जिला एवं प्रान्तीय स्तर पर भी अपने संगठन बना लिये। अब तक किसान संगठनों पर साम्यवादियों का प्रभाव था परन्तु कांग्रेस ने किसानों पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये 1935 ई. में ''**प्रान्तीय किसान संगठन**'' का गठन किया।[16]

द्वितीय विश्वयुद्ध के विस्फोटक से पूर्व अखिल भारतीय किसान सभा का चौथा अधिवेशन में लगभग आठ लाख किसानों ने भाग लिया। इस अधिवेशन में यह निश्चय किया गया कि किसानों को अपनी स्थिति को सुधारने एवं उसे मजबूत करने के लिये एक क्रांति का आयोजन करना चाहिए। किसान सभा के सदस्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। किसानों ने जुलूसों का आयोजन किया ताकि भू-राजस्व कम कराया जा सके, परन्तु अंग्रेजी सरकार ने अपनी कठोरता के कारण कई किसान नेताओं को बन्दी बना लिया। इस प्रकार एवं किसानों में रस्साकसी प्रारम्भ हो गयी।[17] 1941-42 ई. में किसान सभा में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी परन्तु फिर भी उसकी

सदस्य-संख्या बढ़ती गयी। साम्यवादियों के नेतृत्व में उत्साही किसानों ने जमींदारों की जमीनों पर अधिकार कर लिया। 1942 ई. में गांधीजी द्वारा चलाया गया। 'भार छोड़ो' आन्दोलन कुचल दिया गया और कांग्रेस के विभिन्न नेताओं को बन्दीगृह में डाल दिया गया। इस समय भी चम्पारण के किसानों को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। अत: किसान आन्दोलनों ने अत्यन्त साहस और उत्साह का परिचय दिया किन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल सकी। उनके शान्त और उग्र आन्दोलन भी उन्हें न्याय नहीं दिला सके। नि:सन्देह सरकार ने किसानों की दशा सुधारने के लिए इस दशा में कुछ कदम उठाये किन्तु वे संतोषजनक नहीं थे। अभी भी किसानों के लिये बहुत कुछ करना बाकी है और यह तभी संभव है जब किसान स्वयं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हों और उन्हें कुछ ज्ञान प्राप्त हो।[18] अत: आमतौर पर 1942 तक किसान आंदोलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन साथ-साथ चलते रहे। किसान सभा के अतिवादी तत्त्व यह चाहते थे कि कांग्रेस की असंतोषपूर्ण नीतियों के कारण कांग्रेस से संबंध विच्छेद कर लिया जाए परन्तु कांग्रेस के नेताओं ने विदेशियों के विरूद्ध एकता बनाए रखी। इससे दु:खी होकर स्वामी **सहजानन्द ने 1945 में किसान सभा से त्यागपत्र दे दिया जिसके फलस्वरूप किसान सभाओं पर कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभुत्व छा गया।**[19]

बहुत-सी किसान सभाओं को नेतृत्व कांग्रेस समाजवादियों ने किया था। कभी-कभी आंदोलनों को प्रेरणा और नेतृत्व कम्युनिस्ट संगठनों ने किया। जहाँ कहीं पर नेतृत्व कांग्रेस के रचनात्मक कार्यकर्ताओं के हाथ में था, वहा: कुल मिलाकर किसानों की जागृति में राष्ट्रवादी और सुधारवादी रंगत थी। यदि राष्ट्रवादी आंदोलन से उसका कोई संबंध था तो वह महज आकस्मिक और बहुत दूर का था। इनमें से कुछ आंदोलनों में धार्मिक नेतृत्व आश्चर्यजनक ढंग से विद्यमान था। पिछड़े इलाकों में किसान तबके की भावना जब-तब अधकचरी नैतिकता के नारों से बहुत अधिक उत्तेजित हो उठती है।[20]

इसी के साथ-साथ ऐसे बहुत से राजनैतिक कार्यकर्त्ता, जो ग्रामीण किसान वर्ग को शिक्षित और संगठित करने में लगे हुए थे, कम्युनिस्टों और कांग्रेस समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत मार्क्सवादी विचारधारा से तीव्रता के साथ प्रभावित हुए।[21] किसान आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन का अटूट रिश्ता कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। वस्तुत: किसान आंदोलन वहीं उभर सके, जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन की नींव डाली जा चुकी थी। यह सही है कि बिहार में कांग्रेस और किसान सभा के नेतृत्व में गंभीर मतभेद पैदा हो गया और कभी-कभी तो ऐसा भी लगा कि किसान आन्दोलन कांग्रेस से मुठभेड़ के रास्ते पर जाने वाला है, जहाँ वामपंथी कार्यकर्त्ता और कांगेस के दक्षिणपंथी समर्थक अपनी-अपनी जिद पर अड़ गए और एक-दूसरे के साथ चलने के लिए तैयार नहीं हुए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में चम्पारण के किसानों की स्थिति राष्ट्रीय संग्राम के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहा।

संदर्भ सूची:

1. ग्रोवर, बी.एल.एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास – एक नवीन मूल्यांकन, 2002, एस. चन्द एण्ड कम्प. नई दिल्ली, पृ. 350.

2. Desai, A.R., Peasant struggles in India, Delhi, 1979, P.49, Ranga, N.G. and Swami Sahajanand Saraswati, History of the kisan Movements.
3. Desai, A.R., Peasant Struggles in India, Delhi, 1979, P.-55, 57.
4. मिश्रा, बी.बी. सेलेक्ट डाक्यूमेंट्स ऑन महात्मा गाँधीजी मूवमेंट इन चम्पारन, पटना, 1963, पृ. 25-26.
5. त्रिपाठी, डी.एन. चम्पारन की जागृति, मोतिहारी, 1935.
6. मिश्रा, गिरीश, अंग्रेरियन प्रोब्लेम्स ऑफ परमानेन्ट सेटलमेंट - अ केस स्टडी ऑफ चम्पारन, नई दिल्ली-1979.
7. प्रताप कार्यालय, चम्पारन की जांच, कानुपर, 1918.
8. प्रसाद, राजेन्द्र, चम्पारन के महात्मा गांधी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1965.
9. दत्त, डॉ. डी.एम. महात्मा गांधी का दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1973, पृ.50.
10. देव, नरेन्द्र, Report of the Seventh Conference of the Socialist Party, Patna, 1944.
11. Panikkar, K.N., Peasant Revolts in Malabar in the 19th and 20th Centuries, In A.R. Desai, editor, Peasant Struggles in India.
12. Mehta, Shirin, The Peasantry and Nationalism, New Delhi, 1984.
13. सिन्हा, अनुग्रहनारायण, मेरे संस्मरण, पटना, 1961.
14. Nanda, B.R., The Swarajist Interiude, In A Centenary History of the Indian National Congress, Vol. 2.
15. Kumar, Kapil, Peasant in Revolts – Tenants, Congress Landlords and the Raj in Oudh, 1886-1922, New Delhi, 1984.
16. Henningham, S., Peasant Movements in Colonial India – North Bihar, 1917-42, Canberra, 1982, Chapter, 2, 7.
17. Mahajan, Sucheta, British Policy, Nationalist Strategy and Popular Natinal Upsurge, 1945-46, In A.K. Gupta, Myth and Reality, Struggle for freedom in India, 1945-47, New Delhi, 1987.
18. Harcourt, Max, Kisan Populism and Revoltion in Rural India – The 1942 Disturbances in Bihar and East United Provinces, In D.A. Low, Editor, Congress and the Raj.
19. के.पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, हिस्ट्री ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस इन बिहार, पटना, 1885.
20. Report of Congress Agrarian Reforms Committee, 1949.
21. Guidelines of the History of the Communit Party of India, Issued by central party Education Department, New Delhi, 1974.

❄❄❄

खिलाफत आंदोलन और बिहार के मुसलमान

मो० तौकिर अहमद जान

नेट-यूजीसी, शोधार्थी, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

खिलाफत आंदोलन सर्व इस्लामबाद का प्रतिफल है। खिलाफत शब्द खलीफा का पदबोधक होने के साथ मुसलमानों के लिए सर्वोच्च सांसारिक सत्ता है। जिसका महत्त्व संपूर्ण मुसलमानों के एक साम्राज्य एक कानून, एक किताब, एक पैगम्बर और एक खुदा के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन समय और संसार की परिवर्तनकारी विचारों और वेशभूषा ने सांस्कृतिक संचरण को आगे बढ़ाया और एक साम्राज्य की अवधारणा खण्डित हो गई। मध्यकाल में मुस्लिम साम्राज्य तीन भागों में बँट गया–मिश्र में फातमी, स्पेन में अब्बासी और बगदाद में उम्मैया वंश। मंगोलों के शक्तिशाली होने और 1256 ई० में कुस्तुनतुनिया पर आक्रमण करने के साथ ही पूरा इस्लामी साम्राज्य की शक्ति दोयम दर्जे की हो गई थी। मुबारक खिल्जी भी भारतीय सल्तनत में स्वयं को खलीफा कहने लगा था। खलीफा की प्रतिष्ठा पूर्व काल की तरह नहीं रही। फिर भी आम भारतीय मुसलमानों में खिलाफ के प्रति श्रद्धा-भाव बरकरार था। यही कारण है कि प्रथम विश्वयुद्ध में विभाजित विश्व के दो भागों-धूरी राष्ट्र और मिश्र राष्ट्र के संघर्ष में तुर्की की पराजय धूरी राष्ट्रों के साथ ही हो जाने से मुसलमान चिंतित हो गये थे। सेब्र की संधि से पूर्व अंग्रेजों द्वारा किये गये वायदे मुसलमानों में खलीफा के प्रति चिंता को परिलक्षित करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में मुसलमान मुकदर्शक होकर मुसलमानों के प्रति किया गया अन्याय को सहन बहुत दिनों तक नहीं कर सकते थे। इससे अंग्रेजों के खिलाफ नफरत पनपने लगा था। इन घटनाओं में 1911 में इटली द्वारा तराबलरा पर आक्रमण और ब्रिटिश सरकार तुर्की सेना का मिस्र के रास्ते तराबलरा जाने पर रोक शामिल है। इस घटना में भारतीय मुसलमानों में रोष पैदा कर दिया था। दूसरी बड़ी घटना दिसम्बर 1911 में सरकार ने बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया। इन दुहरी मार ने मुसलमानों को उत्तेजित कर दिया। जिस पर टिप्पणी करते हुए नवाब वकारूल मुल्क को यह लिखने पर विवश होना पड़ा कि–सरकार की यह घोषणा ऐसे तोपखाने की तरह थी जो मुसलमानों की मुर्दा लाशों के ऊपर से गुजर गया। बिना यह सोचे समझे कि इन मुर्दा लाशों में से किसी में जान भी है और उनको इससे कष्ट होगा। इसी दौरान मुस्लिम विश्वविद्यालय के सवाल पर भी मुसलमानों में बड़ी बेचैनी पैदा हुई। विश्वविद्यालय की स्वीकृति के लिए सकार ने जो शर्तें रखी थीं। मुस्लिम नेता उससे सहमत नहीं थे। अभी तराबलस का विवाद सुलझा नहीं था कि अक्टूबर 1912 ई० में यूरोप की बड़ी

शक्तियों की शह पर बलकान के राज्यों ने तुर्को के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दिया। मुस्लिम नेताओं ने तुर्की का साथ देने का संकल्प लिया। एक दल ने मोर्चे पर जाकर बड़ी बहादुरी के साथ अपने दायित्वों का निर्वाह किया। इससे तुर्को के दिलों पर सेवाभाव बैठ गया। हालाँकि यह युद्ध समझौता वार्ता के बाद समाप्त हो गया लेकिन इस घटना में ब्रिटिश सरकार की तुर्की विरोधी नीतियों से भारतीय मुसलमानों को सख्त आघात पहुँचा। इसी बीच 1914 के विश्वयुद्ध छिड़ गया जिसमें तुर्की में अंग्रेजों के विरुद्ध जर्मनी का साथ दिया। ऐसी स्थिति में भारतीय मुसलमानों की भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। जिनके दिलों में तुर्की के लिए प्रेम और श्रद्धा की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। ऐसी नाजुक घड़ी में मुस्लिम नेता भला हाथ पर हाथ धरे कैसे बैठे रह सकते थे अली बंधुओं (मो० अली और शौकत अली) मौलाना अबुल कलाम आजाद, मौलाना अब्दुल बारी फिरंगी महल, शेखुल हिन्द, मौलाना महमूदुल हसन देवबंदी, हकीम अजमल खाँ, डॉ० अंसारी की अगुवाई में तुर्की को हर संभव सहायता के लिए कई केन्द्र स्थापित किए गए। अली बिरादरान ने तो सशस्त्र संघर्ष के लिए हथियार जमा करने की कोशिश की। यह सब देखते हुए अंग्रेज सरकार ने कड़ा रुख अपनाया। मौलाना मो० अली, शौकत अली, हसरत मुहानी, जफर अली खाँ, अबुल कलाम आजाद और इस प्रकार की गतिविधियों से संबंध रखने वाले नेता एक-एक करके गिरफ्तार कर नजरबंद कर दिए गए।

अली बंधुओं की नजरबंदी ने मौलाना महमूदुल हसन को सावधान कर दिया। उन्होंने अगस्त 1915 में मौलाना उवैदुल्लाह सिंधी को काबुल भेज दिया जिन्होंने अमीरे काबुल की सहायता से वहाँ स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार का गठन किया। जिसका राष्ट्रपति राजा महेन्द्र प्रताप को और प्रधानमंत्री प्रो० बरकतुल्ला को बनाया गया। मौलाना महमूदुल हसन ने इस सिलसिले में बिहार के अन्दर भी अपने केन्द्र स्थापित किए थे और शस्त्र क्रांति की योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने सेना को प्रशिक्षण देने उसे पूरे तौर पर तैयार किया था। बिहार में तीन केन्द्र के प्रमुखों की नियुक्ति की गई थी जो इस प्रकार हैं—दरभंगा के मौलवी अजीज रहीमाबादी, आरा के मौलवी अब्दुल्ला गाजीपुरी और पटना के मौलवी अब्दुल रहीम अजीमाबादी।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वशासन की माँग रखी थी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की स्वशासन की माँग पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के अपने आश्वासन को पूरा नहीं किया था। इतना ही नहीं, युद्ध के दौरान भारत सुरक्षा नियम के अन्तर्गत जो दमनकारी कानून बनाये गये थे उनकी भी पुष्टि सरकार ने रॉलेट एक्ट के माध्यम से कर दिया था। दूसरी बात 1912-13 में यूरोप में बाल्कन युद्ध लड़े गये थे। इसमें तुर्की के राज्य के विरुद्ध बाल्कन प्रायद्वीप की ईसाई प्रजा ने विद्रोह किया। यूरोपीय देशों के तुर्की के प्रति शत्रुतापूर्ण आचण को देखते हुए और तुर्की की जीर्ण-शीर्ण दशा के कारण भारतीय मुसलामनों की सहानुभूति तुर्की सुल्तान के प्रति रही। दूसरी तरफ वहाबी आंदोलन की जड़ें अंग्रेजों ने उखाड़ा था लेकिन यही वहाबी नेताओं के विचार से ओतप्रोत लोगों ने ब्रिटिश सरकार के प्रति रोष व्याप्त थी और वे ऐसे माहौल का इंतजार कर रहे थे जिसमें वहाबी अपने जन-धन दिखला सकें। जालियावाला बाग हत्या कांड ने पूरे भारतीयों के मन में भय और आतंक का ब्रिटिश शासन समझकर उसके विरुद्ध विद्रोह का तेवर चढ़ा लिया। पूरा भारतीय अघोषित नारा दे रहे थे —

"सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।"

कांग्रेस, मुस्लिम लीग, किसान सभा के अतिरिक्त सभी भारतीय पार्टियाँ अपना रुख पंजाब की ओर कर लिया। सभी दलों ने पंजाब को अपना सम्मेलन क्षेत्र बनाया। अमृतसर में कांग्रेस और मुस्लिम लीग का वार्षिक सम्मेलन आयोजित किया गया।

उपर्युक्त कारणों से भारतीय हिन्दू और मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति आक्रोश बढ़ता जा रहा था। इसी समय 1919 का मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड अधिनियम भी भारतीयों की आशाओं और विचारों पर सही नहीं उतरा था। महायुद्ध की समाप्ति 1918-19 में हो चुका था। विजेता देश युद्धकाल में ही आपसी गुप्त संधियों द्वारा पराजित धुरी राष्ट्रों का बंदरबांट की मंसूबा बना चुके थे। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में राष्ट्रसंघ की स्थापना की जा चुकी थी; ताकि पुन: विश्व में इतना बड़ा धन-जन की हानि से बचाया जा सके। वह शांति संधि के पक्ष में था लेकिन क्या जर्मनी के साथ संधि पीड़ित मानवता को शांति का वरदान प्रदान कर सका? जिस प्रकार से अमानुषिक संधि हुई हजारों मील आबाद क्षेत्र जिसमें औद्योगिक तथा आर्थिक सम्पदा के स्रोत जबर्दस्ती छीन लिए गए थे। तुर्की को यूरोपीय राष्ट्रों ने लम्बे अरसे से यूरोप का बीमार राष्ट्र कहते आ रहे थे; यूरोपीय साम्राज्यवादी लूटेरों ने उसकी लाश का बँटवारा कर बैठा इससे दुनिया के मुसलमान बहुत ही क्षुब्ध हुए। भारतीय मुसलमान भी इसमें सम्मिलित थे। भारत में मुस्लिम सम्प्रदाय को खिलाफत के सवाल पर हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त था यही कारण था कि दिल्ली में अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन का प्रतिनिधियों ने सम्मेलन की अध्यक्षता महात्मा गाँधी से करायी थी। पूर्व काल के ब्रिटिश साम्राज्य का यह आश्वासन की अन्याय नहीं होगा; यह मात्र मुसलमानों का समर्थन लेने का हथकंडा था। मुस्लिम समर्थन लेने के लिए ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड जार्ज ने घोषणा की कि "हमलोग इसलिए नहीं लड़ रहे हैं कि एशिया माइनर और ग्रीस के समृद्ध और प्रसिद्ध भूभाग को जहाँ तुर्की बहुल जातियाँ हैं उसे छीन लें" इन आश्वासनों ने मुसलमानों को किसी भी प्रकार के ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आंदोलन होने नहीं दिया। भारतीय मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार को पूर्व में दिए गए आश्वासनों की याद दिलाई और मांग पेश की कि मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, फिलिस्तीन आदि भूक्षेत्र समेत 'जजरात-उल-अरब' के सभी धार्मिक स्थलों को खलीफा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखा जाए। इन माँगों के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने मिस्र राष्ट्रों के साथ मिलकर तुर्की के भूभाग का बंदरबांट कर दिया तथा तुर्की मात्र नाम का मुल्क रह गया।

ब्रिटिश सरकार की बदली हुई नीयत को देखते हुए मुसलमानों को गोलबंद होने के उद्देश्य से उल्लेमाओं ने एक अलग संगठन बनाने की कोशिश की। इस संगठन की स्थापना में हकीम अजमल खाँ और डॉ० अंसारी की सलाह शामिल थी। इस संगठन के काम-काज की शुरुआत में जिन बारह उलेमा ने मौलाना अब्दुल बारी का साथ दिया उनमें मौलाना सज्जाद, मौलाना सुलेमान नदवी और मौलाना शाह मुहीउद्दीन बिहार के ही थे। 21 सितम्बर 1919 को लखनऊ में अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन के आयोजन में बिहार के नेताओं नवाब सरफराज हुसैन खाँ, ख्वाजा मो० नूर और मौलवी सैयद नूरूल हसन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। 17 अक्टूबर को आम हड़ताल किया गया जिसको सफल बनाने के लिए गाँधीजी ने आम हिन्दुओं को साथ देने को

कहा था। उन्होंने हड़ताल को शांति के साथ मनाने की अपील करते हुए कहा था कि हम खिलाफत को एक पवित्र संकल्प समझते हुए साथ दें। 17 अक्टूबर को खिलाफत दिवस माना गया था जबकि यह दिवस उसी दिन बिहार में भी पूरे जोर-शोर से मनाया गया। पटना, गया भागलपुर, मुंगेर और दरभंगा में विशेषकर इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। पटना में हड़ताल के कारण सारा दिन सारा व्यवसाय ठप रहे। शाम के समय पटना सिटी में गंगा के किनारे मैदान में एक जनसभा हुई जिसमें भारी संख्या में मुसलमानों, हिन्दुओं और सिखों ने अपनी भागीदारी दर्ज कराई। सभा की अध्यक्षता नवाब सरफराज खाँ ने की और नमाज हाफिज अहमद गनी ने पढ़ाई।

राष्ट्रीय स्तर पर कुछ घटनाएँ सम्पूर्ण भारतवासी को क्षुब्ध कर दिया। गाँधीजी के निर्देश पर हिन्दुओं के सहयोग के कारण मुसलमानों के उत्साह में नई जान पड़ गई। 24 नवम्बर 1919 को दिल्ली में ए०के० फजलुल हक की अध्यक्षता में अखिल भारतीय सम्मेलन आहूत किया गया। इसमें बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू लोग भी सम्मिलित हुए। इसमें महात्मा गाँधी, पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित मदन मोहन मालवीय और वीर सावरकर सबसे महत्वपूर्ण थे। बिहार से सैयद हसन इमाम बिहारी मुस्लिम नेताओं की पूरी टोली साथ शामिल हुए थे। इस सम्मेलन में खिलाफत, तुर्की और पवित्र स्थान से संबंधित दूसरे प्रस्तावों के अलावा इस मामले में ब्रिटिश सरकार की वादा खिलाफी और बदनीयती की निन्दा की गई और यह तय किया गया कि सरकार की ओर से किए जाने वाले विजय उत्सव का विरोध करेंगे।

दिल्ली खिलाफत सम्मेलन के तुरंत बाद पटना के अंजुमन इस्लामिया हॉल में 30 नवम्बर 1919 को एक बहुत बड़ी सभा आयोजित की गई। पूरा हॉल खचाखच भरा हुआ था। बहुत से लोग बाहर खड़े थे और सैकड़ों को जगह नहीं मिलने के कारण लौटना पड़ा। श्री हसन इमाम ने अध्यक्ष पद के लिए मौलाना शाह रसीदुल हक का नाम प्रस्तुत किया। श्री राजेन्द्र पसाद ने उसका अनुमोदन किया। राजेन्द्र बाबू ने अपने भाषण में कहा था कि "हर आदमी अपने हृदय पर हाथ रखकर यह कहे कि क्या उसके मन में खुशी मनाने का कोई कारण दीख रहा है।

समाचार एवं पत्र-पत्रिकाओं में ब्रिटिश सरकार विरोधी आंदोलन का बिहारी मुसलमानों पर गहरा प्रभाव था। मुसलमानों ने जिन सभाओं एवं क्षेत्रों का नेतृत्व किया वहाँ आंदोलन सफल और जोरदार रहा। राँची में आंदोलन इसलिए सफल रहा क्योंकि नजरबंदी के दौर में मौलाना आजाद का प्रभाव यहाँ के लोगों पर बहुत अधिक पड़ा। इसके बाद अंग्रेजों की विजयोत्सव का विरोध पटना, मुजफ्फरपुर, गया, मुंगेर, दरभंगा, आरा, छपरा, राँची, भागलपुर में भी देखा गया क्योंकि यहाँ के जनजीवन पर मुसलमानों का प्रभाव बहुत गहरा था। गया जिले की राजनीति में ख्वाजा मो० नूर और मौलाना सज्जाद छाए हुए थे। इसके साथ काजी अहमद हुसैन, शाह उमैर और मौलाना अब्दुल हकीम भी बहुत सक्रिय थे। दरभंगा के मुसलमानों पर मौलाना इब्राहीम का काफी प्रभाव था। इनके अलावा शफी और मौलवी अब्दुल गफूर का भी शाहाबाद में, चौधरी करामत हुसैन जिला कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में अगुवाई कर रहे थे। छपरा जिले के जन-जीवन पर मजहरूल हक का विशेष पकड़ था इसके अतिरिक्त मौलाना का बिहार के राजनीति पर उतना ही पकड़ था। वे कांग्रेस के निर्विवाद एकमात्र नेता बिहार के थे। इनके अतिरिक्त सारण के नेता डॉ० महमूद और जकरिया हाशमी की पकड़ भी थी। भागलपुर में मौलवी अबुल हसन बार एटला सबसे अधिक सक्रिय थे। वैसे मौलाना शाह

मुहिउद्दीन के धार्मिक प्रभाव और मौलाना सज्जाद, मौलाना इब्राहीम दरभंगा, मौलाना खुदाबख्श, सीवान और मौलाना अब्दुल हकीम गया के थे। इन लोगों ने पूरी लगन एवं कर्मठता से बिहार खिलाफत आंदोलन में शामिल हुए राजधानी पटना के सक्रिय राष्ट्रीय मुसलमान नेता हसन इमाम और मौलाना मजहरूल हक के अतिरिक्त नवाब सरफराज हुसैन खाँ, मौलवी खुर्शीद हसनैन, डॉ० महमूद, मौलवी नूरूल हसन और समी जैसे राजनेता सरकार विरोधी आंदोलनों का नेतृत्व कर रहे थे।

पराजित धूरी राष्ट्रों पर लगातार हमले और क्षेत्रों का अधिग्रहण का सिलसिला थमने को नाम नहीं ले रहा था। भारत में खिलाफत आंदोलन भी गति पकड़ रही थी। मुसलमानों ने अंग्रेज समर्पित और खलीफा का मुखालफत करने वाले शरीफ हुसैन की जमकर आलोचना की। शरीफ हुसैन अरब मुल्क में ही रहकर मित्र राष्ट्रों का पक्षधर बने हुए थे। इसी बीच मार्च 1920 से इंगलैण्ड के विजयोन्मादी सेना रातों रात कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया इसका विरोध भारतीय मुसलमानों के साथ हिन्दू कद्दावर नेताओं ने भी किया। पटना सिटी में खिलाफत की समस्या पर इश्तेहार लगाया गया था। इनपर सर्वश्री फजुलल हक, अब्दुल कासिम, हसरत मोहानी, ताजउद्दीन और मो० अकरम खाँ के हस्ताक्षर थे। पुलिस इश्तेहार को कड़ाई से प्रतिबंधित कर दिया। इसके बावजूद श्री अब्दुल बारी, अबुल कलाम आजाद और शौकत अली के इच्छानुसार 19 मार्च 1920 को हड़ताल रही इसमें पटना में प्रांतीय खिलाफत समिति के सचिव श्री समी प्रमुख थे।

बिहार के खिलाफत आंदोलन के नेताओं के आमंत्रण पर मौलाना शौकत अली ने खिलाफत समस्या का समाधान करने के लिए सर्वस्व बलिदान करने का आह्वान किया। उन्होंने सरकारी नौकरियां छोड़ने और संस्थाओं का बहिष्कार करने की अपील की। इस अवसर पर वकील (High Court) मौलवी नुरूल हसन ने उत्तेजक भाषण पढ़े। मौलाना पटना के बाद मुंगेर और गया की ओर प्रस्थान किया। 27 अप्रैल को मुंगेर की सभा को संबोधित किया, तय कार्यक्रम के कारण लोग पहले से इंतजार कर रहे थे। गया पहुँचने पर उनकी तबियत खराब हो गई और अपना राष्ट्रीय नेतृत्व का भाषण नहीं पढ़ सके। फिर भी ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त कई सम्मानों एवं प्रमाण पत्रों का परित्याग कर दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पाँच संधियाँ हुई थी जिसमें तुर्की के साथ शान्ति संधि की शर्ते 'सान रेमो सम्मेलन' में निर्धारित हुई। तुर्की सरकार मई 1920 को हस्ताक्षर किया। इसके विरुद्ध बिहार के कुछ प्रमुख मुसलमानों का एक सम्मेलन फुलवारी में 15 और 16 मई 1920 को हुई। इसमें कानपुर के कादिर आजाद सुभानी और मथुरा के अब्दुल मजीद ने भाग लिया था। पटना सिटी में गुलाम इमाम और कुछ अन्य व्यक्तियों ने दो तीन जगहों पर सभाएँ कर सरकार के साथ असहयोग और तुर्की पर आरोपित शर्तों की भर्त्सना की गई थी। बाँकीपुर मैदान में अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए सामूहिक प्रार्थना मो० समी, ख्वाजा अब्दुल मजीद एवं डॉ० सैयद महमूद ने किया था। बाकरगंज के एक मस्जिद के उन्नीस वर्षीय मौलवी एतमाद हुसैन भी इस सभा में सम्मिलित हुए। सभी जगहों पर तुर्की के सुल्तान के प्रति आस्था पूर्वकाल की तरह रहा लेकिन प्रश्न उठता है कि जितनी आस्था एवं श्रद्धा-भाव भारतीय मुसलमान दिखा रहे थे उसका तुर्की में क्या प्रतिक्रिया हुई? इसके परिणाम हास्यास्पद बना देता है। फिर भी सर्वसम्मति से निश्चित समय 1 अगस्त को समूचे भारत में खिलाफत दिवस मनाने की बात स्वीकार किया गया। इस अवसर पर गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन के तहत

अपने सभी सरकारी सम्मान एवं पदकों को लौटाते हुए वायसराय के पास मुसलमान भाइयों प्रति अनुदार बनी सरकार का विरोध दर्ज किया था। बिहार में असहयोग आंदोलन का शंखनाद मौलवी शाह बदरूद्दीन फुलवारी शरीफ ने अपनी पदवी शम्सुल उलेमा की वापसी से की। जबकि शाह सुलेमान फुलवारीशरीफ ने अनरेरी मजिस्ट्रेट के पद से और नूरूल हसन परिषद् की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। इसी दिन मुंगेर के प्रसिद्ध वकील बैरिस्टर शाह मोहम्मद जुबैर ने अपनी वकालत छोड़ दी। कुछ ऐसे भी बिहार के मुसलमान सपूत थे जो बिहार से बाहर खिलाफत और असहयोग आंदोलन में सक्रिय थे उसमें मौलाना अताउल्लाह शाह बुखारी ने पंजाब में, मौलाना शायक अहमद उस्मानी और मौलाना अब्दुल रऊफ दानापुरी ने कलकत्ता में, प्रमुख भूमि निभाई।

इस प्रकार खिलाफत आंदोलन में बिहार के मुसलमान काफी सक्रिय रूप से भाग लिया। उनकी नेतृत्व बिहार के हर प्रमुख प्रमंडलों में रहा और पूरे बिहार में निर्विवाद रूप से हिन्दू-मुसलमान के बीच सबसे चर्चित मौलाना मजहरूल हक थे जिन्हें बिहार के महात्मा गाँधी कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य महापुरुषों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजेन्द्र प्रसाद कद्दावर नेता थे परन्तु लोकप्रियता मौलाना को सबसे अधिक थी। आंदोलन से लेकर सभा सम्मेलन में उन्हीं के नाम पर लोग जमा होते थे।

संदर्भः

1. के० के० दत्त–बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, भाग-1.
2. ताराचंद–हिस्ट्री ऑफ दी फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, खण्ड-2
3. तकी रहीम–स्वतंत्रता आंदोलन में बिहार के मुसलमानों का योगदान
4. राजेन्द्र प्रसाद–आत्मकथा
5. मौलाना आजाद–इण्डिया विन्स फ्रीडम, बम्बई, 1959
6. रामलखन शुक्ल–आधुनिक भारत का इतिहास
7. विपीन चंद–भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
8. सुमित सरकार–आधुनिक भारत

❇❇❇

इतिहास

संथालों का परिवार एवं समाज

शम्भु कुमार राम

यू॰जी॰सी॰ नेट (इतिहास), शोधार्थी, बी॰आर॰ए॰ बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

संथाल भारत की एक महत्वपूर्ण जनजाति है तथा झारखंड की सबसे बड़ी जनजाति है। यह एक द्रविड़ जनजाति है। द्रविड़ जाति में संथालों के अतिरिक्त हो, मुण्डा और उरॉव जनजाति आती है। भाषा के आधार पर इन्हें कोलारियन समूह में रखा गया है। कोलारियन जनजातियों की तुलना में संथाल एक स्थान पर अधिक दिनों तक कम हीं रहते थे। शिकार करना, जंगलों को काटकर खेती युक्त बनाना, अप्रयुक्त मिट्टी को जोत कर खेती योग्य बनाना और एक जगह से दूसरी जगह लगातार भ्रमणशील बने रहना, संथाली आदिवासियों के जीवन यापन की विशेषता थी। वह अपने इस यायावरी जीवन से संतुष्ट थे।[1]

संथालों की सामाजिक व्यवस्था दूसरे जनजातीय समाज की तरह आदिकालीन थी। इनके परिवार का स्वरूप पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय तथा पितृस्थानीय होता था। वैसे कन्या के जन्म को बूरा नहीं माना जाता था परन्तु विवाह के पश्चात् कन्यायें पराई समझी जाती थी। संथाल दूसरे आदिवासियों की तरह कई गोत्रों में बंटे होते थे। प्रत्येक गोत्र का अपना गोत्र चिन्ह् होता था जिसे टोटम कहा जाता था। यह टोटम पशु, पक्षी या पौधा के नाम पर होता था। जनजातिगण अपने टोटम की आराधना करते तथा अपने को इसका वंशज मानते थे। टोटम को मारना, कष्ट देना या खाना आज भी आदिवासियों के लिए सामाजिक निषेध है।[2]

संथाल समाज में महिलाओं का स्थान महत्वपूर्ण था यद्यपि पुरुषों की अपेक्षा उनका स्थान नीचा था फिर भी उन्हें परम्पराओं और रिवाजों के अनुरूप हर तरह के अधिकार प्राप्त थे।[3] दैनिक जीवन में सुविधा और क्षमता के अनुरूप पुरुषों और महिलाओं के कार्यों का विभाजन किया गया था।[4] घर एवं बाहर के कार्यों को सम्पादित करने में संथाल औरतें पुरुषों की तरह स्वतंत्र थी। दाह संस्कार में महिलाओं की भागीदारी वर्जित थी।[5]

जहाँ तक संथाल आदिवासियों के बीच शिक्षा के स्तर का सवाल है तो उनमें किसी भी तरह की औपचारिक शिक्षा का अभाव था। वह अपने माहौल से परम्पराओं और रिवाजों को सीखते हुए जीवन निर्वाह के पथ पर चलते थे। वस्तुत: पुराने जनजातीय समाज में औपचारिक शिक्षा अपेक्षाकृत एक आधुनिक अवधारणा है जिसमें ईसाई मिशनरियों के प्रयासों का योगदान है। अनौपचारिक शिक्षा के तौर पर युवाग्रह शैक्षिक संस्थान का काम करते थे।

दूसरे आदिवासियों उराँव, मुण्डा, हो आदि की तरह संथाल आदिवासियों के बीच भी आमतौर पर व्यस्क विवाह का प्रचलन था। उनके बीच के धनी एवं समृद्ध लोग ही उस समय अपने पड़ोस के क्षेत्रों में बसे हिन्दुओं के बीच प्रचलित विवाह प्रथा का अनुसरण कर रहे थे।[6] संथालों के बीच मुख्यत: छ: प्रकार के विवाह प्रचलित थे। 1. किरिंग बाहू; 2. धरदे जवाई; 3. किरिंग जवाई; 4. इतूत; 5. नीर बोलोक और 6. टुन्की दिलीप वाप्ला आदि।[7]

विवाह के इन तरीकों में किरिंग बाहु सबसे ज्यादा प्रचलित है। यह विवाह का परम्परागत तरीका था जिसमें बातचीत बतौर समझौता के द्वारा विवाह तय किया जाता था। किरिंग बाहु में वधू की कीमत देकर उसे अपने घर लाने की प्रथा थी।

दूसरा तरीका धरदे जवाई का था। इसका अर्थ है- सेवा के द्वारा किया गया विवाह। वधू मूल्य की अदायगी न कर पाने की स्थिति में वह अपने सास-ससुर की सेवा करता था तथा बदले में उसकी पुत्री को पत्नी के रूप में प्राप्त करता था। इस प्रकार के विवाह में वधु के लिए 'पोन' तो नहीं देना पड़ता था। लेकिन वर को पांच साल तक अपने ससुराल में रहकर काम करना पड़ता था। बाद में वर अपने वधू के साथ घर लौट आता था।

किरिंग जवाई तब होता था जब किसी लड़की का कुछ लोगों के साथ संबंध हो और वह गर्भवती हो जाए। ऐसी स्थिति में अपनी पत्नी के रूप में उस लड़की को स्वीकार करने वाले को मुआवजा के तौर पर कुछ राशि दी जाती थी।

विवाह के 'इतूत' तरीके में मध्यस्थों की जरूरत नहीं पड़ती थी। वस्तुत: यह प्रेम विवाह का एक तरीका था जिसमें लोगों को तब तक पता नहीं चलता था जब तक कि लड़का उस लड़की के माथे पर सिन्दूर लगाकर उसे अपनी पत्नी न बना ले। लेकिन इस तरह के विवाह को ग्राम-समाज की मान्यता तब तक नहीं दी जाती थी जब तक कि लड़का लड़की के घर वालों को मांझी के माध्यम से हरजाने की रकम नहीं चुका देता।

'नीर बोलोक' एक प्रकार का हठ विवाह था। इस प्रकार के विवाह में लड़की पहल करती थी। लड़की जिस लड़का से शादी करना चाहती थी उसके घर में जाकर जबर्दस्ती रहने लगती थी। लड़के के माता-पिता के अपमान किए जाने पर भी वह अपने परिवार में तब तक नहीं रहती थी जब तक कि लड़के के माता-पिता उसे बहु रूप में स्वीकार न कर ले।

'टुन्की दिलीप वाप्ला' गरीबों का विवाह था। इस विवाह में वधू को उसके घर से बिना किसी समारोह के वर के घर लाया जाता था। जहां वर के द्वारा वधू के माथे पर सिन्दूर लगाकर सिन्दूरदान की रस्म पूरी की जाती थी।

इसके अतिरिक्त विवाह का एक अन्य प्रकार था- संग बाप्ला। यह विधवा या तलाकशुदा महिलाओं के लिए प्रचलित था। इस प्रकार के विवाह में छोटे समारोह का आयोजन होता है। फिर एक खास फूल से वधू के माथे पर वर सिन्दूर लगाता है।[8] इस रिवाज से पता चलता है कि संथालों के बीच विधवा विवाह का प्रचलन था। लेकिन ऐसी स्थिति में वधू की कीमत किसी अविवाहित कन्या की तुलना में आधी होती थी।[9]

संथाल समाज आरम्भ से हीं महिलाओं और पुरुषों के सहयोग पर आधारित था। लेकिन संथाल समाज में स्त्रियों को किसी की जानकारी मिलनी चाहिए और किस तरह की नहीं, इस पर पुरुषों का अधिकार था। यह समाज के महिलाओं के दूसरे दर्जे की स्थिति को दर्शाता है।[10]

सामुदायिकता पर आधारित संथाल समाज में आपसी विवाह को सुलझाने के लिए 'लो-बीर' नामक एक जंगल परिषद् का गठन किया गया था। हालांकि आदिवासी समाज के विकास क्रम में लो-बीर एक परवर्ती संस्था थी। यह संस्था उस नए अभिजात्य वर्ग सोक या जनगुरू के अनुकूल था जिनपर आदिवासी समाज के मूल्यों को बनाए रखने तथा धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पादित करने का उत्तरदायित्व था।[11] इस अवस्था तक आते-आते संथालों के समाज में भी अन्य समाजों की तरह अभिजात्य वर्ग का उदय हो चुका था जो कई तरह के विशेषाधिकारों से सम्पन्न था। मांझी, परमनायक, जोगपरमनायक, कुदम नायक जैसे पदनामित अधिकारी इस वर्ग में आते थे।[12] समाज में इनका स्थान सबसे ऊँचा था।

संथाल समाज में ग्राम्य-समुदाय की व्यवस्था का अस्तित्व आरम्भ से हीं था।[13] इस अवस्था में गाँव का प्रधान सर्वोपरि होता था। जिसे मंडल या मांझी कहा जाता था। गाँव से सम्बंधित सभी कार्य इसी के हाथों सम्पन्न होता था। ग्राम-प्रधान की व्यवस्था संथालों की सामाजिक व्यवस्था और इसकी आंतरिक संरचना का आधार थी। यह संथालों की जातीय-अस्मिता की भावना के साथ गहराई से जुड़ी थी। हर गाँव या परहा का प्रधान मांझी होता था जिसे संथाल होरहोपोन कहते थे। संथाल परम्परा के अनुसार जब किसी स्थान को बसने के अनुकूल समझा जाता, उस जगह पर वह माँझी के नेतृत्व में बस जाते। इस तरह माँझी गाँव का नेता होता था जिसका चुनाव गाँव के लोग मिलकर करते थे। वह गाँव के अधिकारों, नियमों एवं उत्सवों का संचालक तथा प्रशासक था।[14] जैसा कि हाल के अध्ययन में बताया गया है कि स्थायी बन्दोबस्त के पूर्व जंगल-महल और इसके आस-पास को संथालों के कृषक समाज में माँझी अथवा मण्डली व्यवस्था लगभग एक स्वपर्याप्त व्यवस्था थी।[15]

सामाजिक तौर पर संथाल खुशमिजाज उत्साही और समारोहों को मानने की अपनी परम्पराओं को अक्षरशः पालन करने वाले लोग थे। ये लोग छोटी-छोटी खुशियों को भी मिलकर मनाते थे। संथालों की सामूहिक संरचना तथा सामाजिक मेल-जोल की परम्परा पूरी तरह से पैतृक सम्बन्धों पर आधारित व्यवस्था के अनुरूप थी। संगीत एवं नृत्य संथालों के जीवन का महत्वपूर्ण भाग था। इसमें स्त्री-पुरुष दोनों हीं समान रूप से भाग लेते थे। इन लोगों में मद्यपान का पर्याप्त प्रचलन था। घर-घर में चावल की बीयर बनाई जाती थी। आवासों, खेतों तथा जानवरों की रक्षा हेतु ये कुत्ते पालते थे।[16]

इस तरह कह सकते हैं कि जीवन की विषम परिस्थितियों जिनका सामना संथालों को अक्सर करना पड़ता था, का सामना करने के लिए हर प्रतिरक्षात्मक समाज की तरह बड़े हीं अनुशासन के साथ करते थे। संथालों में अपने सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अधिक अभिरुचि थी जिसके फलस्वरूप इनका परिवार एवं समाज अन्य आदिवासियों की तुलना में ज्यादा जागरूक और प्रगतिशील रहा है।

संदर्भ सूचीः

1. एफ॰बी॰बडले वर्टः दि स्टोरी ऑफ एन इंडियन उपलैण्डः लंदन 1905 – पृ. 21
2. उमेश कुमार वर्माः बिहार का जनजातीय जीवन, वाराणसी 1991, पृ. 23
3. पी॰सी॰राय चौधारीः डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, संथाल परगना, पृ. 891
4. पी॰सी॰राय चौधारीः डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, संथाल परगना, पृ. 891
5. चारूलाल मुखर्जीः दि संथाल्स कलकत्ता, II संस्करण 1962, पृ. 97
6. पी॰सी॰राय चौधारीः पूर्वोक्त पृ. 931
7. पी॰सी॰राय चौधारीः पूर्वोक्त पृ. 931
8. पी॰सी॰राय चौधारीः पूर्वोक्त पृ. 931
9. बी॰बी॰सिन्हाः सोसाइटी इन ट्राईबल इंडिया 1982, पृ. 145
10. पी॰सी॰राय चौधरीः इनसाईड बिहार 1962, पृ. 43
11. ए॰बी॰चौधारीः दि संथाल्स रिलिजन एण्ड रिचुअल्स 1987, पृ. 17
12. एच॰एच॰रिजलेः दि ट्राईब्ल एण्ड कास्टस ऑफ बंगाल भाग 1, पृ. 234-35
13. एफ॰डब्लू॰ रोबटर्सनः सेटलमेंट रिपोर्ट बांकुरा, कलकत्ता 1926, पृ. 08
14. एल॰एम॰एस॰ओ॰मेलीः बंगाल गजेटियर संथालपरगना 1910, पृ. 107
15. एस॰सी॰गुप्ताः एग्रेरियन रिलेशन एण्ड अर्ली ब्रिटिश रूल इन इंडिया
16. हरिशचन्द्र उप्रेतीः भारतीय जनजातियाँ 1995, जयपुर, पृ. 244

❊❊❊

हिन्दी साहित्य

युग प्रवर्तक प्रेमचंद

डॉ० बृजेन्द्र पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, मानव संसाधन विकास केन्द्र, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर

हिन्दी के युगान्तर साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कथाकार मुंशी प्रेमचंद युग-निर्माता, युग प्रवर्तक साहित्यकार हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कथाकार के रूप में इनका आगमन एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। कबीर, तुलसी और भारतेन्दु के बाद ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में प्रेमचंद का ही नाम आता है। हिन्दी साहित्य का बीसवीं शताब्दी में बहुत विकास हुआ। बीसवीं सदी के विश्व साहित्य पर विचार करते हुए तीन टीम लेखकों के नाम एक साथ लिए जायेंगे-रूस के मैक्सिम गोर्की, चीन के लू शुन और भारत के प्रेमचंद। संयोग से इन तीनों लेखकों का निधन 1936 में हुआ। तीनों मुख्यतः कथाकार थे और तीनों में यह समानता है कि उन्होंने अपने देश की जनता की मुक्ति के लिए अपनी साहित्यिक प्रतिभा का प्रयोग किया।''[1]

"इनके पूर्व हिंदी-कथा साहित्य रहस्य, रोमांच, जासूसी और तिलस्म की दुनिया में खोकर रह गया था। मनोरंजन ही उसका एकमात्र लक्ष्य रह गया था। प्रेमचंद ने आते ही हिन्दी-कथा साहित्य को जीवन के साथ जोड़ा और उसमें जीवन के बुनियादी सवालों को उठाया। उन्होंने देश की नब्ज पहचानी और अपनी कहानियों और उपन्यासों में दलितों, पीड़ितों, वंचितों, किसानों और खेतिहर मजदूरों से लेकर गाँवों की अनपढ़ गंवार औरतों, विधवाओं और वेश्याओं तक की पीड़ाओं और उनकी समस्याओं को उठाया। मानव जीवन के चित्रण को ही अपने कथा साहित्य में प्रमुख स्थान दिया। साहित्य को जनता के निकट लाकर प्रेमचन्द जी ने एक ऐसा कार्य किया जो हिन्दी साहित्य का दस्तावेज बना गया। भारतीय कथा साहित्य में उन्होंने क्रांतिकारी पथ प्रशस्त किया। उनके जीवनकाल में कोई विरोधी, आत्मनिष्ठ, व्यक्तिवादी परम्परा, हिन्दी कथा साहित्य में पनप न सकी।''[2]

छोटे-बड़े बहुत साहित्यकार थे। किंतु इतना सब होते हुए भी प्रेमचंद के कंधों से अधिक कोई हिन्दी साहित्यकार नहीं पहुँच पाया।

''वह एक युग निर्माता साहित्यकार थे। केवल साहित्य में युग को नाम देनेवाले नहीं बल्कि अपने समय के सामाजिक जीवन को एक नई गति और एक नई दिशा प्रदान करनेवाले।''[3] ''अमर कथा साहित्य की रचना के साथ-साथ उन्होंने युग-जीवन के सब पक्षों को स्पर्श किया। 'युग चेतन' को प्रबुद्ध करने के लिए 'जागरण' निकाला। भारतीय भाषाओं के साहित्य को एक दूसरे से परिचित कराने के लिए हंस, का प्रकाशन किया। स्वतंत्रता संग्राम में योगदान किया और प्रगतिशील आन्दोलन प्रारंभ किया।''[4] वे कहते हैं कि- 'कविता एकांत में लिखी जा सकती हैं। घास, फूल, तारे, निर्झर, नदी

आदि भी कवि को गंभीर अनुमति दे सकते हैं। परन्तु कथाकार जीवन के कोलाहल भरे मेले में शामिल होकर अपने आपको भीड़ का अंग नहीं बना लेता, तबतक कहानी नहीं लिख सकता।''[5]

साहित्यकार को दलित, पीड़ित और वंचित का पक्षधर होना चाहिए। सच्चा साहित्य व्यक्ति और समुदाय दोनों के लिए उपयोगी होता है। प्रेमचंद का साहित्य ऐसा ही साहित्य है। वे जनता के कथाकार है, उस हिन्दुस्तानी जनता के जो गांव में रहती है, जीवन भर कमरतोड़ मेहनत करती है। कर्ज के बोझ से लदी होती है और गरीबी की चक्की में पिसी जाती है। क्योंकि गरीबी को उन्होंने नजदीक से देखा था। गांधीजी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अंतिम घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया।

प्रेमचंद ने एक ऐसे संक्रमणशील काल में अपना जीवन बिताया जब आधुनिक जनतांत्रिक मूल्यों के साथ भारत को एक आधुनिक राष्ट्र की सकल दी जा रही थी। आचार्य द्विवेदी जी ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है कि- ''वे दरिद्रता में जन्में, दरिद्रता में पले और दरिद्रता में जुझते-जुझते समाप्त हो गये। फिर भी वे अपने जीवनकाल में समस्त उत्तर भारत के सर्वश्रेष्ठ कथाकार बन गये''[6]

शर्मा जी का भी कहना है कि - ''प्रेमचंद जी का साहित्य बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का सच्चा इतिहास है। हमारी जनता की सहृदयता, सहनशीलता और वीरता उनकी रचनाओं में फूल की तरह खिली हुई है।

'सेवा सदन' से 'गोदान' तक उन्होंने कथा साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद इस तरह विकसित किया, जिस तरह एक ही साहित्यकार बहुत कम कर पाता है। अपने यथार्थवाद से उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य के लिए वह राजमार्ग बना दिया जिसपर नई पीढ़ी के लेखक निर्भय होकर आगे बढ़ सकते हैं।

उन्होंने '**प्रगतिशील लेखक संघ**' के प्रथम अधिवेशन में लखनऊ में सभापति पद से भाषण देते हुए साहित्यकार के सम्बन्ध में कहा था कि ''वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं है, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सच्चाई है।''[7]

कथाकार प्रेमचंद एक ऐसी ही सच्चाई थे, देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सच्चाई नहीं। उन्होंने अपनी और उपन्यासों द्वारा अपने समय की राजनीतिक जीवन को एक नई गति एवं एक नई दिशा दी। वे निरंतर अपने को युग के अनुरूप ढालते गये। जब उर्दू में नबाब राय के नाम से लिख रहे थे, तब भी और उस समय भी जब वे हिन्दी में प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे थे।

कथाकार प्रेमचंद गांधीयुगीन आदर्शों से भी प्रभावित थे और आगे चलकर मार्क्सवादी विचारों के प्रबल समर्थक बने। उन्होंने ऐसे औपन्यासिक पात्रों और ऐसे कहानियों की सृष्टि की जो पूर्णतः गांधीवादी है। किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि उन्होंने लेखन का ऐसा महत्वपूर्ण दौर लाया जिसपर प्रगतिशील विचारधारा की स्पष्ट छाप है, बड़ी स्पष्ट है।

प्रेमचंद मुख्यतः ग्रामीण जीवन के कथाकार है। इनके कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन अपने संपूर्णता में चित्रित हुआ है।

''हंस' के जुलाई 1938 के अंक में निराला जी ने अपने प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य में उपन्यास, शीर्षक लेख में प्रेमचंद को हिन्दी का सबसे बड़ा औपन्यासिक, संज्ञा से विभूषित करते हुए लिखा है कि - प्रेमचंद जी ने ग्राम्य चित्रों को खींचने तथा मनुष्य-मन की छानबीन करने में असाधारण सफलता प्राप्त की है।''[8]

इनकी यह मान्यता थी कि भारत की आत्मा गाँवों में है। उनके युग में शहरी जीवन का जिस रूप में विकास हो रहा था, उससे वे सशंकित थे, पर उन्होंने नगरों के जीवन को भी अनदेखा नहीं किया। इसलिए उन्होंने 'गोदान' में ग्रामीण कथा के साथ-साथ शहरी कथा का भी समन्वय किया। प्रेमचन्द ने ग्राम्य-जीवन को कभी अप्रभामंडित नहीं किया, बल्कि उसकी विषमताओं हीन अवस्थाओं, दु:खों, विपन्नताओं और महाजनी शोषणों को गहराई से देखा और अपने कथा साहित्य में वास्तविक रूप को चित्रित किया। उनकी कहानियाँ ''सवा सेर गेहूँ, पूस की रात, कफन आदि तथा उनके उपन्यास 'रंगभूमि' और 'गोदान' उनकी इस जीवन दृष्टि को हमारे सामने स्पष्ट रूप में रखते हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य को जीवन-जगत की वास्तविकता की नींव पर खड़ा किया और उसे मानवेत्तर के बजाय मानवीय बनाया डॉ. नरेन्द्र मोहन के विचार द्रष्टव्य- ''वे पहले कथाकार थे, जिन्होंने 'महान' के बजाय 'लघु' को, असाधारण के बजाय साधारण को, अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया।'' उनकी कृतियाँ चाहे उपन्यास हो या कहानियाँ नायक संबंधी परम्परागत धारणा को अमान्य सिद्ध करती है। होरी, गोबर, सूरदास सुमन, रमानाथ, कादिर, अलगू, घीस, माधव, जोखू, बुधिया, सिलियों, सनीचरी आदि नाम प्रेमचंद की इस नई धारणा को ही व्यक्त करते हैं।

अपने प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' से 'गोदान' तथा अधूरे उपन्यास 'मंगल सूत्र' तक प्रेमचन्द निरन्तर एक जागरूक लेखक का दायित्व संभालते रहे। हिन्दी में आने के पूर्व उर्दू में वे अपनी कलम माँज चुके थे।

वेश्या जीवन पर आधारित 'सेवासदन' जमींदार विरोधी संघर्ष तथा प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न समस्या पर आधारित 'प्रेमाश्रय', नारी-समस्या पर आधारित निर्मला, नारी के आभूषण प्रेम एवं स्वतंत्रता-संग्राम पर आधारित 'गबन', जमींदार और किसान संघर्ष पर आधारित 'कायाकल्प'।

अपने उपन्यासों की तरह प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में भी अधिकतर आम आदमी की जिंदगी को विशेषकर ग्रामीण मजदूरों और किसानों की जिन्दगी को महत्व दिया।

इनकी कहानियों का विकास स्तर तीन दौर में है। प्रारंभिक दौर सन् 1907 से 1920 के बीच का है। पहली कहानी सन् 1907 में प्रकाशित हुई। प्रेमचंद की कहानियों का दूसरा दौर 1920-1930 के बीच रचित कहानियों का है। इस युग की कहानियों में प्रमुख है-'शतरंज के खिलाड़ी, 'शंखनाद', 'मुक्ति मार्ग', 'सवासेर गेहूँ', 'आत्माराम'।

इस युग की अधिकतर कहानियों स्वाधीनता आन्दोलन के विविध पक्षों को उजागर करती है।

इन कहानियों पर गांधीजी का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रेमचंद की कहानियों का तीसरा दौर 1930 से 1936 तक के बीच की कहानियों का है। इन कहानियों में प्रमुख है- 'पूस की रात', 'कफन', 'नशा', 'कुसुम' ये कहानियाँ इस बात की सूचक है कि प्रेमचंद का मोहभंग व्यापक स्तरों पर हुआ था। ये कहानियाँ विश्वास और आस्थाओं के टूटने की कहानियाँ हैं। इस टूटन के परिणामस्वरूप ये कहानियाँ करूणत्रासद में लिपटी हुई है।

प्रेमचंद की पहली कहानी 'दुनिया का अनमोल रत्न' से लेकर उनकी आखिरी दौर की कहानियों तक वे निरंतर विकास की प्रक्रियाओं में से गुजरते गये। इनकी कहानियों ने मंगलमय क्षितिज की ओर संकेत किया। प्रेमचंद का विश्वास था कि- ''ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य के सद्‌भावों को दृढ़ न करें या जो मनुष्य में कौतूहल का भाव न जागृत करें कहानी नहीं।'' किंतु उन्होंने मनुष्य को जगाया है। सच्चा साहित्यकार मानवता का पथ-प्रदर्शक होता है। वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्‌भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।

अपनी पूरी लम्बी कहानी यात्रा में प्रेमचंद जी स्वाधीनता के प्रति अपनी अवधारणा के दृष्टि को ही व्यक्त करते रहे। साथ ही सामाजिक और राजनीतिक चेतना से प्रभावित होते हुए सामान्य जन के जीवन को बेहतर बनाने की प्रक्रिया में वे सतत् प्रयत्नशील रहे। स्वराज्य के प्रति संघर्ष और सामान्य की प्रतिष्ठा इनकी समूची कहानी यात्रा का ध्रुवान्त है।

हिन्दी कथा-साहित्य के गौरवशिल्प प्रेमचंद आधुनिक युग के विश्व के श्रेष्ठ लेखकों में एक हैं। इनका कथा-साहित्य व्यापक विस्तार और अगाध गहराई लिए हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के बाद हिन्दी का दूसरा लोकप्रिय और जनता का साहित्यकार है तो वह प्रेमचंद हैं। इनके कथा-साहित्य में झोपड़ियों से लेकर महलों तक, गाँवों से लेकर नगरों तक, पाठशालाओं से लेकर कॉलेजों तक, खेत-खलिहानों से लेकर कारखानों तक, खोंमचोंवालों से लेकर बैंकों का दृश्य बड़ी सच्चाई से देखने को मिलेगा। आचार्य द्विवेदी के मंतव्य देखें- समस्त दुःख-सुख और सुझ-बुझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद के साहित्य की विकास-यात्रा को देखते हुए हमें कह सकते हैं कि कथाकार प्रेमचंद एक पेड़ की तरह हैं जो बाहर से हवा-पानी लेता हुआ लगातार फलता-फूलता है और फूल की सुगंध और फूल का रस विरहित करता है।''

संदर्भ सूची:

शीर्षक-

1. 'परम्परा आगे बढ़ रही है- 'प्रेमचंद जन्म शताब्दी 'परिचर्चा', साप्ताहिक हिन्दुस्तान विशेषांक पृष्ठ-20, डा0 नामवर सिंह 27 जुलाई 1980
2. ''परम्परा अधिक पुष्ट हुई'' परिचर्चा-प्रेमचंद जन्म शताब्दी विशेषांक, साप्ताहिक हिन्दुस्तासन 1980-डॉ. शिवादान सिंह चौहान, विशेषांक 27 जुलाई 1980
3. 'प्रेमचंद और उनका युग'-डॉ. रामविलास शर्मा
4. 'पुण्य-स्मरण' हिन्दुस्तान पत्रिका 27 जुलाई 1980-महादेवी वर्मा, प्रेमचंद विशेषांक का जन्म शताब्दी।
5. 'पुण्य-स्मरण-हिन्दुस्तान' पत्रिका-27 जुलाई 1980, प्रेमचंद जन्म शताब्दी, महादेवी वर्मा
6. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. 'कुछ विचार-साहित्य का उद्देश्य' प्रेमचंद, पृष्ठ-20
8. 'हंस' 1930 के अंक में निराला जी के प्रकाशित लेख 'हिन्दी साहित्य के उपन्यास'।
9. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'-आचार्य हजारी प्र0 द्विवेदी

❄❄❄

साहित्यकार चन्द्रकिशोर जायसवाल के 'सात फेरे' उपन्यास में सामाजिक परिवेश

सुनीता राजपूत

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

'सात फेरे' साहित्यकार चन्द्रकिशोर जायसवाल का बहुत ही रोचक उपन्यास है। रोचक इस अर्थ में कि लेखक ने स्थितियों को पात्रों के साथ जोड़ने का अद्‌भुत प्रयास किया है। उपन्यास में लोकजीवन और उसके विविध लिखित-अलिखित पक्षों का वर्णन इतना पठनीय है कि पूरी रचना पढ़कर ही पाठक को सन्तोष होता है। उपन्यास का सामाजिक परिवेश अपने आप में अनेक अच्छाइयां-बुराइयां लिए हुए है। उपन्यास की मूल कथा बिहार के 'फुलकाहा' गाँव की है जिसके केन्द्र में बैजनाथ मंडल नाम का व्यक्ति है जो चौथी बार विवाह करने के लिए तैयार है। उपन्यास मूलतः गाँव विशेष की कथा संजोए हुए है। इस कथा के माध्यम से एक बार फिर हमारा ध्यान ग्रामीण अंचलों की ओर आकर्षित हुआ है।

'सात फेरे' उपन्यास में सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत वर्तमान ग्राम्य जीवन के बदलते सन्दर्भों में जातिवाद, आर्थिक विषमताएँ, मानव मन को घेरती भ्रष्ट राजनीति गुटबन्दी रोजी-रोटी के सवाल, सरकारी तन्त्र की मनोवृतियाँ, टूटते-बनते रिश्तों की दुनिया, आम आदमी की व्यथा-कथा और नारी शोषण आदि के बीच छटपटाते जीवन मूल्य तथा गाँवों में अपनी पहचान खो रही इंसानियत का गहरा अहसास इस उपन्यास में व्यक्त हुआ है। गाँवों में उभरी नयी मानसिकता का समावेश इस उपन्यास की विशेषता मानी जा सकती है।

उपन्यास की शुरूआत गाँवों में व्याप्त रूढिवादिता एवं अन्धविश्वास से हुई है। उपन्यास में यह स्थिति तब देखने को मिलती है जब बैजनाथ की दूसरी पत्नी की बीमारी पर वह भूत प्रेत का साया मानते हैं। लेखक इस उपन्यास के माध्यम से यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि आज हम पर आधुनिकरण का प्रभाव होने के बावजूद हमारे गाँवों में अन्धविश्वास जैसी कुरीतियां फैल चुकी हैं।

'सात फेरे' उपन्यास में जातिगत वैशम्य और विद्वेष जैसे सामाजिक कुरीतियों का वर्णन लेखक ने बड़े व्यापक रूप में किया है। एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए गाँव के ब्राह्मण, यादव, राजपूत, शूद्र, चमार आदि के आपसी संघर्षों चालाकियों का भी अच्छा-खासा वर्णन किया गया है। उपन्यास में मुख्य रूप से इस तथ्य को उजागर किया गया है कि किस तरह अपनी भौतिक जरूरतों को पूरा

करने के लिए ब्राह्मण पलटू झा धोबी बनने को तैयार है "हो जाऊँगा धोबी। आप देख नहीं रहे हैं कि क्या हो रहा है इस जमाने में? कुटिल ब्राह्मण डोम चमार नेता को दंडवत प्रणाम कर रहा है या नहीं? कभी हुआ था कि ऐसा कोई ब्राह्मण किसी शूद्र के आगे सिर नवाये? अब ब्राह्मण और शूद्र में कोई फर्क नहीं रहा। जो पेट कहेगा वही करना होगा। जब डोम-चमार पंडित बन रहे हैं तो कोई ब्राह्मण धोबी बनने से क्यों परहेज करे।[1]

उपन्यास में ब्राह्मणों की मनोवृतियों पर भी करारा व्यंग्य किया गया है कि किस प्रकार आज के ब्राह्मणों का नैतिक पतन हो रहा है "आज के ब्राह्मण दो से तीन हुए नहीं कि मेंढक बन जाते हैं तीन मेंढ़क को एक जगह बिठाइए नही बैठेंगे। एक उछलकर इधर आएगा, एक उछलकर उधर जाएगा।"[2]

उपन्यास के केन्द्र में मूल रूप से गाँव है। आधुनिकता का प्रभाव पड़ने के बाद आज जो हमारे गाँव की स्थिति है वह बैजनाथ द्वारा वर्णित की गई है। बैजनाथ कहता है आज के गाँव में किसका किस पर विश्वास रहा है। सब विश्वासघात का सुख भोगने के लिए विवष है। आज हर व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए लगा हुआ है। किसी को भी एक दूसरे के सुख दुःख से कोई लेना देना नहीं। वही दूसरी ओर उपन्यासकार ने दिल्ली जैसे महानगरों में पैसा कमाने एवं इलाज के नाम पर डॉक्टरों हकीमों के हथकंडों का भी पर्दाफाश किया है। उपन्यास में सहदेव झा पलटू झा को सर्तक करते हुए कहते हैं।

"मैं दिल्ली के डाक्टरों को खूब जानता हूँ आपको भी सावधान कर देता हूँ कि यहाँ छींक के इलाज में भी दो-चार हजार का पुरजा थमा देता है डाक्टर। सिर्फ एक बार फँस तो जाइए।"[3]

राजनीतिक परिवेश पर सतर्क निगाह के साथ उसके छल प्रपंचों की बारीक-से-बारीक बातों को शब्दों में दर्ज करने की लेखक की बेचैनी कथानक को कलात्मक रूप देती है। सेवा दलों और रक्षक संगठनों के नाम पर चल रही गुंडागर्दी की वजह से निम्न मध्यवर्गीय समाज का ताना बाना छिन्न-भिन्न और तार-तार होता जा रहा है। पलटू झा का मानना है कि आज जो बड़े-बड़े नेता हैं उनमें कम ही ऐसे हैं जिन्होंने समाज सेवा की... और अभी जो समय आ गया है, उसमें समाज सेवा से कोई मेवा मिल भी नहीं रहा है। 'सात फेरे' उपन्यास में आज की राजनीति से रूबरू करवाया गया है उपन्यासकार का मानना है कि आज के अधिकांश नेता ऐसे हैं जिनके नाम दस-बीस खून हैं। इस तथ्य से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इन नेता लोगों ने अपनी तैयारी चोरी डकैती से शुरू की होगी तभी ये लोग इस स्थिति तक पहुँच पाए हैं।

प्राकृतिक विपदाओं के समय भी ये नेता राजनीति करने से बाज नहीं आते हैं इसका वर्णन उपन्यास में तब मिलता है जब बिहार के कोशी नदी में बाढ़ आती है। इस बाढ़ के कारण गाँव के गाँव तबाह हो जाते हैं। लोग कई-कई दिनों तक जीवन-मृत्यु के बीच झूलते रहते हैं। ऐसी स्थिति में सरकारी नीतियां एवं व्यवस्था अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगी रहती हैं। नेता लोग हवाई जहाज में बैठकर स्थिति का निरक्षण करते हैं परन्तु राहत का कोई भी सामान जनता तक नहीं पहुँचाते हैं। लोगों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

उपन्यास में एक और महत्वपूर्ण समस्या का वर्णन लेखक ने किया है वह है नारी शोषण। बाढ़ के समय स्थिति ऐसी है कि भूखमरी के कारण गरीब माँ-बाप अपनी लड़कियों को बेचने पर मजबूर

हैं। अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए उनके पास दूसरा रास्ता ही नहीं है। इनकी दयनीय हालत का एक उदाहरण–

"पूर्णिया से नौगछिया तक ढेर सारे ऐसे गाँव हैं जहाँ गरीब लोग ब्याह के नाम पर बेटियाँ बेच रहे हैं। किसी-किसी गाँव की तो पचास बेटियों को इस तरह विदा कर दिया गया है... ढेर सारे ऐसे दलाल घूम रहे हैं जो दुल्हन की माँग पूरी करते हैं। ये ब्याह के नाम पर लड़कियाँ खरीदते हैं और फिर बेचते हैं।"[4]

साहित्यकार चन्द्रकिशोर जायसवाल ने 'सात फेरे' उपन्यास में इस समस्या पर भी दृष्टि डाली है कि बाढ़ की स्थिति का फायदा उठाते हुए नेता लोग नारी का बाजारीकरण करते हैं। नेता अपनी पार्टी को मजबूत करने के लिए अथवा मतदाताओं का मनोरंजन करने के लिए बाढ़ में बहकर आई हुई उन लड़कियों का इस्तेमाल करते हैं। हर साल ढेर सारी लड़कियाँ बाढ़ में बहकर आती हैं। जिन लड़कियों के गाँव घर पानी में बह गये होते हैं माँ-बाप डूबकर मर चुके होते हैं वे बाजारों में आकर बिक जाती हैं। जब सूखा पड़ता है और सूखा अकाल लेकर आता है तब भी कितनी ही लड़कियाँ जिन्हें गाँव में काम के बदले अनाज नहीं मिलता, अनाज के बदले अपने को बेचने के लिए गाँवों से भागती हैं। बाढ़ के कारण कभी-कभी तो भूखे माँ-बाप भी अपने बच्चों को बेचने के लिए खरीददार ढूँढने लगते हैं।

'सात फेरे' उपन्यास में अन्धविश्वास भी देखने को मिलता है। आज जब हम इक्कीसवीं शताब्दी में जी रहे हैं परन्तु हमारे गाँवों और कस्बों में अन्धविश्वास ने अपनी पकड़ मजबूत की हुई है। उपन्यास में चन्द्रमोहन ऐसा व्यक्ति है जो लोगों को अन्धविश्वास के जाल में फँसाता चला जाता है। वह लोगों के शारीरिक रोगों को शनिदेव के प्रकोप के साथ जोड़ता है "विशेषज्ञ बनते ही मैंने गाँव-गाँव जाकर गाँववालों को शनिवार व्रत कथा सुनाना शुरू किया। उन कथाओं में लोगों को बताने लगा कि शनि की कैसी ताकत है और उसका कैसा प्रकोप है। शनि के प्रकोप से कितने रोग हो सकते हैं इसकी जानकारी मैं उन्हें देने लगा। इन सबका अच्छा असर हुआ। शनिकृत रोगों के रोगी ढेर संख्या में मेरे पास आने लगे और मैं उनका इलाज करने लगा। आपको बता दूँ, बैजनाथ बाबू कि इलाके के कई डाकू भी मेरे जजमान हैं। दस्युओं के संरक्षक भी तो शनिदेव ही हैं न।"[5]

ब्राह्मण जाति की अत्यधिक महत्ता और कट्टरता के कारण समाज अपने कार्यों की पूर्ति हेतु तंत्र-मंत्र जैसी साधनाओं की चपेट में आ गया है। लोग जादू-टोने तंत्र-मंत्र और ओझे सयाणों में विश्वास करने लगे हैं उपन्यास में ऐसा प्रसंग तब सामने आता है जब रतनी गोदपरनी नोट्टन जादूगरनी के बारे में बताती है।

"अगर कोई युवक उसे पसन्द आ जाता है तो वह उस पर जादू चला देती है और उसे अपने रूप के जाल में फँसाकर अपने साथ लिये चली जाती है। जानते हो रीतू गोदपरनी नट्टिन उसे दिन में भेड़ बनाकर रखती है और रात में पुरुष बना लेती है। गाँव के सारे युवक घरों में बन्द कर दिये गये हैं।"[6]

उपन्यास में सामाजिक परिवेश के अंतर्गत चन्द्रकिशोर जायसवाल ने 'फुलकाहा' गाँव में विवाह की रस्म का चित्रिण बड़े मनोहर रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दू धर्म में अग्नि को साक्षी मानकर वर वधू सात फेरे लेते हैं। उपन्यास का प्रमुख पात्र बैजनाथ का विवाह भी इसी रस्म के अंतर्गत देखने को मिलता है।

"जब सातफेरी शुरू हुई और वर-वधू अग्नि की परिक्रमा करने लगे तब खूब चहकती आवाज में लवा छिटाई का गीत गाया जाने लगा। लाबा छिटु लाबा छिटु... गीत को ध्यानपूर्वक सुनने के साथ ही बरातियों ने वर-वधू को अग्नि कुड की परिक्रमा करते हुए भी बड़े ध्यान से देखा।

लोकगीत, हमारी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। आयोजन चाहे कोई भी हो लोकगीत उसमें अपना अलग महत्व रखते हैं। पूजा के समय भजन, जन्म के समय शादी के समय अनेक लोकगीत गाये जाते हैं। लोकगीतों में हमारी संस्कृति झलकती है। बैजनाथ की शादी में 'फुलकाहा' गाँव की भजन-मंडली ने दुलहा और बराती के स्वागत में एक गीत गाकर सुनाया–

जय लँगड़ेश्वर जय लँगड़ेश्वर
औढर ढरे हमारे ऊपर
जो सुख कभी न मिल पाता
सारी दुनिया की दौलत पाकर
उससे बढ़कर सुख पाया
लाली बेटी को पार लगाकर
जय लँगड़ेश्वर जय लँगड़ेश्वर

इस प्रकार सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत लेखक ने अन्धविश्वास, जादू-टोने, बाढ़ की समस्या राजनीति में भ्रष्टाचार, स्त्री तस्करी, आर्थिक विषमता, रीति रिवाजों का ताना-बाना जैसे कठोर यथार्थ को निरे खुले शब्दों में कहने का जो प्रयास उपन्यासकार ने किया है वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। बावजूद इसके कथानक में बहुत अधिक बिखराव, पात्रों की बहुलता एवं हास्यास्पद तथा अनावश्यक किस्सों की भरमार उपन्याास में नीरसता उत्पन्न करती है उपन्यास में अगर शिल्प की बात की जाए तो अधिकांश संवादों में भाषा की बनावट कमजोर लगती है पर व्यंग्यात्मक संवादों में जरूर कहीं कहीं चुटीलापन है।

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि उपन्यास के केन्द्र में बैजनाथ और पलटू की भूमिका है जो अपने तमाम भ्रमों, क्षुद्रताओं, मजबुरियों और कमजोरियों के साथ विश्वसनीय चरित्र बनकर एक दलदली समाज की तस्वीर पूरे यथार्थ रूप में हमारे सामने रखते हैं।

संदर्भ सूचीः

1. चन्द्रकिशोर जायसवाल, सात फेरे, पृ. – 319, 320
2. चन्द्रकिशोर जायसवाल, सात फेरे, पृ. – 325
3. चन्द्रकिशोर जायसवाल, सात फेरे, पृ. – 715-716
4. चन्द्रकिशोर जायसवाल, सात फेरे, पृ. – 634
5. चन्द्रकिशोर जायसवाल, सात फेरे, पृ. – 334
6. चन्द्रकिशोर जायसवाल, सात फेरे, पृ. – 132
7. चन्द्रकिशोर जायसवाल, सात फेरे, पृ. 823

❄❄❄

हिन्दी साहित्य

मीडीया के परिपेक्ष में हिंदी

डॉ० विजया जगन्नाथ पिंजारी

यशवंतराव चव्हाण महाविद्यालय पाचवडता. वाई, जिल्हा. सातारा. (महाराष्ट्र)

बीसवी सदीने मानव और मीडीया दोनों को उन्नती की नइ नईराहे प्रदान की है। इक्कीसवी सदीने उन्हें चरम सीमा पर पहुँचाया है। आज मीडीया के साधनों ने विविध आयाम को जन्म दिया। मीडीया आज बाजार की आवश्यकता है और हिंदी मीडीया की आवश्यकता है। अब हिंदी का नीति नियंता केंद्र सरकार का राजभाषा विभाग ही नहीं बल्की मीडीया भी कहना होगा। वेबसाईटों का हिंदीकरण होते जाना इलेक्ट्रानिक मीडीया पर हिंदीके नये जलवे को दर्शाता है। इसलिये आज मीडीया के परिप्रेक्ष्य में उसका सामर्थ्य और सीमाओं तथा दिशाओं एवं संभावनाओं को जानना अधिक उचित एवं उपयुक्त होगा।

मीडीया के भेद

1. मुद्रित संचार माध्यम-नियतकालिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, दैनिक, त्रैमासिक, नियतकालिक इसके अंतर्गत आते हैं।
2. इलेक्ट्रानिक संचार माध्यम-
   - अ) श्रव्य संचार माध्यम-रेडिओ, टेपरेकार्ड, आडियो कसेट इसके अंतर्गत आते हैं।
   - ब) द्रृक संचार माध्यम-फिल्म, दुरदर्शन, वीडीयो संगणक, इंटरनेट, ई-मेल, दुरध्वनि, भ्रमणध्वनि, इे-का मर्स इसके अंतर्गत आते हैं।

मीडीया की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धी हो रही है। आज इसकी संख्या अतित की तुलना में ज्यादा हो रही है। जिनका हिंदी से उत्तरोत्तर संबंध बढता जा रहा है।

आवाज की दुनिया में रेडिओं और हिंदी-

मीडीया के क्षेत्र में हिंदी ने अपनी अहमियत बरकरार रखी है। रेडिओं की उपयोगिता एवं लोकप्रियता दैनिक समाचार, बाजार समाचार, नाटक, लघुनाटक, साक्षात्कार संगित, क्रिडा, समालोचन, साहित्य, समाज और संस्कृति विधयक विभिन्न कार्यक्रमो के कारण बढती गई। रेडिओ के देशभर में सर्वाधिक श्रोता बनें हैं। अकेली दिल्ली में प्रति व्यक्ति श्रोताओ का झुकाव टीवी के 139 मिनट प्रतिदिन की तुलना में रेडिओ के पक्ष 118 मिनट आकलित किया गया है। रेडिओ के जरिए हिंदी ने भौगोलिक सीमाओं को भी पार किया है। इसके माध्यम से वह विदेशो मे भी पहुँच गई। बी. बी. सी. लंदन तक हिंदी ने रेडिओ के माध्यम से शाखा फैला दी। आवाज के दुनिया के इस दोस्त ने ना केवल हिंदी के वर्तमान को सुगठीत बनाया बल्की उसका भविष्य उज्वल बनाने मे भी योगदान किया है।

लोकाचार का आईना समाचार पत्र और हिंदी-

मीडीया के क्षेत्र में सब जगह और सभी विषयों को लेकर समान रूप से पहुँचने, संचार करनेवाला पत्र समाचार पत्र कहलाता है। समाचार पत्र के हिंदी के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। साहित्यिक, आँचलिक, बोलचाल की, परिनिष्ठता, प्रादेशिक और विदेषी भाषाओं से प्रभावित आज का कुछ पाठक वर्ग समाचार पत्र का सही टॉनिक है। 5 से 35 के बीच का पाठक ही समाचार पत्र को सही जीवनसत्व देनेवाला वर्ग है। जो दैनिक समाचार पत्र के साथ 20-25 साल तक जुडता है। हिंदी मे कई साहित्यिक पत्रिकाएँ है। जैसे-कथादेश, नया ज्ञानोदय, पुनर्नवा, हंस आदि। यह बात अलग है कि आज दैनिक समाचार पत्र की भाषा व्याधियुक्त होती है। अगर शुद्ध भाषा का प्रयोग होता तो सोने मे सुहाग होता।

ध्वनि एवं दृश्य का जादुई प्रदर्शन, दुरदर्शन और हिंदी

मीडीया के क्षेत्र में दुरदर्शन आधुनिक कालीन कल्पवृक्ष की भुमिका में दिखाई देता है। शहरों, नगरों, महानगरों की गंदी बस्तीयों मे भी दुरदर्शन की जादुई शिरकत चकित कर देगी। रिमोट के बटन दबाते ही मनचाहे चौनेल और मनचाहे कार्यक्रम के साथ हर रूची का खयाल रखनेवाला दर्शक को बाँधकर रखनेवाला यह मीडीया का माध्यम आज सर्वाधिक लोकप्रिय है। विज्ञापनो की स्थिति तो मानो ऐसी हुई है जैसे हिंदी नहीं तो विज्ञापन नहीं।

टि.व्ही.पर हर चिज का विज्ञापन लक्स, संतुर, कोलगेट, सिबाका, व्हीको सबके सब अपने अपने काखानों और दुकानों में मानो ऐसा स्वर हैं, हिंदी के बिना बंदी है, जैसे ढुँढतें रहे जाओगें, ठंडा मतलब कोकाकोला। दुरदर्शन सारे धारवाहिक, चॅनल, या विज्ञापन, या प्रायोजित कार्यक्रम हो हिंदी को अपनाना अब मानो एक मजबूरी बन गया हैं। क्योंकि बिना हिंदी के यह सारी बाते बन तो पाती हैं लेकिन उतनी प्रभावी नहीं जितनी प्रभावी बननी चाहिए। ध्यान देने पर एक बात स्पष्ट होती हैं दूरदर्शन पर जितनें कार्यक्रम एवं चौनल हैं उनमें हिंदी के चौनल और कार्यक्रम अधिक हैं।

हिंदी को जन जन तक पहुँचाने में इसका योगदान नकारा नहीं जा सकता। यह अलग बहस का मुद्दा होगा कि इसने हिंदी को बनाने में योगदान दिया। साथ ही साथ कुछ मात्रा में बिगाडा भी।

सपनों की दुनिया का इल्मः फिल्म और हिंदी

फिल्म मीडीया का अत्यंत मोहक मार्ग हैं। इसमें वह शक्ती है जो ढाई तीन घंटो में विशाल जीवनपट को खोल देती हैं। हिंदी को जनजन तक पहुँचाने का कार्य जितना इस साधन ने किया उतना शायद ही किसी साधन ने किया होगा। हिंदी का ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त व्यक्ति जितना हिंदी का प्रचार प्रसार नहीं कर पाया उससे भी अधिक प्रचार एवं प्रसार करने का कार्य हिंदी फिल्मों, अभिनेता, अभिनेत्री, गायक, गायिकाओं ने किया हैं। वह एक साथ समाज के विविध लोगों बच्चो, बुढे, अमिर, गरीब, औरत, मर्द, हिंदू मुसलमान सब को साथ दिखाई देता है।

कई साहित्यिक रचनाओं पर हिंदी फिल्में बनी है। तिसरी कसम, झिल के उसपार, दामिनी, वॉटर, दुसरा आदमी, द बर्निंग ट्रेन, मि.नटवरलाल, डाकबंगला आदि। फिल्में जैसे मनोरंजन का साधन हम मानते हैं। उसीप्रकार हिंदी को जनसाधारन तक ले जाने का तथा हिंदी को जनता के सरपर आँखोंपर सजाने का काम भी हिंदी ने तथा फिल्म जैसे मिडीया के साधन ने किया है।

सूचना एवं प्राद्योगिकी और हिंदी

बिना आय.टी.आय.ज्ञान के आज हर कोई पिछडा हुआ सद्धि होता है। आय.टी. के जो मुख्य अंग है जैसे संगणक, इंटरनेट, ई मेल, वाईस मेल, फॅक्स आदि उनमें अंग्रेजी के साथ स्पर्धा करने में हिंदी को पीछा नहीं हटना होगा। अब हिंदी में सॉफ्टवेअर बन रहे है। इंटरनेट पोर्टल बन रहे हैं। नेटसाईट का निर्माण किया जा रहा हैं। आज सूचना एवं प्राद्योगिक के विभिन्न उपकरणों में हिंदी को भले ही प्रेम के साथ न अपनाकर उसकी व्यवसायिकता को देखकर अपनाया हो। इससे मीडीया के इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों मे हिंदी का प्रवो उसके भविष्य के लिए सुखद सिद्ध हुआ है।

मोबाईल फोन आय.टी का अभिन्न अंग है। जिस पर हिंदी का प्रयोग सुलभ हुआ है। मेलजोल और वेब दुनिया जैसे हिंदी मेल पोर्टल ने अपनी जडें जमा ली हैं। एम.एस ऑफिस नामक सुप्रसिद्ध पॅकेज का हिंदीरूपांतर मायक्रो सॉफ्ट बाजार में उतारा है। निजी क्षेत्र सॉफ्टवेअर के निर्माण में दिलचस्पी ले रहा है। फिर भी संपूर्ण आय.टी. क्षेत्र में हिंदी का असली जलवा क्या होगा भविष्य ही बतलाएगा।

ई कॉमर्स और हिंदी

यह इंटरनेट के जमाने का एक और महत्वपूर्ण कदम हैं। जहाँ व्यापारी और उपभोक्ता की आवश्यकता की पूर्ती के प्रयोजन ने ई कॉमर्स को जन्म दिया है। अब विज्ञान, तकनीक, शिक्षा, स्वास्थ, जीवनशैली, मनोरंजन, अर्थ, व्यापार एवं साहित्य जैसे क्षेत्रो में इंटरनेट तथा ई मेल की दखलंदाजी को भूला नहीं जा सकता। अब ई कॉमर्स से घर बैठे बस, रेल एवं हवाई जहाज के

टिकट ही नहीं मंगवाई जा सकती है बल्कि सिनेमा के टिकट, राशन, सब्जी, दवा, एवं मिठाई भी मंगवाई जर सकती है। इससे दलालो से बचाव होता है।

अब ई कॉमर्स से अच्छी उपभोक्ता सेवा पायी जा रही है। यह बात अलग है कि हिंदी की अपेक्षा इसमे आज अंग्रेजो का प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

मीडीया के इस साधन ने और बदलाव ने बहोत बडा परिवर्तन किया है। फिर भी मीडीया के इस साधन को हम अनदेख नहीं कर सकते। आज हिंदी सॉफ्टवेअर का निर्माण और प्रयोग होना आवश्यक है जो इंटरनेट एवं ई कॉमर्स की सेवा का माध्यम बन सके। मीडीया के इस साधन की उपदेयता तब अधिक सुखद होगी जब इसमें हिंदी का प्रयोग होगा। उस दिन की प्रतिक्षा है।

एक समय था कब और किससे करे तक के सारे फैसले उम्र के 35, 35 साल पार करने वाला व्यक्ती माँ बाप पर सौंपता था। आज 15 साल का लडका भी स्वयं निर्णय का अधिकार चाहता है। यद्यपी कानून उसे 18 साल के बाद इसका अधिकार देता है। अब ऐसी सजग एवं सतर्क पीढी उभर रही हैं। जो आत्मचेतना और आत्मकेंद्रितता से युक्त है। यह पीढी उतनी ही व्यवहारिक बनती जर रही है। इसे भूला नहीं जा सकता यही वह पीढी है जो आज रोजी रोटी देनेवाली भाषा को अपना रही है। अब हिंदी को हमें रोजी रोटी के साथ जोडना होगा। यह स्वतंत्र विमर्श का विषय है। आज की युवा पिढी को राजभाषा से ज्यादा राजभाषा को सिखना क्यों व्यवहारिक लगता है। उसकी व्यवहारीकता और मानसिकता पर हिंदी का वर्तमान एवं भविष्य निर्भर होगा।

मीडीया की हिंदी: दिशाएँ एवँ संभावनाएँ

1. वर्तमान और भावी काल सूचना एवं प्राद्योगिक है। अत: हिंदी को तदनुकूल बनाने हेतू सुनियोगित प्रयास के लिए कोई विकल्प नहीं होगा।
2. ऐसे समिती गठन हो जो आय.टी. के अनुरूप हिंदी ढालने का निरंतर कार्य करती रहे। यह भार भाषा के विद्वानों और आय.टी. के विशेषज्ञों को सौंपना अधिक उपयोगी होगा।
3. मीडीया के इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के लिए हिंदी की सरल सुगम पारिभाषिक शब्दावली बनाई जाए। यह करते समय बोलचाल की भाषा से परहेज ना करे।
4. सभी मीडीया के माध्यमों पर भाषा सलाहकार: समन्वयक जैसा पद हो जिसपर संबंधित विषय एवं भाषा के विशेषज्ञ की नियुक्ति की जाए। ताकि भाषिक प्रदूषण के नामपर चिल्लाने वालों को अवसर नहीं मिलेगा।
5. इसमें प्रादेशिक भाषा के शब्दो को भी स्वीकृत किया जाय ताकि हिंदी से प्रादेशिक भाषाओं का मेलजोल बढ जाएगा और हिंदी समृद्ध होगी।
6. जो लोग हिंदीकी रोटी खाते हैं। वे हिंदी के प्रचार एवं प्रसार में योगदान कर प्रतिबद्धता, अस्मिता, ईमानदारी, का परिचय दे दे। तब हिंदी का रास्ता निश्‍चित प्रशस्त होगा।
7. लोग अपने देश की राजभाषा हिंदी का प्रयोग करने में हीनता की मानसिकता को छोडदे। खुद हिंदी को अपनाए और औरों को अपनाने के लिए प्रवृत्त करे इससे हिंदी के विकास में अवरोध नहीं होगा।
8. प्रादेशिक भाषाओं की तरह अंग्रेजी के बहुप्रचलित शब्दों को अपनाने में भी परहेज न हा ेक्योंकि दुर्बोध और जटिल संस्कृत के शब्दों की अपेक्षा सुबोध तथा सरल अंग्रेजी शब्द संप्रेषण में अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए हैं।
9. जो मिडीया की हिंदी की आलोचना का अधिकार चाहता है वह सहज सुलभ हिंदी की संभावनाओं को सुचित करने के फर्ज से भी न मुकर जाए। तब हमें हिंदी के भविष्य कों लेकर, अल्ला जाने क्या होगा आगे? जैसी चिंता से मुक्ती मिलेगी।

समन्वित निष्कषा

मिडीया के परिपेक्ष में हिंदी पर विचार करते समय गंभीरता से सोचना होगा किमूल सवाल भाषा की शुद्धता का है या उसकी प्रयुक्ति अथवा मुक्ति का? यह सही हैं कि भाषा प्रयुक्ति में अक्षम्य लापरवाही पर अंकुश रखने से उसे बिगाडने से बचा सकते है। हिंदी को वैज्ञानिक अविष्कार की भाषा बनाना तथा वाणिज्य के अलावा विज्ञान और प्रशासन में उसे स्त्रोत भाषा के रूप में स्थान देना हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए। क्योंकि राजभाषाहिंदी की स्थिति उस दासी रखैल की संतान की तरह ही रही है। जिसे वसीयतनामें के अनुसार अपने अमीर पिता की जायदाद में अधिकार तो मिला लेकिन उत्तराधिकारी तो पटटरानी का राजकुमार ही बना रहा।

कौन नहीं जानता की राजभाषा के रूपमें हिंदी जितनी उपेक्षित रही, जन-भाषा के रूप में आज उसका कोई हाथ नहीं छू सकता। मीडीया ने उसमें अहम भूमिका निभाई। बस, अब मिडीया का उपयोग उसे राजभाषा के रूप मेंस्थापित करने में होगा तो उस राष्ट्र का भी कल्याण होगा, जिसके हम नागरिक है। क्योंकि मीडीया ऐसा साधन है जिसमें अधिकार से वंचित हिंदी को रूपमेंस्थापित

करने की शक्ति है। अब देखना यह है कि जिन हाथों में मीडीया की ताकत है वे हिंदी को अपना अधिकार दिलाने में कितनी कारगर भूमिका निभाते है? अगर ऐसा होगा तो शायरी के अंदाज में कहना पडेगा।

"जिसे मिले स्वाती के बूँदो की राशी
उसेसावन के बूँदो। से क्या वास्ता?"

संदर्भ सूची -

1) मीडियाकालीन हिंदी: स्वरूप एवं संभावनाएँ -डॉ. अर्जुन चव्हान।
2) वागर्थ मासिक -जुलाई 2004, कोलकाता।
3) नवभारत टाईम्स- जुलाई 2004, बंबई।
4) हंस मासिक - 14 मार्च 2004, नई दिल्ली।
5) हंस मासिक - 12 अप्रेल 2004, नई दिल्ली।
6) जनसंचार माध्यमदूरदर्शन और हिंदी शोध निबंध से - डॉ. अर्जुन चव्हान।
7) प्रशासनिक शब्दावली अग्रेजी - हिंदी, भूमिका -भारत सरकार, नई दिल्ली 2002।

❄❄❄

राम की शक्ति पूजाः एक सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक प्रासंगिक रचना

ब्रजेश कुमार तिवारी

एम.ए. (हिंदी), नेट

परिपेक्ष्य

निराला एक कालजयी रचनाकार हैं और इसी कालजयी रचनाकार की एक अप्रतिम कृति है 'राम की शक्ति पूजा'। जब से इस कविता की रचना हुई, तब से न जाने कितने आलोचकों की कसौटियों पर इस कविता को परखा गया। आलोचकों के कितने प्रहारों और वाणों का सामना करना पड़ा, कितने घात-प्रतिघात सहने पड़े। इतने थपेड़ों और झंझावातों को झेलने के बाद भी यह कविता निर्जन में, शून्य में खोकर विलीन न हो गयी। अपितु कुन्दन की तरह निखरकर, अपने और अधिक दिव्यमान रूप में प्रकट हुई। यही इसकी सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता और सार्वदेशिकता का प्रमाण है। यही वजह है कि इसे 'आधुनिक राम चरित्र मानस' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इस कविता में निहित शक्ति की मौलिक कल्पना का सूत्र, परंपरा का महत्व, अनुभव की व्यापकता, हृदय और बुद्धि का सामंजस्य, विपरीत परिस्थितियों में भी आशा का संचार, विजय के लिए पर्याप्त तैयारी, दूर दृष्टि, देश मुक्ति तथा नारी मुक्ति, आंदोलन की सफलता के लिए सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व की अनिवार्यता, विनम्रता की उपयोगिता, अहंकार का त्याग, आदि के साथ अंत में सत्य की विजय ही इसे हर युग और स्थान के लिए इसे प्रासंगिक बनाती है।

विश्लेषण

इस कविता में महाशक्ति को रावण के साथ देखकर राम विचलित हो गये हैं उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अब विजय संभव नहीं है। इसी परिस्थिति में राम को जाम्बवान सलाह देते हैं:

'शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो रघुनन्दना।'

अर्थात् शक्ति की कल्पना मौलिकता में ही संभव है, अनुकरण में नहीं। दूसरी बात कि बिना पर्याप्त तैयारी के कोई भी समर नहीं लड़ना चाहिए। जाम्बवान उनको भी उसी शक्ति को धारण करने को कहते हैं, जिस शक्ति को रावण धारण किये हुए है। यह पूजा उस जनशक्ति को अपने पक्ष में करने का उद्यम है जिसको साथ लिए बगैर कोई भी मुक्तिकाली नेतृत्व लड़ाई नहीं जीत सकता। इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों का साक्षी है। उदाहरणस्वरूप, फ्रांस की पूंजीवादी क्रांति हो, या रूस की अक्टूबर क्रांति या चीन और वियतनाम का मुक्ति संगाम या भारत का स्वतंत्रता संघर्ष हो, इनमें

विजय उसी बिंदु पर संभव हुई जब वर्गो का संतुलन मुक्ति की ताकतों के पक्ष में हो गया। आज जब शोषक वर्गों के नेता और उनके दल झूठे वायदे करके या अविद्या फैलाकर इस जन-शक्ति को भरमाये हुए हैं, जनता को अपने रचे हुए मायाजाल में फँसाकर, उनका शोषण कर रहे है, तब शक्ति की यह मौलिक कल्पना ही किसी योग्य और कुशल व्यक्तित्व के नेतृत्व में इस शोषण से मुक्ति दिला सकती है। अध्यात्मिक दृष्टि से भी देखा जाये तो शक्ति का संधान किसी अन्य के पदचिह्नों पर चलकर संभव नहीं है। इसके लिए स्वयं मार्ग का निर्माण करना पड़ता है। यह 'अप्प दीवो भव' और 'आत्म संभला' है। आज के अधिकांश लोग जब नकल करके और पूरी तैयारी के बिना, शार्ट-कट रास्ते से जब सब कुछ हासिल करने की तमन्ना में असफल होकर तनाव और कुंठा के शिकार हो रहे हैं, उनके लिए निराला की यही दृष्टि आदर्श हो सकती है।

सुग्रीव, विभीषण सभी सलाह देते है पर वृद्ध जाम्बवान ही सबसे उत्तम सलाह देते है। जाम्बवान के सलाह को अधिमान दिलाकर निराला ने अनुभव की व्यापकता के महत्व को दर्शाया है। अनुभव कभी भी अप्रासंगिक नहीं होता। वर्तमान समय में अधिकांश बुजुर्ग उपेक्षा के शिकार हो रहे है। आज का युवा वर्ग बड़े-बूढ़ों को पर्याप्त महत्व नहीं दे रहा है, उन्हें बोझ समझकर उपेक्षित कर रहा है। इन युवाओं के लिए यह प्रसंग पथ प्रदर्शक का कार्य कर सकता है।

परंपरा में जीवन के धनात्मक मूल्य होते है। पूजा अंतिम चरण में है, सिद्धि प्राप्त होने वाली है। दुर्गा छिपकर आती है और पूजा का अंतिम इंदीवर उठा कर ले जाती है। हाथ बढ़ाने पर कमल न मिलने पर राम आँख खोलते है तो उस स्थान को रिक्त पाते है। आसन छोड़ना असिद्धि होगी। उनको लगता है–

'जानकी! हाय उद्वार प्रिया का हो न सका।' अर्थात् अब सीता का उद्वार नहीं हो सकेगा। तभी उनके मन में आशा का संचार होता है–

''बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति हतचेतन।''
उनको इस स्थिति में उपाय सूझता है:
कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन!
दोनील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरणं
पूरा करता हूँ देकर मात: एक नयन।''

इसके बाद वे बाण लेकर अपनी एक आँख चढ़ाने के लिए तैयार हो जाते है। इन पंक्तियों के माध्यम से निराला ने परंपरा के महत्व तथा हृदय ओर बुद्धि के मध्य सामंजस्य एवं संतुलन की बात की है।

परंपरा में ही राम को उपाय मिलता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक टी.एस.इलियर ने भी व्यक्ति के महान बनने में व्यक्तिगत प्रतिभा के साथ परंपरा के दाय को अनिवार्य बताया है। बिना हृदय और बुद्धि के बीच संतुलन स्थापित किये कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। जय शंकर प्रसाद ने भी 'कामायनी' में 'ज्ञान' और 'क्रिया' के समाहार की बात की है। अगर तत्कालीन स्वाधीनता संघर्ष के संदर्भ में देखा जाए तो गाँधी जी द्वारा चलाये गये क्योंकि गाँधी ने सिर्फ हृदय से काम लिया, हृदय परिवर्तन की बात की। सफलता तब मिली जब उन्होंने 'करो या मरो' का नारा दिया अर्थात् हृदय और बुद्धि का समाहार कराया।

अध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो शक्ति प्राप्त होने के पहले प्रकृति भी परीक्षा लेती है कि इस व्यक्ति में शक्ति धारण करने की योग्यता है भी की नहीं। आज की युवा पीढ़ी आधुनिकता की अंधी दौड़ में परंपरा को भूलती जा रही है। आज मनुष्य हर चीज को एकांगी दृष्टि से देख रहा है। अधिकांश लोगों के विचार एवं व्यवहार में उनके अन्तर्मन एवं बाह्य मन के बीच का असंतुलन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। इस वजह से वे अशान्त जीवन जी रहे है। निराला का यह दृष्टिकोण इस परिस्थिति से मुक्ति में सहायक हो सकता है।

इस युद्ध में राम के सामने अनेक बाद विपरीत परिस्थितियाँ आती है पर राम ने कभी आशा का दामन नहीं छोड़ा। निराला कहते हैं ''है अमानिशा, उगलता गगन, घन अन्धकार; खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार; अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।''

कहने का अभिप्राय यह है कि चार तत्व भू, जल, वायु, आकाश राम के विपरीत हो गये है, फिर भी उनके हृदय में आशा भरी है क्योंकि 'अग्नि' तत्व उनके साथ है। यह उर्ध्वगामी होती है। पूजा के अंतिम चरण में भी जब दुर्गा अंतिम कमल उठा ले जाती है तो उनका मन निराशा से भर जाता है तो उनका मन निराशा से भर जाता है पर तत्क्षण आशा का संचार होता है—

''वह एक और मन रहा राम का जो न थका;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय''

आज के दौर का अधिकांश मनुष्य वर्तमान जीवन शैली, प्रतियोगिता, काम का बढ़ता बोझ, अति यांत्रिकता, बढ़ती अमानवीयता की प्रवृत्ति, की वजह से कुंठा और अवसाद का शिकार होते जा रहा है। इस स्थिति से निराला की यह आशापूर्ण दृष्टि निजात दिला सकती है। प्रसिद्ध चिंतक गैब्रियल मार्सल ने कहा है कि आधुनिक मानव के अशान्त मन के लिए आस्था सम्बल है और आशा जीवन संदेश।

राम शक्ति की उपासना आश्रित भाव से करते हैं वे कहते हैं:

''मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।'' सिंह माता के चरणों के पास बैठा रहता है। यह भाव विनम्रता की पराकाष्ठा है और पूर्ण समर्पण का भी भाव है। इसमें अपने अहम को त्यागना पड़ता है। इस कविता में एक जगह और जब देवी महावीर पर प्रहार करने के लिए तैयार होती है तो शिव उनको रोकते है कि अगर दिव्यमान धाारण कर अर्थात् अहंकार के वशीभूत होकर तुम इस पर प्रहार करोगी तो तुम्हारी हार निश्चित है। कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति संधान के लिए विनम्रता और समर्पण के साथ-साथ अहम् का त्याग, आवश्यक है। अज्ञेय ने भी 'असाध्य वीणा' में 'अस्पर्श छुअन से छुऐ तार' और 'श्रेय नहीं कुछ मेरा' के माध्यम से इसी विनम्रता की चरम स्थिति और अहंकार के त्याग की बात की है। आज जब लोग छोटी-छोटी बात पर भी उद्दत हो जा रहे हैं, कुछ नहीं, रहते हुए भी बड़ा अहंकार पाले हुए हैं और इसी चक्कर में अपना जीवन व्यर्थ गंवा देते है और अंत में पश्चाताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता है। ऐसे में यह भाव मार्गदर्शक की भूमिका अदा कर सकता है।

''जानकी! हाय उद्धार प्रिया का हो न सका'' – के माध्यम से निराला ने देश मुक्ति के साथ-साथ नारी मुक्ति की भी बात की है। आज भी महिलाओं को दोयम दर्जे का नागरिक समझा जाता है। उन्हें तरह-तरह के शोषण, अत्याचार और प्रताड़ना का सामना करना पड़ता है। इस माहौल में मुक्ति की बात करती यह कविता प्रासंगिक नजर आती है।

जब हनुमान शक्ति को ग्रसने के लिए जाते है तो शिव के कहने पर शक्ति अंजनी रूप धारण कर लेती हैं और हनुमान को डाँटते हुए कहती है कि–

''क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्री रघुनंदन ने?'' कहने का तात्पर्य यह है कि नेतृत्व से अलग हटकर मनमाने तरीके से किया जाने वाला दुस्साहस किसी भी रण के लिए नुकसान देह होता है। संघर्ष सामूहिक समझ से लड़कर ही जीता जा सकता है, एक-एक व्यक्ति के अपने-अपने निर्णय से नहीं।

इस कविता में 'ज्योति' और 'नयन' शब्द बार-बार आते हैं जिनका विशेष महत्व है। यहाँ ज्योति और नयन क्रमश: ज्ञान और दृष्टि के प्रतीक है। प्रकाश हो भी और यदि नयन न हो तो प्रकाश का अस्तित्व सार्थक नहीं हो सकता। यह सत्य है कि मुक्ति के संघर्ष में ज्ञान होते हुए भी यदि दृष्टि नहीं हो तो सारा संघर्ष निष्फल हो जाता है। इतिहास में इसके उदाहरण मौजूद है। इसलिए मुक्ति के समर में जीत हासिल करने के लिए वैज्ञानिक और तर्कसंगत तथा देश और काल सापेक्ष दृष्टि की अहम भूमिका होती है। निराला का यह संदेश हर काल और स्थान के लिए प्रासंगिक है।

युद्ध के अंत में राम की विजय होती है क्योंकि इनकी सेना में सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व है (वानर, भालू, मनुष्य, आदि विभिन्न वर्गों के प्रतीक हैं), जबकि रावण की सेना में ऐसी बात नहीं है। कोई भी जन कल्याणकारी युद्ध सभी वर्गों के सहयोग के बिना नहीं जीता जा सकता है। साधारण जन के अंतर्गत सभी का समायोजन होता है। शेक्सपीयर ने अपने नाटक 'जूलियस सीजर' में इसी सत्य की खोज की थी। 1789 की फ्रांस की क्रांति और हमारी आजादी की लड़ाई इसी सत्य की साक्षी है। मुक्तिबोध ने अपनी कविता 'अँधेरे में' में इसी सत्य को गाँधीजी के माध्यम से वाचक को बताया है:

''दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुर्गा
यदि बांग दे उठे जोरदर बन जाये मसीहा।''

वे कह रहे हैं:

''मिट्टी के लोंदे में फिर गीले कण-कण गुण हैं,
जनता के गुणों से ही संभव
भावी का उद्‌भव''

भविष्य में भी शोषक वर्गों से मुक्ति के लिए लड़े जाने वाले संघर्ष में यही सत्य काम आयेगा।

''धरा', 'वायु', 'जल', 'तेज', 'आकाश', पंचतत्व है। इन्हें ही समन्वित कर बलशाली बनकर कवि समस्त आकाश को निगलने के लिए आगे बढ़ा। महाशक्ति भी उस पर प्रहार करने के लिए तैयार हो जाती है। दो महाशक्तियों के टकराहट के परिणामस्वरूप होने वाले अवश्यंभावी विनाश को

देखते हुए शिव देवी को विद्या का आश्रम लेकर मन को प्रबोध देने को कहते हैं। आज विज्ञान ने भी पंचतत्वों पर विजय प्राप्त कर ली है और यही विज्ञान समर के काम आ रहा है। आज विज्ञान ने इतने संहारक अस्त्रों का निर्माण कर लिया है कि इस धरती का हजार बार विनाश किया जा सकता है। संभावित विनाशकारी और ध्वंसात्मक स्थिति से निराला की यही विवेकशील बुद्धि बचा सकती है।

साधन के लिए प्राणों को संयत करने की बात निराला ने की है। इसका अर्थ श्वास की प्रक्रिया को अंर्तदृष्टि के माध्यम से संयमित करना होता है। यह हमारे प्राणों को नया आवाम प्रदान करती है। इस कार्य में 'दृढ़ अराधन' अर्थात् दृढ़ निश्चय ही सहयोगी हो सकता है। यह दृष्टि अध्यात्मिक विकास के साथ-साथ भौतिक विकास में भी सहयोगी हो सकती है।

निष्कर्ष:

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि 'निराला' ने 'राम की शक्ति-पूजा' में जो सूत्र प्रदान किया है वह मनुष्य के आध्यात्मिक, राजनीतिक, व्यवहारिक तथा सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं की उन्नति में सहायक है। आत्मदान और दृढ़ संकल्प के माध्यम से की गयी शक्ति की मौलिक कल्पना, परंपरा की उपयोगिता, अनुभव की सार्थकता, हृदय और बुद्धि के मध्य संतुलन, कठिन एवं विपरीत परिस्थितियों में भी आशा का संचार, अतिशय विनम्रता तथा अहम् का त्याग, ज्ञान के साथ सम्यक् दृष्टि, नारी मुक्ति, महाशक्तियों की पारस्परिक टकराहट से बचाव के लिए विवेक का उपयोग, संघर्ष विजय का सूत्र, आदि की बात करके इस रचना को हर युग और स्थान के लिए प्रासंगिक बना दिया है। सचमुच, देश, काल और परिस्थितियाँ इसकी सीमा नहीं हो सकती।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. हिन्दी साहित्य एवं संवेदना का विकास-राम स्वरूप चतुर्वेदी (1986)।
2. निराला और मुक्तिबोध, चार लंबी कविताएँ नंद किशोर नवल (1993)
3. समकालीन पाश्चात्य दर्शन-प्रो. बसंत कुमार लाल, (1994)।
4. दर्शनशास्त्र की अन्य पुस्तकें।
5. इतिहास की पुस्तकें।
6. चाँद का मुँह टेढ़ा है – मुक्तिबोध।
7. आंगन के पार द्वार – अज्ञेय।

❈❈❈

संस्कृतशिक्षणे संस्कृतच्छात्राणाम् अभिवृत्तिः

बुद्धिमान केरकेटा

शोधच्छात्रः, शिक्षाविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपतिः

अभिवृत्ति (Attitude)

''किं नाम अभिवृत्तिः'' इति स्पष्टं व्याख्यातुं न शक्यते। यतः इयं जटिला काचिन्मानवीयमानसिकप्रक्रिया भवति। अथवा मानसिकव्या वहारो अभिवृत्तिः। यद्यपि केचन मनोवैज्ञानिकाः ''मानसिकप्रक्रियां व्यवहारं वा पूर्णतः, अभिवृत्तिः न निर्दिशति'' इत्यभिप्रयन्ति। तथापि सामान्यतः इयम् आन्तरिकक्रियामेव सूचयति। सामान्यव्यवहारेषु अयं शब्दः बहुष्वर्थेषु प्रयुज्यते। व्यक्तिविशेषस्य स्वभावं, विचारान्, अभिप्रायान् च सूचयितुम् अयं शब्दः सामान्यजनेन उपयुज्यते। कदाचित्, कस्यचित्स्वभावविशेषम् अन्य न जानाति। तदानीमपि तस्य अभिवृत्तिमहं ज्ञातुं न शक्नोमि इति अभिवृत्तिशब्दस्य प्रयोगं करोति। अत्र व्यवहर्ता तदीयां मानसिकस्थितिमेव विचिन्त्य अभिवृत्तिशब्दं प्रयुङ्क्ते।

आङ्ग्लभाषायां (Attidue) इति शब्दः लैटिन् (Latin) भाषायाः 'Aptus' इति शब्दादागतः। यस्यार्थः = 'fitness or adapteness' इति भवति। संस्कृते ''अभिवृत्तिः'' इत्यस्मिन् पदे 'अभि' इत्युपसर्गः, ''वृत्ति'' रिति पद वर्तते। वृत्तिशब्दः ''वृतु वर्तने'' इत्यस्माद्धातोः ''क्तिन्'' प्रत्यये कृते निष्पन्नः।'' वर्तते अनया'' इति व्युत्पत्तौ वृत्तिः इति पदं व्यवह्रियते। सामान्येन अयं शब्दः व्यापारविशेषं निर्दिशति। अयञ्च व्यापारः आन्तरिकः बाह्यश्चेति द्वेधा वर्तते। ''अभि'' इत्युपसर्गपूवकम् अयं शब्दः विशिष्टमर्थं निर्दिशति। ''अभि'' उपसर्गस्य असंख्याकाः अर्थाः वर्तन्ते।

तेषु उदय, कामना स्मृतिः इत्यादयोऽर्थाः आन्तिरकं व्यापारं निर्दिशन्ति। तस्मात् अत्रायं ''अभिवृत्तिशब्दः,'' वृत्तेः उदयम् अथवा परिणामप्रागवस्थां मानसिकीं स्थितं सूचयति। अयमभिवृत्तिशब्दः Attidue शब्दस्य पर्यायत्वेन शिक्षाविखिः कल्पितः। एवञ्च अभिप्रायाः, अभिलाषाः, विचाराश्च सामान्यतया अनेन शब्देन सूचिताः भवन्ति। मनोविज्ञाने अयं शब्दः एवं परिभाषितः

"Attitude is a complex behaviour having so many opinions in it representing the entire feeling about the situation" इति।

अभिवृत्तयः न कस्यापि जन्मतः अपि तु अनुभवेन, अभ्यासेन, संसूचनेन जीवने उखवन्ति विकासञ्च प्राप्नुवन्ति। यदा अनुभवेन, अभ्यासेन वा एकं निश्चतधारणां विकासं प्राप्नोति इति मनोविश्लेषकानां मतम्। अतः एताः परिवर्तनियुं शक्याः।

अभिवृत्तिः किमपि कार्यं प्रति एका मानसिकप्रतिक्रिया वर्तते। कार्यस्य साफल्यार्थम् अभिवृत्तिः प्रथमसोपानमेव स्वीक्रयते। कार्यसम्पादनात्पूर्वं मध्ये सा यदि कस्मिञ्चित् सकारात्मकाभिवृत्तिः न दृश्यते

तर्हि इप्सितपरिणामः न लभ्यते। अभिवृत्तौ व्यक्तेः चिन्तनविचारावधारणाचारदीनि कारणानि व्यक्ती भवन्ति। कार्यसम्पादनेनयदि अनुकुलाभिवृत्तिः व्यक्तौ न दृश्यते तर्हि प्रतिकूलपरिणामः एव प्राप्यन्ते। अभिवृत्तिः इत्यस्य बहुधा बहुभिः शिक्षाविखः परिभाषाः प्रदीयन्ते। हिम्मलेफरेल एवम् इग्ले (Himmelfarele and Eagly) महोदयौ उक्तवन्तौ सांवेगिकप्रत्यक्षीयसंज्ञानात्मकप्रक्रियायाः अभिप्रेरकस्थायिसंघटनमेव अभिवृत्तिः इति। उपर्युक्तपरिभाषाविश्लेषणेन वक्तुं शख्यते अभिवृत्तिः संज्ञानात्मिकक्य प्रतिक्रियात्मकव्यावहारिकसमन्वितकारकोपरि निर्भरति। तत्र प्रतिक्रियात्मकोपादानम् अभिवृत्तेः केन्द्रं वर्तते। व्यवहारिकपक्षे अभिवृत्तेः मापनं परीक्षणं च विधीयते। तत्र अभिवृत्तिमापनार्थ प्रश्नावल्युपकरणं प्रयुज्यते। प्रश्नावलिद्वारा व्यक्तेः अभिप्रायः विश्वासः, चिन्तनं, व्यवहारः, अनुभवः इप्सितक्रिया इति विषयाः उपयोगिनःवा अनुपयोगिनः इति ज्ञातुं शक्यन्ते। यदि उच्चस्तरीयाभिवृत्तेः दृश्यते तर्हि उद्देश्याप्राप्तये सौकर्यमनुभूयते।

अभिवृत्तयः वस्तुपरिस्थिति-संस्थादीन् प्रति व्यक्तेः विशिष्टं दृष्टिकोणं प्रकटीकुर्वन्ति। अभिवृत्ति जन्मतः नागच्छति। अनुभवेन अभ्यासेन संसूचनेन वा आगच्छति। तस्मात् परिवर्तयितुं शक्यते। यर्स्तन् (1944) महोदयानुसारम् अभिवृत्तयः कमपि विशिष्टविषयं प्रति व्यक्तेः प्रवृत्तीनां पूर्वाग्रहाणां पूर्वनिधीरितविचाराणामातङ्कानाञ्च योगाः सन्ति। व्यक्तिः कस्मिन्नपि निश्चितसमाजे वसति विद्यालये शिक्षां प्राप्नोति च। अतः एते मानवस्य अभिवृत्तौ प्रभावं प्रदर्शयन्ति।

अभिवृत्तीनां लक्षणम्

1. अभिवृत्तयः अभिप्रेरिकाः भवन्ति।
2. अभिवृत्तयः व्यक्तिः वस्तुसम्बन्धश्च वर्तते।
3. अभिवृत्तयः अधिगन्तुं शक्यन्ते।
4. अभिवृत्तयः जन्तून् कार्यकरणार्थं सन्नद्धं कुर्वन्ति।
5. अभिवृत्तयः अनन्ताः विभिन्नप्रेरणसम्बद्धाश्च भवन्ति।
6. व्यक्तिम् अभिवृत्तयः तीव्रानुकूलतः तीव्रानुकुलपर्यन्त नयन्ति।
7. अभिवृत्तयः एकस्यां नखच्छिन्नरेखायां प्रदर्शयितुं शक्यतन्ते।
8. अभिवृत्तयः ज्ञानक्षेत्रे भवन्ति, ता एव चेष्टाक्षेत्रेऽपि भवन्ति, पा एव पुनः भावक्षेत्रे अनुभूतिरूपेण च परिणमन्ते।

ए. विपिन अ्सथाना-रामनारायण अग्रवाल महाशययोर्मते अभिवृत्तेः लक्षणम्ः

1. अभिवृत्तीनां प्रसारः असीमितोऽस्ति। अस्माकं रुचिः अरुचि आराध्यदेवादि -सर्वविषया अभिवृत्तेरन्तर्गता एव।
2. एषा बाह्यवस्तुं प्रति अस्माकम् अभिप्रायं प्रकटयति पक्षे विपक्षे वा।
3. अभिवृत्तौ व्यक्तिगतविभेदो भवति।
4. अभिवृत्तयः अस्माकं व्यवहारस्याधारभूतास्सन्ति।
5. एषा व्यक्ता, अव्यक्तापि भवितुमर्हति।

6. अभिवृत्तिः अस्माकं सम्पूर्णव्यवहारसङ्घटने समन्विता भवन्ति।
7. एताः वातावरणजन्याः भवन्ति, न तु जन्मजाताः। जातिमतजनसङ्घ-राजनैतिकदलादि विषयेषु कस्यापि जन्मतः अभिवृत्तयः न भवन्ति।
8. विभिन्नसंस्कृतिषु विभिन्नसमुदायेषु च व्यक्तिनामाभिवृत्तयः भिन्नाः भवन्ति।
9. अभिवृत्तिः पर्याप्तरूपेण स्थायी भवति। परन्तु अस्यां परिवर्तनं वा कदाचित् सम्भवति।
10. अभिवृत्तयः एकां व्याक्तिं प्रति अथवा अनेकवस्तु प्रति वा भवितुमर्हन्ति।
11. अस्याः पक्षद्वयं भवति कस्याभिवृत्तिः ? कं प्रति च ? इति।

अभिवृत्तीनां प्रकाराः

अभिवृत्तयः त्रिप्रकारिकाः।

1. अनुकूलाभिवृत्तिः (पक्षे)
2. प्रतिकुलाभिवृत्तिः (विपक्षे)
3. शून्याभिवृत्तिरिति (तटस्थे)

एतास्वभिवृत्तिषु मात्राभेदः वर्त्तते। व्यवहारेण मात्राभेदं ज्ञातुं शक्यते। सर्वेः मानवैः सामाजिकाभिवृत्तयः सम्पादनीयाः। का नाम सामाजिकाभिवृत्तिरिति जिज्ञासायां समाजविषये अस्माकम् अभिवृत्तिः कीदृशीति ज्ञानमेव।

(क) सामाजिकाभिवृत्तीनां सम्पादनम्।
(ख) सामाजिकाभिवृत्तेः व्यवहारे प्रभावः।
(ग) सामाजिकाभिवृत्तिः व्यक्तिसमाजयोः सम्बन्धश्च।
(घ) अनुकुलाभिवृत्तीनां सम्पादनं परिवर्तनश्च।

अभिवृत्तीनां मापनविधयः

अभिवृत्तिमापनं मनोमितिद्वारा साध्यम्। तत्र मापनं त्रिविधम्।

1. Lieket give five point scale.
2. Thurstone method of paired comparison.
3. Guttan scalograms analysis method.

छात्राभिवृत्तिः (Student Attitude)

अभिवृत्तिस्तु शिक्षणाधिगमप्रक्रियायाम् अनुकूलं प्रभावं जनयति। यदि कस्यचित् छात्रस्य संस्कृतं प्रति अनुकुलता अभिवृत्तिः न भवति तर्हि तदीयम् अधिगमं निष्प्रभावमेव स्यात्। एवञ्च यस्मिन् छात्रे संस्कृतभाषाविषये अनुकूलाऽभिवृत्तिः दृश्यते सः एव छात्रः उत्तमतया संस्कृतं ज्ञातुं प्रभवति। अभिवृत्तिर्नाम मनुष्यस्य प्रवृत्तीनां भावानाम् इष्टभीष्टानां पूर्वधारणानां विचाराणां सन्तोषादिसंवेगानां किञ्चिद्विषयकधारणानाञ्च योगः भवति। एतेन अभिवृत्तिर्नाम मानसिकसन्नद्धता या च अनुभवेन सङ्घटिता निर्देशिता च भूत्वा गतिशिला सती व्यक्तेः प्रतिक्रियां प्रभावयति। अपि च अभिवृत्तेः यावती गुणवत्ता भवति तावती

प्रतिक्रिया प्रबला भवति। छात्राणाम् अभिवृत्तिविषयविचारान् अनुशीलयामश्चेत् तत्र अभिवृत्तिविषयकं तत्त्वद्वयं स्पष्टं भवेत्। अनुकूलं प्रतिकूलम् इति। तत्त्वद्वयमिदं किञ्चन वस्तु प्रति काञ्चित् परिस्थितिं वा प्रत समुत्पादितं भवति। यस्मिन् कर्मणि अभिवृत्तिः अनुकूला भवति तत्र जायते प्रवृत्तिः यस्मिन् च प्रतिकूला भवति अभिवृत्तिः ततः कर्मणः निवृत्तिः अवलोक्यते। सामान्यतया अभिवृत्तौ नानात्मकं भावात्मकं क्रियात्मकञ्चेति त्रीणि तत्त्वानि अन्तर्निहितानि भवन्ति। यदि भावात्मकं तत्त्वं प्रतिकूलं तर्हि इतरतत्त्वद्वयमपि प्रतिकूलमेव, यदि अनुकुलं भवति। अभिवृत्तिर्नाम व्यक्त्यन्तर्निहिता किञ्चन वस्तु प्रति काञ्चित् परिस्थितिं प्रति जायमानम् अनुकूलः प्रतिकूलो वा भावः एव। यावत् इयमभिवृत्तिः अनुकूला न भवति तावत् व्यक्तेः कार्यकलापश्च सफलः भवितुं नार्हति। संस्कृतं प्रति छात्राणां अनुकूला अभिवृत्तिरेव सफलाध्ययनहेतुः भवितुमर्हति। अपि च छात्रेषु विशिष्य संस्कृतभाषाविषयिणी, संस्कृतपाठ्यपुस्तकविषयिणी संस्कृत अध्यापकविषयिणी च अभिवृत्तिः सर्वदा अनुकूला स्यात्, तदेव तदीयं शिक्षणं सफलं स्यात्। यद्यपि छात्रविषयिणी अभिवृत्तिः एकपक्षीया न भवति तथाऽपि संस्कृताध्यापकस्य, विषयस्य, पाठ्यक्रमस्य च अभिवृत्तिः सर्वदा अनुकूला एव भवेत् अन्यथा संस्कृतम् अधिगन्तरि प्रभावं न जनयेत्।

❄❄❄

संस्कृत

संस्कृत साहित्य में परमात्मा की अवधारणा

Gods Supposition in Sanskrit Literature

डॉ. मनीषा भट्ट

एम.ए., बी.एड., पीएच.डी

संस्कृत साहित्य में आत्मा परमात्मक विषयक तत्वज्ञान भरा पड़ा हुआ है। भारतीय समाज में आत्मा परमात्मा विषयक धारणा पर भ्रम फैलाया गया है। साहित्य के प्रमाणों के विकृत करके प्रस्तुत करने अन्वेषकों की आदत के कारण ये होता है हम सर्वप्रथम भारतीय तत्वज्ञान की विकसित समझे जाने वाली परमेश्वर विषयक कल्पना का अवलोकन करेगे तत्पश्चात वेदों की ऋचा के आधार पर उसका मूल्यांकन करेंगे।

श्रीमद् भगवत गीता में कहा गया है कि यह संपूर्ण विश्व अव्यक्त है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि का मूलतत्व अव्यक्त है तथा उसी अव्यक्त मूल तत्व में सृष्टि अन्त में विलिन हो जाती है। केवल मध्य का जो काल है उसमें सृष्टि व्यक्त दशा में रहती है। इस सृष्टि में भी जड़ चेतन उपभोग्य व उपभोक्ता, ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वन्द्व दृष्टिगोचर होता है। इस द्वंद्व को ही भारतीय तत्वज्ञो ने सृष्टि का मूल तत्व माना है और उसका कथन है कि जड़ चेतन्य का यह द्वंद्वात्मक प्रवाह अनादि सिद्धि है। इस द्वंद्व के स्वरूप एवं उसके कार्य का वर्णन करते हुए गीताकार कहते है–

पुरूषं प्रकृति चैवं विद्वयनादी उभावपि

विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति संभवात् ।। (1) संदर्भ-1

प्रकृति और पुरूष दोनों को ही तु अनादि मान, विकार और गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरूच्यते

पुरूषः सुखदुः खानां भोक्तृत्यै हेतुरूच्यते।। (2) संदर्भ-र

कार्य अर्थात् देह कारण अर्थात् इन्द्रियो का कारण प्रकृति है और कर्ता न होकर भी सुख दुःख के उपभोग का कारण है।

इस विषय में लोकमान्य तिलक कहते है ''यदि नानात्व के मुल को प्रकृति द्रव्य के एकत्व में खोजने की सांख्यांदि द्वदवावियोगी पद्धति युक्ति युक्त एवं शास्त्रीय मानी जाये तो इस द्वंद्व तक आकर रूक जाना अर्थात् प्रकृति पुरूष सप्त द्वंद्व का भी अन्तर्भाव किसी एकत्व में करना आवश्यक हो जाता है और इसीलिए प्रकृति पुरूष के परे एक तीसरी सर्वव्यापक अव्यक्त तत्व तक हम पहुंचते हैं। और यह तत्व सृष्टि के मूल में विद्यमान है उसकी इच्छा शक्ति से जड़शक्ति कार्य प्रवण होती है और व्यवहार करती है प्रकृति सगुण है सगुण पदार्थ नाशवान है। यह जगत् का अनुभव है इस कारण यह

एकमात्र अद्वितीय तत्व निर्गुण है अतः वही सृष्टि का वास्तविक एवं नित्य तत्व है गीताकार भी आगे कहते है।

अविनाश तुं तद्विद्वि तेन सर्वमिदं ततम्।

विनाशम व्ययस्यास्य नं कश्यित्कर्तुं मर्हती।। गीता- 2-छ7।। संदर्भ-3

इस जगत में जिसका विस्तार अथवा व्याप है मुल आत्मा स्वरूप ब्रह्मअविनाशी है। इसे तू ध्यान में रख इस अव्यक्त तत्व का नाश करने में भी कोई समर्थ नहीं है।

आगे भगवान् विश्वरूप दर्शन में ईश्वर की सर्वव्यापकता अव्यक्तता प्रगट करते हैं।

इस प्रकार गीता के अनुसार परमेश्वर तत्व सर्वत्र एकरस स्वप्रतिष्ठित तथा स्वयंप्रज्ञ है। वह अद्वितीय होने के कारण उससे भिन्न इस जगत में कुछ भी नहीं है

उपनिषदो में व्यक्त परब्रह्म

उपनिषद् काल में भी जगत जगदीश्वर के संबंध में भारतीय तत्वज्ञान ने पूर्णता प्राप्त की थी। उपनिषद् के कुछ भागों को यहां उद्धत किया है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्य ते।। इशावास्योपनीषद।। संदर्भ-4

वह परबह्म पूर्ण है। उपाधि सहित ब्रह्म भी पूर्ण ही है। वह कार्यात्मक ब्रह्म उस पूर्ण अर्थात् कारणात्मक ब्रह्म से उत्पन्न होता है परंतु उत्पन्न होकर विलग होने पर भी उसका पूर्णत्व बना रहता है तथा अवशिष्ट रहनेवाला ब्रह्म भी पूर्ण ही रहता है।

अणोरपीयान्महतो महीयानात्मडस्य जन्तोर्निडितो गृहायाम्।

तमऋतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन।। कठोपनिषद 2 ।। संदर्भ-र

आत्मतत्व सूक्ष्मतम अणु से भी अधिक सूक्ष्म एवम् महत् परिमाणवान पदार्थ से भी अधिक वह समस्त प्राणियों के हृदय में वास करता है। संकल्पहीन श्रेष्ठ पुरुष ही उसको देख सकते है तथा उसे देखकर शोक रहित हो जाते हैं।

यदोर्णानाभिः सृजते गृहणते च यथा पृथिवामोषयः संभवन्ति।

यथा सतः पुरूषोत्केशलोमनि तथा डक्षराम्संभवतीह विश्वम्। मुडकोपनिषद।। संदर्भ-6

जिस प्रकार मकडी तंतुओं को उत्पन्न करती है पुनः उन्हें अपने शरीर में वापस खींच लेती है जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती है अथवा जिस प्रकार केश-लोम उत्पन्न होते है उस प्रकार अक्षर से इस संसार मंडल में विश्व की उत्पत्ति होती है।

भुडको उपनिषद में परब्रह्म को विश्व पुरूष की संज्ञा दी गई है और अमृतमय कर्हा हो गया है सारांश यह कि उपनिषदों के मतानुसार कालः देश कार्य कारण संबंध से मर्यादित जो यथार्थ है वह मिथ्या है।

दिक्कालातीत एवम एकमेवा द्वितीय परब्रह्म ही वास्तव में सत्य है, यह परमात्मा अपने देह में विद्यमान आत्मा एक ही है। 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्वमसि', 'सर्वखटिवदम् ब्रह्म' एवम् अहं ब्रह्मास्मि इन चार महावाक्यों के आधार पर ही भारतीय तत्वज्ञान का विशाल मंदिर खडा है।

वेद में परब्रह्म विषयक तत्वज्ञान

वैदिक ऋषियों ने परमात्मा का साक्षातकार करके उसके संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किये है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं के विलक्षण महत्व का वर्णन किया गया है। ये देवता कौन थे। इस संबंध में स्पष्टीकरण करेंगे। ऋग्वेद में देवता अनेक भले हो उनका मूल स्वरूप कुछ भी क्यों न रहा हो और इस कारण यह मानने की प्रवृत्ति सी बन गई है की ऋग्वेदीय लोग अनेक देवतावादी थे आगे चलकर वे क्रमशः एक देवत्व की ओर अग्रसर हुए। किन्तु ऋग्वेद को देखने पर वह बात गलत मालूम पड़ती है। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि वास्तव में एक ही तत्व सर्वत्र व्याप्त है। वही भिन्न-भिन्न नामों से व्यक्त है।

अचिकि त्वात्र चिकितुष चित् अत्र कवीन् पृच्छामि विदमने न विद्वान।
दियः तस्तंभषल् इमां रजासि अजस्थ रूपे किं अपि स्वित् एकम्।। संदर्भ-8

इस संबंध में मेरी समझ में कुछ नहीं आता। मैं अज्ञानी जो ठहरा समझने के लिए जिन्हें ये सारी बाते समझने आती है उन्हीं से मैं पूछता हूँ कि क्या यह सत्य है कि इन छहों लोकों को धारण करनेवाले उस जन्मरहित ईश्वर के स्वरूप में एकात्मकता है।

अहम् इन्द्रः वरूण ते इतिः महिडत्वा उर्वी (इति) गभीरे (इति) रजसी (इति) सुमेके (इति)।
सुडमेके/विष्टाडरव विश्वा भुवनानि विद्वान सम् एश्यन् रोदसी (इति) धारयम् च। (संदर्भ-8)

मैं इन्द्र हुँ। मैं ही वरूण हूँ। अपनी महिमा के कारण अति विस्तीर्ण गहरे रम्याकृति बने हुए थे (दो रजोलोक) भी मैं ही हूँ। मैं ही सर्वज्ञ देव हूँ तथा मैंने ही त्वष्टा के समान यच्चायावत् भुवनो को चालना देकर सम्भाला हुआ है।

और आगे सहस्त्राविध मस्तक नेत्र चरणवाले परमात्मा का वर्णन प्राप्त होता है। वेद में भी परमात्मा को ही दृश्य जगत् का कारण बताया है वही सर्वशक्तिमान है निर्गुण है। निराकार है और इस जगत का कर्ता है इस तरह वैदिक युग में भी जगत जगदीश्वर विषयक सिद्धांत परिपूर्ण था। उसके आगे के काल में भी उन तत्व सिद्धांतों में महत्वपूर्ण नहीं पाया जाता है।

संस्कृत साहित्य में परमात्मा संबंधी तत्वज्ञान जो पाया जाता है यह बुद्धिविकास के लिये नहीं है उससे जीवन का गठन करने का उद्देश्य है मनुष्य जीवन महत्वपूर्ण है जो मनुष्य इस ज्ञान का प्रयोग अपने जीवन में करे तो वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है और अपने जीवन को धन्य कर सकता है।

संदर्भ ग्रंथः

RC-1 श्रीमद भगवतगीता – गीताप्रेस, गोरखपुर
RC-2 श्रीमद भगवतगीता – गीताप्रेस, गोरखपुर
RC-3 श्रीमद भगवतगीता – गीताप्रेस, गोरखपुर
RC-4 इशावास्यम उपनिषद – गीताप्रेस, गोरखपुर
RC-5 कठोपनिषद – गीताप्रेस, गोरखपुर
RC-6 मुंडकोपनिषद – गीताप्रेस, गोरखपुर
RC-7 ऋग्वेद संहिता-भाग-र – श्री रामशर्मा आचार्य जी
RC-8 ऋग्वेद संहित भाग-र – श्री रामशर्मा आचार्य जी

❊❊❊

"वेदों में देव-तत्व का प्रथम चरणः प्रकृतिवादी बहुदेववाद"

पूर्णिमा कुमारी

शोध छात्रा, राँची विश्वविद्यालय, राँची

प्रकृतिवादी बहुदेववाद वैदिक देववाद और ब्रह्म-तत्व के प्रारम्भिक विकास का प्रथम चरण है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं की उपासना पर बल दिया गया है। वैदिक काल में जिस अनेकेश्वरवाद का हम विवरण पाते हैं उसे प्रकृतिवादी अनेकेश्वरवाद (बहुदेववाद) भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि वेद के देवतागण प्रकृति के अंग के रूप में चित्रित हुए हैं। ऋग्वेद का प्रारम्भ बहुदेववाद से होता है और इसका अन्त अद्वैतवाद या एकवाद में होता है। बहुदेववाद और एकवाद वैदिक देववाद के दो छोर हैं तथा एकेश्वरवाद दोनों के बीच कड़ी का कार्य करता है। इस प्रकार ऋग्वेदीय देववाद बहुदेववाद, एकेश्वरवाद तथा अद्वैतवाद के द्वारा प्रवाहित हुए हैं। डॉ. राधाकृष्णन ने वैदिक सूक्तों को बहुदेववाद का सबल प्रमाण कहा है। इस सन्दर्भ में उनकी निम्नलिखित पंक्तियां ध्यातव्य हैं- "वैदिक सूक्तों का विस्मयकारी पक्ष उनका बहुदेववादी स्वरूप है। अनेक देवताओं का नाम और उनकी उपासना का विधान उनमें मिलता है।"[1]

प्रकृति के प्रत्येक रूप में एक देवता की कल्पना करते रहने के कारण वैदिक देववाद बहुदेववाद के पथ पर अग्रसारित हुआ। कुछ विचारकों के अनुसार वैदिक देवताओं की संख्या 333 है। ऐसे देवताओं में 33 देवता हीं प्रधान माने गये हैं। वरूण, मित्र, इन्द्र, वायु और वात, सूर्य, विष्णु, सविता, उषा, अग्नि, पूसन, सोम, चन्द्रमा, अश्विन, मरूत, चन्द्रमा, सरस्वती, आपः, यम, पृथ्वी, रूद्र, मातरिश्वन आदि वेद के देवतागण हैं। मन्त्र-पदाद्यनुक्रमाणिका में अकारादिवर्णानुक्रम से 272 देवताओं का निर्देश है। उस सूची में द्यूतनिन्दा, दान, विवाहादि सब लौकिक पदार्थो का भी देवता के रूप में उल्लेख है। उक्त सूची के आधार पर कात्यायनकृत 'सर्वानुक्रमणी' तथा सायण-भाष्यादि हैं। निघण्टु के 5वें अध्याय तथा निरूक्त के दैवत-काण्ड के 7वें से 12वें तक 6 अध्यायों में 151 देवताओं का निरूपण है। निघण्टु के 5वें अध्याय में 6 प्रकरण हैं, जिनकी यास्क ने क्रमशः एक-एक अध्याय में वयाख्या की है। निघण्टु के 5वें अध्याय के आरम्भ के 3 प्रकरणों में क्रमशः 3+13+36=52 पृथिवीस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं। चतुर्थ तथा पंचम प्रकरण में क्रमशः 32+36=68 अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं का निर्देश हैं। शष्ठ प्रकरण में 31 द्युस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं। वैदिक देवताओं को मूलतः तीन वर्गो में विभाजित किया गया है-

(1) आकाशस्य देवता (Gods of Sky) - वरूण, मित्र, चन्द्रमा, सूर्य, सविता, पूषन, विष्णु, अदिति, उषा, अश्विन्।

(2) अन्तरिक्षस्य देवता (Gods of mid-air) -इन्द्र, रूद्र, मरूत, वायु और वात, मातरिश्वन्, पर्जन्य, आपः

(3) पृथ्वीस्य देवता (Gods of earth) - सोम, पृथ्वी, सरस्वती, बृहस्पति और अग्नि।

उपर्युक्त वर्गीकरण देवता के निवास स्थान को ध्यान में रखकर किया गया है। इस वर्गीकरण को मैक्स-मूलर, ए. बी. कीथ, डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. सूर्यकान्त आदि विद्वानों ने मान्यता प्रदान की है।[2] ऋग्वेद में 33 देवताओं के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। मनुष्य शरीर की असंख्य नाड़ियों में तैंतीस नाड़ियाँ प्रधान हैं। इन्हीं तैंतीस नाड़ियों की नियन्त्रण-सत्ता को ऋग्वेद में तैंतीस देवता के नाम से अभिहित किया गया है। ये हैं एकादश रूद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, इन्द्र और प्रजापति। ब्रह्मशक्ति के प्रधान विकास को 'इन्द्र' कहा जाता है। यही देवता मानव शरीर का सामग्रिक भाव से नियन्त्रण करता है।

(क) एकादश रूद्र-दस इन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ) और मन। 'रूद्र' शब्द का अर्थ होता है जो रूलाता है। मृत्युकाल में जब प्रत्येक इन्द्रिय अपने प्रतिदेवता में मिल जाती है, मन निष्क्रिय हो जाता है। मनुष्य का शरीर अचल और अस्पन्द हो जाता है, तब उस समय उसके आत्मीय-बन्धुगण कातर भाव से रोने लगते हैं। यही एकादश देवता मनुष्य को रूलाते हैं, इसलिए इन्हें 'रूद्र'[3] कहा जाता है।

(ख) अष्ट वसु- 'वसु' शब्द का अर्थ है जीवों का वासस्थान अर्थात् जो इन्द्रियों का आधार, आश्रयस्थल या विषय है, वही वसु है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अन्तरिक्ष, व्योम, वायु, तेज एवं धारित्री ये आठ वसु हैं।

(ग) आदित्य- 'आदित्य' शब्द का अर्थ होता है लेनेवाला। यहाँ पर अर्थ है जो कर्मफल और आयु ले लेता है। प्रत्येक क्षण आयु क्षय होती रहती है और कर्मफल भोग के लिए जीव को एक शरीर त्याग कर दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। ये समस्त काल प्रवाह के कारण ही होते हैं। इसीलिए समय या काल ही आदित्य है क्योंकि कारण काल ही मनुष्यों के कर्मफल और आयु ले जाता है। द्वादश मास ही द्वादश आदित्य हैं। द्वादश आदित्य का विवरण निम्नांकित है-

	fgUnh uke	ofnd uke	
1.	चैत्र	मधु	वसन्त ऋतु
2.	वैशाख	माधव	
3.	ज्येष्ठ	शुक्ल	ग्रीष्म ऋतु
4.	आषाढ़	शुचि	
5.	श्रावण	नभस्	शरद ऋतु
6.	भाद्रपद	नभस्य	
7.	आश्विन (क्वार)	ईष	वर्षा ऋतु
8.	कार्तिक	ऊर्जस्	
9.	मार्गशीर्ष (अगहन)	सहस्	हेमन्त ऋतु
10.	पौष	सहस्य	
11.	माध	तपस्	शिशिर ऋतु
12.	फाल्गुन तपस्य		

(घ) इन्द्र – 'इन्द्र' शब्द का अर्थ विद्युत, बज्र या कर्मशक्ति है।

(ङ) प्रजापति- 'प्रजापति' शब्द का अर्थ है- यज्ञ या कर्म।

कोई-कोई कहते हैं कि मनुष्य के शरीर की नाड़ियों की संख्या नहीं गिनी जा सकती है। कोई कहते हैं कि इनकी संख्या कई लाख हैं। कोई कहते हैं कई करोड़ है। ऐसा मालूम होता है कि उनलोगों ने गिनकर देखा है। कोई कहते हैं नाड़ियों की कुल संख्या तैंतीस करोड़ है। अतएव देवताओं की संख्या भी तैंतीस करोड़ है। वस्तुत: मनुष्यों के शरीर नियन्त्रक स्नायु तथा नाड़ीपुन्ज ही अविद्या और अन्धविश्वास के फलस्वरूप नाना रूपों और नाना नामों से आज तैंतीस करोड़ देवता में परिणत हो गए हैं।

देवता दो प्रकार के हैं। आत्मा का प्रकाश इन्द्रियों के द्वारा होता है। अत: इन्द्रियसमूह को दैहिक देवता कहा जाता है और विश्वब्रह्माण्ड का प्रकाश और नियन्त्रण जिस देवता समूह के द्वारा होता है, उन्हीं को ब्राह्मी देवता कहा जाता है। दोनों की संख्या तैंतीस है। कारण, ब्राह्मी देवतागण प्रत्येक दैहिक देवतागण के प्रतिदेवता हैं। ये दैहिक देवतागण प्रतिदेवता में लय होते हैं और प्रतिदेवता ब्रह्म में मिल जाते हैं। इसलिए मोक्ष प्राप्त साधक ब्रह्म ही हो जाता है।[4]

ऊपर चर्चित तैंतीस देवता जिन छ: देवताओं के अन्तर्गत होते हैं, वे आठ वसुओं में से अग्नि और पृथिवी एवं अन्तरिक्ष और वायु को एक में मिला देने से छ: सम्पन्न होते हैं। उन छहों में से अग्नि और पृथिवी, अन्तरिक्ष और वायु, द्यु और आदित्य का एकीकरण कर देने से तीन ही देवता रह जाते हैं। ये तीनों भी अन्न और प्राण- इन दोनों में अन्तर्भुक्त हो जाने पर दो देवता और उन दोनों का एकीकरण करने पर एक ही प्राण रूप देवता रहता है, जिसे अध्यर्ध (वृद्धिगत, बृहत अथवा बृहंयिता) हो जाने के कारण ब्रह्म है एवं परोक्षार्थक 'त्यत्' पद के द्वारा अभिहित होता है। इस प्रकार श्रुति एक देवता की अनेकरूपता का प्रतिपादन करती है।[5]

शतपथ-ब्राह्मण में भी 8 वसु, 11 रूद्र, 12 आदित्य तथा आकाश और पृथिवी, इन 33 देवताओं का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय-ब्राह्मण में भी 11 प्रयाजदेव, 11 उपयाजदेव और 11 अनुयाजदेव, ये 33 देवता हैं। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में 3339 देवताओं के होने का उल्लेख मिलता है। किन्तु सायणाचार्य ने लिखा है कि देवता तो 33 ही हैं, केवल उनकी महिमा दिखाने के लिए 3339 देवताओं का उल्लेख कर दिया गया है। किन्तु इन विभिन्न देवों को पूजते रहने पर भी, आर्य यह मानते थे कि ये सभी देवता, मूलत: एक ही हैं। निरूक्तकार का कहना है कि "तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी देव एक ही हैं।" यास्क ने उदाहरण दिया है "नरराष्ट्रमिव" अर्थात् व्यक्ति-रूप से भिन्न होते हुए भी, जैसे, असंख्य मनुष्य राष्ट्र-रूप में एक हैं, वैसे ही, विविध रूपों में प्रकट होने पर भी देवों में एक ही परमात्मा व्याप्त हैं। इन्हीं परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मण-ग्रन्थों ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्हीं प्रजापति के विशिष्ट अंग माने गए हैं।[6]

बहुदेववादी विचारधारा में वैदिक देववाद और ब्रह्मतत्व के अन्तर्गत विभिन्न देवताओं का वर्णन कुछ इस प्रकार होता है कि सबकी विशेषताएँ परस्पर मिलती हैं और एक परम तत्व में जाकर समाहित हो जाती हैं। इसी क्रम में स्पष्ट रूप से एक देवता को दूसरा देवता बताया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद द्वितीय मंडल के प्रथम सूक्त में अग्नि को इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वरूण, मित्र आदि बताया गया है। पृथक्-पृथक् भी इन सभी देवताओं को परमेश्वर के रूप में चित्रित किया गया है। अग्नि अमरों में प्रथम है, इसीलिये उसके सुंदर नाम का हम मनन करते हैं।[7] यह अक्रांतदर्शी मनुष्यों

में क्रांतदर्शी है तथा मरणधर्मा मनुष्यों में यह अमर तत्व के रूप में स्थापित है।[8] वह अनेक रूपों वाला है, वह प्रत्येक मनुष्य में जीवन स्थापित करता है।[9] उपनिषदों में जो आत्मा को अग्नि के समान प्रत्येक रूप में आविष्ट बताया जाता है।[10] उस विचार का आधार उपर्युक्त वेदमंत्र ही प्रतीत होता है। वैदिक देवता किसी जातिविशेष की संकुचित कल्पनाएँ नहीं हैं, वे सार्वभौम हैं। इसलिए इन्द्र को भी अत्यंत शक्तिशाली एवं एकमात्र शासक बताया गया है। इन्द्र सभी से बढ़कर, सबसे अधिक देदीप्यमान है, देवताओं के द्वारा उसे जाना नहीं जा सकता, वह पृथ्वी द्युलोक और महान अंतरिक्ष से भी बढ़कर है।[11] इन्द्र हीं द्युलोक और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला है।[12] वह अपनी शक्तियों से अनेक रूपों वाला होकर विचरण करता है।[13] इन्द्र गतिशील और स्थित सब पर शासन करता है।[14]

संदर्भ संकेतः

1. A Striking aspect of the hymns is their Polytheistic character. A great many Gods are named and worshipped.

   -Radhakrishnan, Indian Philosophy, Volume –I, Page No. 72

2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली-7, प्रथम संस्करण, 1963, पृष्ठ संख्या- 48

3. ऋग्वेद, 1/114

   रूद्र सूक्त के भाष्य के आरम्भ में सायण ने रूद्र शब्द के जो निर्वचन दिए हैं, उनसे स्पष्ट ही सायण के आध्यात्मिक चिन्तन, मनन का और वेदमंत्रों के विषय में उनकी आध्यात्मिक दृष्टि का पता चलता है। इस स्थान पर रूद्र के निम्नलिखित आध्यात्मिक निर्वचन दिए गए हैं-

   प्रथम - रोदयति सर्वभन्तकाले- अर्थात् वह परमेश्वर जो सब को अंत समय अथवा प्रलयावस्था में रूला देता है।

   द्वितीय - रूत् संसाराख्यं दुःखं तद् द्रावयति विनाशयति- अर्थात् संसाररूपी दुःख का नाम रूत् है, रूद्र वह है जो उस दुःख को दूर कर देता है। चिल्लाना, दुःखी होना अर्थ वाले 'रू' धातु एवं भागना अर्थ वाले 'द्रु' धातु के णिजन्त रूप से यह निर्वचन किया गया है।

   तृतीय- रूतः शब्दरूपा उपनिषदः ताभिर्द्रूयते गम्यते प्रतिपाद्यते - अर्थात् रूत शब्दरूप उपनिषदें हैं, उनके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है या प्रतिपादित किया जाता है। यह निर्वचन शब्द करना अर्थ वाले 'रू' धातु और गत्यर्थक 'द्रु' धातु के कर्मवाच्य रूप से निष्पन्न है। निस्संदेह उपनिषद् के शब्दों के परमात्मा तक पहुँचने में, उसे समझने में सहायता प्राप्त होती है।

   चतुर्थ- रूत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्यात्मविद्या तामुपासकेभ्यो राति- अर्थात् रूत् शब्दरूपा वाणी और उन वाणी द्वारा प्रतिपादित आत्मविद्या है, रूद्र वह है जो उस वाणी को उपासकों को देता है। यह निर्वचन भी शब्दार्थक 'रू' धातु से और दानार्थक 'रा' धातु से निष्पन्न है। वस्तुतः परमेश्वर ने उपासकों को आत्मविद्या का प्रतिपान करने वाली वेदवाणी प्रदान की है।

   पंचम- रूणद्धयावृणोति रूत् अन्धकारादि तद् दृणाति विदारयति - अर्थात् जो अवरूद्ध करता है, (दृष्टि को) आवृत करता है, वह रूत् अंधकार इत्यादि है। रूद्र वह है जो उस अंधकार आदि को विदीर्ण कर देता है। यहां निर्वचन के मूल में रूध् (रोकना अर्थ वाला) और दृ (विदीर्ण करना अर्थ वाला)- ये दो धातु हैं। स्पष्ट ही परमेश्वर अथवा उसका ज्ञान ही सब प्रकार के अज्ञानरूपी अंधकारों को नष्ट कर देता है, जिससे सब प्रकाश प्राप्त करते हैं और उनकी ज्ञान की दृष्टि प्रकट होती है। परन्तु इन निर्वचनों के पश्चात् भी सायण अपनी प्रतिबद्धता से मुक्त नहीं हो पाता और अंत में एक

पौराणिक निर्वचन देता है और समस्त सूक्त का अर्थ उसी के अनुसार करता है। पौराणिक निर्वचन में एक आख्यान दिया गया है कि कभी देवासुर संग्राम में अग्निरूपी रूद्र देवताओं द्वारा रखे गए धन का अपहरण करके भाग गया। असुरों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् देवताओ ने इसे ढूँढ़कर इसे पाकर वह धन छीन लिया। धन छीन लेने पर वह रोने लगा। इसलिए उनका नाम रूद्र हो गया। (कदाचिद्देवासुर संग्राममेऽग्न्यात्मको रूद्रो देवैर्निक्षिप्तं धनमपहृत्य निरगात् असुराञ्जित्वा देवा एवन्विष्य दृष्ट्वा धनमपाहरन्। तदानीमरूदत्।) यहाँ रोना अर्थवाले रूद् धातु से निष्पन्न या निर्वचन किया गया है। रूद्र को पौराणिक शिव के रूप में माना गया है।

4. सुभाषित संग्रह, द्वितीय खण्ड, श्री श्री आनन्दमूर्त्ति, श्री गणपति प्रेस, कलिकाता-6, प्रथम संस्करण, 1957, पृष्ठ संख्या-50-52
5. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्, प्रथमो भाग:, श्री वाचस्पति मिश्र प्रणीत 'भामती' संकलित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, द्वितीय संस्करण, 1995, पृष्ठ संख्या-388-389
6. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या-89
7. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारू देवस्य नाम।
   -ऋग्वेद संहिता, भाग-1, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना, मथुरा, संस्करण, 2005, 1/24/2, पृष्ठ संख्या-29
8. अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि।
   -ऋग्वेद संहिता, भाग-3, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना, मथुरा, संस्करण, 2005, 7/4/4, पृष्ठ संख्या-8
9. त्वमग्ने पुरूरूपो विशे विशे वयो दधासि प्रत्नथा पुरूष्टुत।
   -ऋग्वेद संहिता, भाग-2, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना, मथुरा, संस्करण, 2005, 5/8/5, पृष्ठ संख्या-13
10. अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
    एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।
    -ईशादि नौ उपानिषद्, हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर-5, चौबीसवाँ संस्करण, 2060, कठोपनिषद्, 2/2/9, पृष्ठ संख्या -126
11. प्रमात्रभी रिरिचे रोचमान: प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीत:।
    प्र मज्मना दिव इन्द्र: पृथिव्या: प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी।।
    -ऋग्वेद संहिता, भाग-2, 3/46/3, पृष्ठ संख्या-64
12. जनिता दिवो जनिता पृथिव्या:।
    -ऋग्वेद संहिता, भाग-3, 8/36/4, पृष्ठ संख्या-91
13. इन्द्रो मायाभि: पुरूरूप ईयते।
    -ऋग्वेद संहिता, भाग-2, 6/47/18, पृष्ठ संख्या-64
14. इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा।
    -ऋग्वेद संहिता, भाग-1, 1/32/15, पृष्ठ संख्या-44

❋❋❋

संस्कृत

रामायण एवं महाभारत में नारी की स्थिति

कु॰ सुनीता आर्या

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, डी॰ एस॰ बी॰ परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

भारतीय समाज में नारी एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है। आर्य-पुरुष ने सदा ही उसे अर्द्धांगिंनी माना है। यही नही व्यवहार में पुरूष मर्यादा से नारी सदा ही उत्कृष्ट मानी गई है। आर्य पुरुषों का यह कथन आज भी भारतीय नारी को गौरवान्वित कर रहा है।

यत्र नार्यस्तु पुज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्रफला क्रिया:।[1]

शास्त्र के इस कथन के अनुसार स्त्री-धर्म की रक्षा से ही भारत देवताओं का स्थान बना था। देवताओं को अमर-लोक से मृत्यु लोक में उतरने के लिए एक नारी धर्म ही समर्थ है।

सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया, आधे-से वे पुरुष एवं आधे से नारी हो गए।[2] धर्मप्राण भारत वेद पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों ने सद्धेतुसंवलित तर्को के द्वारा तथा प्राकृतिक विज्ञान के द्वारा भी स्त्रियों को पुरूषों की अर्द्धांगिंनी माना है। धर्म कार्यो में पत्नी सहित पति का निषेध किया गया है। पाणिनि ने पत्नी शब्द की व्युत्पत्ति ही यज्ञसंयोग में की है।

पाणिनि यत्युर्नो यज्ञ संयोगो

भारतीय पद्धति के अनुसार किसी भी धार्मिक सामाजिक एवं लौकिक कृत्य में स्त्री व पुरुष के उत्तरीय वस्त्रों के छोरों से ग्रन्थिबन्धन किया जाता है। बिना ग्रन्थिबन्धन किए कोई भी धार्मिक यज्ञ-यज्ञादि कर्म तथा सामाजिक मंगल-कृत्य नहीं किए जाते है। सभी गृहस्थों के घर में स्त्रियां लक्ष्मी समझी जाती हैं। ईट-पत्थर से बना घर ही घर नहीं है। वस्तुत: पत्नी ही घर है।

न गृहं गृहभित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।[3]

नारी को सदा अवधया बतलाया गया है। कैसी भी नारी क्यों न हो उसे मारना घोर पाप है। नारी के अंगों में देवताओं का वास है। विभिन्न वैदिक दर्शनों में जीव सृष्टि की दो धााराएं बतायी गयी हैं। एक स्त्री धारा एवं दूसरी पुरुष धारा। मीमांसा दर्शन ने सिद्ध कर दिया है कि मूल प्रकृति से स्त्री धारा का विशेष सम्बन्ध है। इस कारण यदि यह कहा जाय कि स्त्री मात्र ही प्रकृति रूपिणी है तो विज्ञान-विरूद्ध नहीं होगा।

सप्तशती-चण्डी एवं देवी भागवत में कहा गया है।

विद्या: समस्तास्तव देवि भेदा:

स्त्रिया: समस्ता: सकला जगत्सु

या याञ्च ग्राम्यदेवः स्युस्ता सर्वाः प्रकृतेः कलाः।
कलांशांशसमुद्भूजताः प्रतिविश्वेशु योशितः।

शैवागमों में नारी सुख का मूल, त्रिभुवन का आधार एवं त्रैलोक्यरूपा के रूप में प्रशंसित रही है।[4] संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मिीकि कृत रामायण आदिकाव्य समझा जाता है एवं वाल्मीकि आदि कवि माने हुए हैं। वाल्मीकि की रामायण "महनीय कला" का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। "मानव सौख्य की अभिवृद्धि, दीन-आर्तजनों का उद्धार परस्पर में सहानुभूति का प्रसार हमारे और संचार के बीच सम्बन्ध के विषय में नवीन या प्राचीन सत्यों का अनुसंधान जिससे इस भूतल पर हमारा जीवन उदात्त तथा ओजस्वी बन जाय या ईश्वर की महिमा झलके। "फलाडवेर के द्वारा किया गया "ग्रेट आर्ट" का यह लक्षण रामायण पर अक्षरशः घटित होता है। जीवन को ओजस्वी तथा उदात्त बनाने के लिए रामायण में जिन आदर्शों को चित्रित किया वे केवल भारतवर्ष के लिए ही मान्य एवं आदरणीय नही है। अपितु वे मानव मात्र के सामने उच्च-नैतिक स्तर व सामाजिक उदात्तता की भावना को प्रस्तुत करते है।

वाल्मीकि ने गृहस्थ धर्म की जिस श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित किया व ही अन्य काव्यों एवं सामाजिक जीवन में आदर्श बन गई। राम-कथा में स्त्री का अनेक रूपों में वर्णन हुआ है। माता कौशल्या, विमाता कैकयी, विद्वशी अनुसूया, विरहिणी उर्मिला, पतिव्रता मन्दोदरी, सती सुलोचना आदि रूप में नारी के अनेक चरित्रों को प्रस्तुत किया गया है। परन्तु सर्वाधिक उदात्त एवं मनोहर चित्रण है कथा की नायिका सीता का चित्रण मुग्धा एवं स्वकीया के रूप में किया गया है। सीता अपने समस्त शील एवं सौन्दर्य के साथ कवि की लेखनी से चित्रित की जाती हुई भारतीय जनमानस पर छा जाती है। एवं पतिव्रत्य धर्म का पवित्र आदर्श प्रस्तुत करती है। बारम्बार प्रार्थना करने वाले रावण का पूर्णतया तिरस्कार करने वाली सीता भारतीय नारी का गौरव है। जानकी का चरित्र भारतीय पत्नियों के महान् आर्दश का प्रतीक है। रावण के विषय में उसके अवहेलना सूचक वचन भारतीय नारी का गौरव सदा उद्घोषित करते रहेंगे। सीता कहती है–

"इन निशाचर रावण से प्रेम करने की बात दूर रही मैं तो इसे अपने पैर से नहीं-नहीं, बाये पैर से-भी नहीं छू सकती।[5] रामायण काल में नारी के शील पर अधिक ध्यान दिया जाता था। सीता की अग्नि-परीक्षा इसी बात को पुष्ट करती है। पर-पुरुष के स्पर्श मात्र से ही नारी को दूषित मानकर कठोर परीक्षा लेने का विधान था। रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता की विशुद्धि को सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिए अनेक कटु वचन कहे उसके प्रत्युत्तर में कहे गए सीता के वचन अत्यन्त मर्मस्पर्शी है।

"हे नर-शद्लि क्रोध का ही आचरण करते हुए तुम्हारे द्वारा लघु मनुष्य के समान स्त्रीत्व ही आगे रखा गया। बाल्यकाल में किए गए पाणिग्रहण मेरी भक्ति एवं मेरा शील आपके द्वारा पीछे ढकेल दिया गया।[6]

अनादृता भारतीय ललना के ये उद्गार सुनते ही सहृदय व्यक्तियों की आँखो में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते है।

परन्तु गृहस्थ जीवन में नारी को विशेष महत्व दिया गया था। भारतीय गृहस्थ जीवन का वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। राम-जानकी का भयानक युद्ध भी इस काव्य का उद्देश्य नही है। वह तो राम-जानकी पति-पत्नी की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का उपकरण मात्र है। पितृ

ऋण से उऋण होने के लिए मनुष्य को गृहस्थाश्रमी होकर सन्तति प्राप्त करनी होती है। पितृ ऋण से उऋण करने के कारण ही पुत्र पिता को नरक से बचाने वाला बताया गया है।[7] रामायण में स्त्री को प्रेयसी सहधर्मचारिणी मित्र एवं सहयोगी के रुप में प्रस्तुत किया गया है। रामायण अन्य काव्यों के लिए निःस्सन्देह प्रेरक काव्य है। राम-सीता के कथानक को लेकर अनेक काव्यों की रचना हुई। भवभूति ने तो उत्तराचरितम् में सीता को त्याग की पूर्ति तपस्विनी एवं मुग्धा के रुप में वर्णित किया है। रामायण में उर्मिला विरहिणी प्रोशित-पतिका के रूप में ही चित्रित की गई है। जबकि सीता परित्याग से पूर्व सदा ही स्वाधीन पतिका है। सीता उर्मिला दोनों की उत्तमा कोटि की नायिकाएं है। इसी प्रकार रावण की पत्नी मन्दोदरी का चरित्र-चित्रण भी अत्यन्त सुन्दर रुप में प्राप्त होता है। रावण पर स्त्री हरण के कारण अधम कोटि के गुणों से युक्त एवं प्रतिनायक के रुप में वर्णित है। परन्तु उसकी पत्नी मन्दोदरी पति की परम हितौशिणी एवं सखा तथा सहधर्मचारिणी के रुप में उत्तमा नायिका के गुणों से युक्त है। वह सदा ही पति को हितोपकारक उपदेश देने वाली पत्नी है। स्वकीया नायिका है। परन्तु स्वाधीनपतिका नहीं है। क्योंकि उसका पति निरन्तर अन्यासक्ति में रत है।

पत्यन्तर को प्राप्त हुई बालि की पत्नी तारा है। जिसे हम "पुनर्भू" कह सकते है। इसका तात्पर्य यह है कि रामायण काल में अनार्य जातियों में शत्रु सम्पत्ति पर अधिकार के साथ उसकी पत्नी पर भी अधिकार हो जाता था।

इसी प्रकार पवित्र आचरण वाली अहिल्या विद्वता की प्रतिमूर्ति अनसूया आदि अनेक नारी पात्र तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति को सूचित करते है।

रामायण के पश्चात् महाभारत के रचयिता व्यास ही श्रेष्ठ कवि हुए। उनका काव्य आर्ष काव्य कहलाता है। रामायण का जिन आदर्शों के कारण जनमानस में प्रतिष्ठित स्थान है। उन आदर्शों की अवहेलना महाभारत में बहुलतया पाई जाती है। रामायण में वर्णित भ्रातृ-प्रेम, मातृ-प्रेम, पति-पत्नी के कर्त्तव्यादि पारिवारिक एवं सामाजिक आदर्श महाभारत में किंचिद् स्थान भी प्राप्त नहीं करते वस्तुतः महाभारत इतिहास ग्रन्थ होने के कारण जीवन के यथार्थ एवं व्यावहारिकता के अधिक निकट है। राजनीतिक षडयन्त्र, छल-कपट, भ्रातृवंचना आदि विशम स्थितियां महाभारत में यत्र-तत्र बहुलतया मिलती है। हिन्दू धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण महाभारत में उपलब्ध है। केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के विशुद्व का परिचय पा सकते है। महर्षि व्यास ने अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानों के माध्यम से जीवन के सत्य को सिखलाया है। लौकिक व्यवहार का उपदेश दिया है। महाभारत में कौरवों पाण्डवों के युद्व का वर्णन है। विश्व प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ गीता भी महाभारत का ही अंश है। इन राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक परिवेश में गुथी घटनाओं में नारी का महत्वपूर्ण स्थान है। महाभारत में गृहस्थ धर्म को महत्व दिया गया है। पत्नी को पुरुष का आधा अंग माना गया है। वही पुरुष की परम मित्र है। त्रिवर्ग का मूल है

अर्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूल त्रिवर्गस्य भार्या मित्रं मरिष्यतः।।[8]

नारी का सदैव सम्मान करने का एवं वस्त्राभूषणों एवं अन्नादि से पूजा करने का निर्देष भी महाभारत में प्राप्त होता है।[9] महाभारत में दाम्पत्य का सार इस प्रकार बतलाया गया है।

स भार्या या गष्टहे दक्षा या भार्या या प्रजावती ।
स भार्या या पतिप्राण सा भार्या प्रतिव्रता।।[10]

महाभारत काल में यद्यपि गृहस्थ धर्म का रामायण के सदृश उच्च आदर्श नहीं था, परन्तु फिर भी गृहस्थ धर्म को श्रेष्ठ एवं गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ आश्रम माना गया है एवं सन्यासाश्रम को पापिष्ठा वृत्ति तक कह डाला है।[11] महाभारतकाल ने अन्य सब आश्रमों का पालन करने वाले एवं सामाजिक कल्याण की ओर उन्मुख रहने वाले गृहस्थाश्रम को ही अन्य सब आश्रमों का मूल माना है। महाभारत में गृहस्थाश्रम के महत्व को प्रतिपादित करने वाले अनेक आख्यान मिलते है। ऋर्षि कुणि गर्ग की अविवाहित तपस्यारत कन्या अन्त में अपनी तपस्या का अर्ध-भाग गालव-पुत्र श्रृंगवान को देकर एवं उससे विवाह करने के पश्चात् ही पुण्यलोकों की अधिकारिणी बन सकी[12] इसके अतिरिक्त पुत्रप्राप्ति के उद्देश्य ने भर गृहस्थाश्रम के महत्व को बढ़ाया है। जरूत्कारू नामक मुनि एवं अगस्त्य मुनि ने पितृ ऋण से उऋण होने के लिए ही विवाह किया था। पुत्र को वंश की प्रतिष्ठा बताया गया है।[13] कौटुम्बिक जीवन में दाम्पत्य का उच्च आर्दश पार्वती-शिव, सावित्री-सत्यवान्, दमयन्ती-नल, सीता राम आदि की चरित गाथाओं में मिलता हैं। महाभारत में संस्कृति रक्षा का श्रेय स्त्री वर्ण को देते हुए कहा गया है–

वैशम्यमपि सम्प्राता गोपयन्ति कुलस्त्रियः।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः।।

महाभारत काल में भी कन्या को अपना वर चुनने की अनुमति प्राप्त थी । इसके लिए स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी। परन्तु कहीं-कहीं इसके लिए वीर्य शुल्क भी प्रदान करना पड़ता था। अर्जुन द्रौपदी का विवाह इसी प्रकार का विवाह था। गान्धर्व विवाह का भी प्रचलन था। दुष्यन्त-शकुन्तला, पुरूरवा-उर्वशी आदि के विवाह इसी प्रकार के थे। राक्षस-विवाह के भी अनेक उदाहरण महाभारत में प्राप्त होते है। मरणोपरान्त पति के साथ सह-गमन की महाभारत में प्रशंसा की गई है।[14]

महाभारत में द्रोपदी कथा नायिका के रूप में वर्णित हैं। उसका पतिव्रता ओजस्विनी एवं स्वाभिमान नारी के रूप में चित्रण किया गया है। वह उत्तमा कोटी की नायिका है। पहले परकीया के रूप में एवं बाद में सर्वत्र स्वकीया के रूप में उसका परिचय प्राप्त होता है। उसका स्वाधीनपतिका रूप ही प्राप्तः देखने को मिलता है। इसी प्रकार शकुन्तला, दमयन्ती आदि नायिकाएं भी पहले परकीया एवं तत्पश्चात् स्वकीया के रूप में प्राप्त होती है। इन नायिकाओं का प्रोशितपतिका स्वरूप भी हमें प्राप्त होता है। उर्वशी साधारण नायिका के रूप में हमारे समक्ष आती है। परन्तु पुरूरवा से विवाह करके वह स्वकीया नायिका बन जाती है। सावित्री एवं गान्धारी का पातिव्रत्य भारतीय नारी का गौरव है। एवं उनके उत्तमा स्वरूप को प्रतिपादित करता है। महाभारत काल में भी विवाह के लिए उच्चकुलोत्पन्न शारीरिक सौन्दर्य से सम्पन्न कन्या को ही मान्यता दी गई है। यद्यपि विधवा विवाह एवं नियोग का भी प्रचलन था।

महाभारत काल में ही स्त्रियों की दशा निरन्तर गिरती चली गई उनकी इस हीन दशा के लिए उस समय का समाज उत्तरदायी था महाभारत काल में कुछ ऐसी प्रथाओं को बल मिल गया था जिससे स्त्री की दशा अत्यधिक निम्न होती गई इन प्रथाओं में नियोग प्रथा एवं सती प्रथा विशेष है। सन्तानहीन विधवा एवं पति के नपुंसक होने पर सन्तान प्राप्ति के लिए स्त्रियों में नियोग प्रथा का प्रारम्भ हुआ। यह प्रथा नैतिकता से परे थी इस प्रकार रामायण एवं महाभारतकालीन नारी की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। सीता, दमयन्ती, शकुन्तला, उर्वशी आदि का सौन्दर्य बाद में महाकवियों की लेखनी से अत्यन्त मधुर बन पड़ा है।

निष्कर्ष

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है। कि महाभारत और रामायण काल में नारी की स्थिति महत्वपूर्ण थी। उस समय स्त्री को समाज में उचित सम्मान प्राप्त था। उस समय नारी को प्रेयसी, सहर्धचारिणी मित्र एवं सहयोगी के रूप में स्वीकार किया गया है। और सबसे सर्वश्रेष्ठ स्थान पत्नी को प्राप्त था। महाभारत में पत्नी को पुरूष का आधा अंग स्वीकार किया गया है। उस समय नारी को सदा सुखी तथा वस्त्र और आभूषणों सें सजा कर रखने की प्रथा थी। तथा नारी को समाज में पूज्यनीय स्थान प्राप्त था। आज के इस वर्तमान समय में भी नारी की स्थिति सम्मानीय है। आज के समाज में नारी का स्थान सर्वोपरि है।

सन्दर्भ सूची:

1. मनु-स्मृति 3/56
2. वृहदारण्यक उपनिषद 14/1/3
3. निरूक्त, 3/21/2
4. नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
   नारी त्रिभुवना धारा नारी देहस्वरूपिणी।।
   (शक्तिसयंत्र तन्त्र, नारायण खण्ड 13,44)
5. चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
   रावणं कि पुनरहं कामयेयं विगर्हितमत्।।
   (वाल्मिकी रामायण 5-26-10)
6. त्वया तु नरशार्दूल।
   (वाल्मिकी रामायण)
7. वाल्मिकी रामायण 2/107/12
8. महाभारत आदि पर्व 68/41
9. महाभारत आदि पर्व 69/43
10. महाभारत आदि पर्व 68/39
11. महाभारत 12-10-22
12. महाभारत 9-52,3-33
13. महाभारत 9,94,14,1,74,98
14. याऽपि चैवंविधा नारी भर्तारमनुवर्तते।
    विराजते हि सा क्षिप्र कपोतोव दिवि स्थिता ।।
    (महाभारत शान्त पर्व 145/15)

❄❄❄

संस्कृत

“स्मृति ग्रंथों में पराशर स्मृत्ति का स्थान एवं महत्व”

डॉ. प्रदीप ठाकुर

ग्राम- खिरियावाँ, पोस्टः अमवाँ (बोधगया), जिलाः गया (बिहार), पिनः 824231

धर्मप्राण भारतीय समाज की समस्त सामाजिक व्यवस्थायें धर्म के साथ सम्पृक्त होकर मानव के लिए मार्ग प्रदर्शन का कार्य करती है। वेद भारतीय साहित्य और संस्कृति के अमूल्य निधि है। ये मानव को समाज के अनुकूल आचरण करने की शिक्षा प्रदान करते हैं। किन्तु ये मानवों के आचार को सुव्यवस्थित ही नहीं करते बल्कि इनका प्रतिपाद्य क्षेत्र बहुआयामी है। स्मृति ने उन्हीं आचारगत नियमों से एकत्र कर उसको एक सुसम्बद्ध स्वरूप प्रदान किया। वेदों अथवा श्रुतियों के सिद्धान्तों की इसमें व्याख्या हुई। कदाचित इसी कारण से कालिदास ने 'रघुवंशम्' में स्मृतिग्रन्थों को श्रुतियों का अनुसरण करने वाला कहा है- 'श्रुतेरिवार्थ स्मृतिरनवगच्छत्।[1]

स्मृति शब्द स्मृ+क्तिन् से निष्पन्न है जिसका तात्पर्य स्मरण और प्रत्यस्मरण आदि से है।[2] अतः स्मृति स्मरण का विषय है और यह परम्परागत रूप से चला आ रहा धार्मिक साहित्य है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी 'स्मृति' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्मृति शब्द को श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग किया गया है। पुरातन काल में लेखन परम्परा की अनुलपब्धता के कारण ऋषि अर्जित ज्ञान से अपने शिष्यों को कण्ठस्थ करा देते थे। यह पराम्परा कुछ काल तक अनवरत रूप से चलती रही। शिष्य को सुनाकर कण्ठस्थ करा दिए जाने के कारण से श्रुति परम्परा का ग्रन्थ माना गया। इस पराम्परा के अन्तर्गत चारों वेद आते हैं। किन्तु स्मृति शब्द का प्रयोग ऋषि प्रकाशित अथवा ऋषि दृष्ट वाङ्मय (श्रुति) से भिन्न अर्थ के लिए हुआ है।[3] इसका सीधा तात्पर्य स्मरण से है। स्मृति का श्रुति परम्परा से स्पष्ट भेद किया जा सकता है। स्मृति स्मरण शक्ति को प्रभावित करती है। इसके लिए किसी विशेष शिखा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती है।[4]

स्मृति शब्द से पारिभाषिक और सामान्य दोनों अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है। गौतम और बोधायन ने स्मृति को 'वेद को जानने वालों का स्मरण' माना है।[5] पूर्ववर्ती आचार्यों की व्याख्या को स्वीकार करते हुए मनु ने भी स्मृति शब्द का अर्थ 'वेदज्ञों का स्मरण' माना और उसका प्रयोग धर्मशास्त्र के अर्थ में किया है।[6] धर्मशास्त्रकारों का ये विचार अत्यन्त संकुचित प्रतीत होता है।

पी.वी. काणे ने स्मृति का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। उनके मतानुसार 'स्मृति का तात्पर्य वेद वाङ्मय से इतर ग्रंथों – तथा पाणिनीय + व्याकरण, श्रोतसूत,' गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों, महाभारत, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति और अन्य ग्रंथों से है।[7] किन्तु सामान्यतः स्मृति का तात्पर्य संकुचित अर्थ में केवल स्मृति ग्रंथों से ही लिया जाता है तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि।

स्मृति ग्रंथों की प्राचीनता और परम्परा के सम्बन्ध में निर्णायक रूप से कुछ कह पाना बड़ा कठिन है। उपलब्ध स्मृति ग्रंथों में अनेक स्मृतिकारों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भी अन्य ग्रंथों तथा विदेशियों के यात्रा वृत्तान्तों में विविध स्मृति-ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। अलबेरूनी के अनुसार स्मृति वेद से उद्‌भूत है। ब्रह्मा के बीस पुत्रों ने बीस स्मृति ग्रंथों की रचना की। वे इस प्रकार है–

आपस्तम्ब, पराशर, शतपथ (शातातप), सामवर्त, दक्ष, वशिष्ठ, अंगिरस, यम, विष्णु, मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, हारीत, लिखित, शंख, गौतम, बृहस्पति, कात्यायन, व्यास और उशनस्।

मनु और याज्ञवल्क्य की तरह पराशर ऋषि का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वे शत्यातु और वशिष्ठ के साथ उल्लिखित है। पराशर नाम अति प्राचीन है। तैत्तिरीय आरण्यक एवं बृहदारण्यक (वंश में) में क्रमशः व्यास पराशर्य एवं पाराशर्य नाम की चर्चा हैं। निरुक्त उन्हें वशिष्ठ का पुत्र बतलाया है। पाणिनि के अनुसार भी भिक्षुसूत्र नामक ग्रंथ पराशर–कृत् है। पराशर स्मृति की भूमिका में यह स्पष्ट कहा गया है कि ऋषि लोग ने व्यास के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे कलयुग में मानवों के लिए आचार-सम्बन्धी धर्म की बातें बतायें। व्यास जी उन्हें बदरिकाश्रम में शक्तिपुत्र अपने पिता पराशर के पास ले गए और पराशर ने उन्हें वर्णधर्म के विषय में बतलाया। अतः पराशर स्मृति एक अति प्राचीन स्मृति है। क्योंकि याज्ञवल्क्य ने प्राचीन धर्मवेत्ताओं के रूप में पराशन की गणना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपलब्ध प्रति प्राचीन प्रति का संशोधित रूप है गरूड़पुराण ने पराशन स्मृति के 39 श्लोकों सारांश लिया है। तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि पराशन के श्लोकों का अक्षरशः अथवा कुछ परिवर्तन के साथ आशय लिया गया है।[8] कोटिल्य ने पराशर या पराशरों के विचारों का छः बार दिग्दर्शन कराया है। पराशर ने राजनीति पर भी लिखा था इससे यह स्पष्ट हो जाता है। महाभारत में पराशर व्यास के पिता के रूप में चित्रित है। एतदर्थ व्यास को पराशर्य अथवा पाराशरि कहा जाता है। अतः पराशर स्मृति पर्याप्त प्राचीन है।

पराशन का काल-निर्णय विवादास्पद है। डॉ. पी.वी. काणे ने लिखा है कि 'विश्वरूप मिताक्षरा अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि ने पराशर को अधिकतर उद्‌धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि नवीं शताब्दी में यह स्मृति विद्‌यमान थी। इसे मनु की कृतिका ज्ञान था।

अतः यह प्रथम शताब्दी तथा पांचवीं शताब्दी के मध्य में कभी लिखी गई होगी।[9] पिछले पृष्ठों में यह कहा गया है कि स्मृतियों का पौर्वावर्य का निर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। एतदर्थ उनका काल भी विवाद के जाल में फँस जाता है। इसका प्रमुख कारण एक ही नाम से भिन्न-भिन्न ग्रंथों में पाया जाता है। पराशर के काल-निर्णय में प्रायः सभी ने डॉ. काणे के मत का समर्थन किया है। अतः इनका मत अत्यधिक समीचीन प्रतीत होता है।

पराशर नाम पर कई स्मृति ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। एक वृहत्पराशर-संहिता भी है जिसमें बारह अध्याय और 3300 श्लोक है। लेकिन यह बाद की रचना प्रतीत होती है। यह पराशर स्मृति का संशोधन है। इसमें विनायकस्तुति की गई है। इस संहिता को मिताक्षरा, विश्वरूप या अपरार्क ने उद्‌धृत नहीं किया है। लेकिन चतुर्विंशति मत के भाष्य में भट्टोजिदीक्षित तथा दत्तकमीमांसा में नंद पण्डित ने इससे उद्‌धरण लिया है। अपरार्क के द्वारा एक पराशरनामी स्मृति का उल्लेख है जिसे वृद्धपराशर कहा जाता है। किन्तु यह पराशरस्मृति एवं बृहत्पराशर से भिन्न स्मृति है। हेमाद्रि और भट्टोजिदीक्षित द्वारा ज्योति पराशर का उल्लेख है जिससे वे उद्धरण लिए हैं। परन्तु पराशन स्मृति के

नाम से जो मान्य स्मृति ग्रंथ है उसमें बारह अध्याय तथा 593 श्लोक है। इसमें चातुर्वण्याचारादि कथन, सभी वर्णों का साधारण धर्म निरूपण आचार एवं विधि प्रकार के प्रायश्चित का विवेचन है। इस ग्रंथ का कई बार प्रकाशन हो चुका है। इस पर माधव की विस्तृत टीका अधिक प्रसिद्ध है। पराशर ने अन्य 19 स्मृतिकारों का नाम गिनाया है।

पराशर में कुछ विलक्षण बातें पायी जाती है—केवल चार प्रकार के पुत्र (औरस, क्षेत्रज, दत्त और कृत्रिम)। यद्यपि यह ग्रंथ से स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे अन्यों को नहीं मानते। सती-प्रथा की उन्होंने खूब स्तुति की है। पराशर ने अन्य धर्मशास्त्रों के मतों की चर्चा की है। मनु का नाम कई बार आया है। बौधायन धर्मसूत्र की बहुत सी बातें पायी जाती है। पराशर ने उशना, प्रजापति, वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र स्मृति आदि की स्थान-स्थान पर चर्चा की है।

पराशरस्मृति के रचयिता पराशर एक प्राचीन ऋषि हैं, लेकिन उनके नाम से उपलब्ध स्मृति बाद की रचना प्रतीत होती है। पराशन ने अपने स्मृतिग्रंथ में आचार और प्रायश्चित का विशद विवेचन किया है, किन्तु दैन्दिन जीवन के लिए सर्वथा उपयोगी व्यवहार पक्ष को लगभग छोड़ दिया है। मानवों के लिए अकार्य श्रेणी के विषयों की विवेचना विस्तृत रूप से हुई है। वस्तुओं की उपादेयता और हेयता का भी विस्तृत वर्णन है। कौन-सा आचरण स्वीकार्य है और कौन-सा त्याज्य अथवा कौन-सा वस्तु ग्राह्य और अग्राह्य है इस विषय का प्रतिपादन सम्यक् ढंग से हुआ है। राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'क्षत्रिय को चाहिए कि प्रजा की रक्षा करे। हाथ में शस्त्र धारण किए ही रहे। दण्ड भलीभाँति दे और दूसरे की सेनाओं को जीतकर धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करें।

क्षत्रियो हि प्रजारक्षन शस्त्रप्राणि: प्रदण्डवान्।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्।।

इसी क्रम में उन्होंने लक्ष्मी को कुक्रमानुगत न मानकर शस्त्रोपार्जित माना है और वीरभोग्या वसुन्धरा का सिद्धान्त स्थापित किया है—

न श्री: कुलक्रमाज्जाता भूषणोलिलिखिताऽपि वा।
खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत वीरभोग्या वसुन्धरा।[10]

वैश्यों और शूद्रों की वृत्तियों का भी पराशर ने उल्लेख किया है। कृषि कार्य करने वाले लोगों के लिए यह विधान बतलाया गया है कि किस प्रकार के पशुओं को हल में जोते और किस प्रकार को नहीं जोते। मद्य और मांस बेचने अभक्ष्य के भक्षण करने और अगम्य स्त्री का गमन करने से शूद्रों का पतन हो जाना और वेद अक्षरों का विचार करने से नरकगामी होना (शूद्रस्य नरक ध्रुवम्) इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मनु की तरह ये भी उनके प्रति अधिक कठोर हैं। यह संकेत व्यवस्थाओं में तो परिलक्षित होते ही हैं, सांस्कृतिक सामग्री में भी झलकते हैं। ये शासन व्यवस्था और राजनीति, धार्मिक विश्वास और सम्प्रदाय, सामाजिक स्थिति, आर्थिक जीवन, शिक्षा पद्धति आदि अनेक क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं।

लेकिन इस आरोप का परिष्कार किया जा सकता है। विधि और विधान किसी काल की सांस्कृतिक परिस्थितियों को परिलक्षित करने में कितने समर्थ होते हैं यह विचारणीय है विधि में एक आदर्श विधान होता है जो भविष्य की गतिविधियों और परिस्थितियों को नियमित करने का प्रयास करता है। विधि, देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप होती है। वह कल्पना लोक में नहीं विचरती।

अतीत के परिवर्तन और विकास के परिणामस्वरूप ही ये होते हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि – 'वे तत्कालीन यथार्थ से सीधे जुड़े होते हैं। वे समकालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही बनाये जाते हैं। विधि की व्यवस्था कदम-कदम पर अपने काल की दिशा की ओर संकेत करती है, उसी को व्यवस्थित और नियमित करना चाहती है। इस काल की दशा की पृष्ठभूमि में ही उसे हम समझ सकते हैं।[11]

अकार्य कृत्तियों के किए जाने पर उसका प्रायश्चित और दण्ड का विस्तार से उल्लेख पराशर ने किया है। संभव है उनके समय तक सामाजिक परिस्थितियों के कारण सती-प्रथा की अनिवार्यता हो गयी हो। मानवों के दैन्दिन जीवन के पक्षों का विस्तृत उल्लेख करने के कारण समाज ने पराशरस्मृति को कलियुग के लिए प्रधानस्मृति मान लिया – कलौ पराशर स्मृतः। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मनु और याज्ञवल्क्य की महत्ता अधिक है फिर भी अन्य स्मृतिकारों में पराशर महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

संदर्भ सूचीः

1. रघुवंशम् सर्ग-2 श्लोक 2
2. वी.एस.आम्टे – संस्कृत हिन्दी कोश पृ. 1153
3. याज्ञवल्क्यस्मृति (अनु. – उमेशचन्द पाण्डेय), पृ. 27
4. अल्फ्रेक्ट, बेबर, भारतीय साहित्य (अनु.– उमेश चन्द्र पाण्डेय) इलाहाबाद, 1968, पृ. 11
5. गौतमर्धमसूत्र 1-2, बौधायनधर्मसूत्र-1-1-3
6. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रः तु वे स्मृतिः। मनु-2-10 मनु ने स्मृति शब्द को धर्मशास्त्र के पर्याय में रखकर उसका क्षेत्र संकुचित कर दिया। तैत्तिरीय आरण्यक (1-2) एवं पूर्व मीमांसा 6-8-23, 12-4-24 में स्मृतिशब्द कुछ व्यापक अर्थ में आया है। वेदान्तसूत्र में भी 'स्मृति' का व्यापक अर्थ लेते हुए उसमें सांख्यदर्शन को भी ग्रहण किया गया है। वेदान्त सूत्र 3-1-14-21, 4-2-14
7. पी.वी. काणे – धर्मशास्त्र का इतिहास भाग - 1, पृ. 40
8. गरूड़पुराण अध्याय-107
9. धर्मरण्स्त्र का इतिहास भाग - 1, पृ. 55
10. पराशरस्मृति अध्याय-1, श्लोक-66-67
11. डॉ. राजदेव दूवे – स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति प्राक्कथन-पृ. 6

❇❇❇

संस्कृत व्याकरण में शाब्दबोध – विचार

डॉ. हेमवती नन्दन पनेरु

असिस्टेंट प्रोफेसर (संविदा), संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल

संस्कृत वाङ्मय विश्व के समस्त वाङ्मयों में एक विशिष्ट वाङ्मय है जिसके ज्ञान की प्राप्ति के लिए मानव निरन्तर प्रयत्नशील रहता है परन्तु इस वाङ्मय को पृथिवी पटल पर उतारने में व्याकरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखायी देती है, इसी कारण वेद के षडङ्गों में इसकी गणना करते हुए इसे वेद का मुख भी कहा जाता है।[1] व्याकरण ज्ञान के बिना वेद, वेदान्त, स्मृति, पुराण इतिहास काव्य आदि किसी भी विषय का ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। भास्कराचार्य जी इन्हीं को आधार मानकर कहते हैं व्यक्ति किसी भी शास्त्र का अध्ययन करें या ना करें उसको व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए क्योंकि व्याकरण ज्ञान के बिना शब्दों का उचित प्रयोग नहीं हो सकता जिसके परिणाम स्वरुप शब्दों के अर्थ का अनर्थ होने लग जाता है।[2] जैसे-स्वजन का अर्थ सम्बन्धी और श्वजन का अर्थ कुत्ता, सकल का अर्थ सम्पूर्ण तथा शकल का अर्थ खंड इत्यादि। इसी कारण से शाब्दबोध के लिए व्याकरण के अध्ययन को उपयोगी बताते हुए कहते हैं–

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठपुत्र व्याकरणम् ।

स्वजनः भवजनो माभूत् सकलः भाकलः सकृच्छकृत।।

पतंजलि मुनि ने भी **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च'**[3] को उदधृत करते हुए व्याकरण के अध्ययन पर जोर दिया है। विश्व में प्रत्येक व्याकरण की अपनी-अपनी परम्परा रही है जिसमें संस्कृत-व्याकरण की परम्परा को अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार उपलब्ध वैदिक पद पाठकों की रचना से पूर्व व्याकरण शास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था।[4] वाल्मीकि रामायण में तो व्याकरण का सुव्यवस्थित पठन-पाठन करने का स्पष्ट उल्लेख भी प्राप्त होता है।[5] इसी कारण से ऋक्तन्त्रकार के अनुसार व्याकरण का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा ने बृहस्पति को तथा बृहस्पति ने इन्द्र को शब्दोपदेश दिया,[6] परन्तु तैत्तिरीय संहिता ने व्याकरण का आदि संस्कृता इन्द्र को बताया है।[7] इसी मार्ग को अपनाते हुए वोपदेव ने भी आठ शाब्दिकों का उल्लेख करते हुए सबसे पहले इन्द्र का ही नाम लिखा था।[8]

प्राचीन काल से अब तक अनेक व्याकरणाचार्य हुए श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि से पूर्व अस्सी वैयाकरणाचार्यो का उल्लेख किया है। डॉ० राधाबल्लभ त्रिपाठी जी ने पाणिनि से पूर्व आपशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाक्य, सेनक और स्फोटायन का उल्लेख किया है।[9] सम्प्रति इन सभी आचार्यों में से किसी का व्याकरण पूर्णरुपेण प्राप्त नही होता है उनका केवल उल्लेख मात्र ही मिलता है। इन सब में सर्वप्रथम पूर्ण व्याकरण महर्षि पाणिनि जी का

ही उपलब्ध होता है जिनका समय श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी ने 2800 वि. पू. माना है,[10] किन्तु डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने उनका समय 500 ईसा. पूर्व. नन्द राजा महानन्द के समकालीन माना है।[11] व्याकरणशास्त्र की परम्परा सुदूर प्राचीनकाल से लेकर 20वीं शताब्दीं तक में भी वैयाकरण सिद्धान्तों के रुप में परिलक्षित होती रही है इन्हीं सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त शाब्दबोध के सम्बन्ध में भी है जो महत्त्वपूर्ण चिन्तन का विषय है।

समाज में जिस व्यापार के माध्यम से शब्द अपने अर्थ का बोध कराता है वही शाब्दबोध है। शाब्दबोध में शब्द करण तथा अर्थ उसका कार्य है शाब्दबोध में प्रथम तो शब्द का ज्ञान तदनन्तर तद्विषयक अर्थ ज्ञान आवश्यक है। नागेशभट्ट जी ने अपने ग्रंथ में कहा है कि वृत्ति न जानने वाले को शाब्दबोध नही होता है तथा जो वृत्ति को भूल गया उसे भी शाब्दबोध नही हो पायेगा।[12] शब्दों के निर्वचन में सदैव अर्थ को ही विचार का विषय बनाया जाता है क्योंकि बिना अर्थ के शब्द निरर्थक और बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति असम्भव होती है। महाभाष्यकार ने अर्थ को प्रधान बताते हुए कहा है, कि जिस प्रकार ईंधन बिना अग्नि के नहीं जल पाता उसी प्रकार केवल वाणी के उच्चारण से वेदों का पाठ ज्ञानप्रद नहीं हो सकता है।[13] यास्क ने ऐसे वेदपाठी ब्राह्मणों को बोझ और ठूंठ के समान बताया है।[14]

व्याकरणशास्त्र में प्रधानभूत स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होती है इसीलिए स्फोट की व्युत्पत्ति **"स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः"** अर्थात् जिससे अर्थ की प्रतीति होती है उसको स्फोट कहते हैं और यह स्फोट वर्ण, पद, वाक्यादि भेद से आठ प्रकार का बताया गया है।[15] पद स्फोट से पदार्थों का तथा वाक्य स्फोट से वाक्यार्थों की प्रतीति होती है। गकार, ओकार, विसर्ग के योग से मिलकर बना हुआ जो 'गौः' पद गाय का बोध कराता है। वह कानों से सुनायी देने वाली ध्वनि नहीं उससे व्यक्त मानस स्फोट है कानों को सुनायी देने वाली ध्वनि तो क्षणिक और अस्थिर है क्योंकि एक शब्द के उच्चारण के बाद जब दूसरा शब्द उच्चारण किया जाता है तो तब तक प्रथम ध्वनिरुप शब्द नष्ट हो जाते हैं इसलिए अनेक वर्णो के समुदाय रुप पद की एक साथ उपस्थिति नही हो सकती है, इसीप्रकार अनेक पदों के समुदायरुप वाक्यों की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती है इसके लिए वैयाकरणों ने स्फोट सिद्धान्त की कल्पना की। पाणिनि से पूर्व वैयाकरणों में आपिशलि ने अपने शिक्षाग्रन्थ में शब्दनिष्पत्ति के सन्दर्भ में विचार करते हुए प्रयत्नविशेष को अभिव्यंजित किया है इसके द्वारा वर्णोचारण के पूर्व नाभिप्रदेश से प्रदत्त प्रेरित वायु ऊपर उठती हुई उदरस्थ कण्ठ आदि स्थानों में से किसी स्थान पर टकराती है वह संघर्ष ही शब्दनिष्पत्ति का हेतु है।[16] आचार्य भर्तृहरि के अनुसार व्याडि ने शब्द की दशविध अर्थवत्ता स्वीकार की है।[17]

वैयाकरणों का अभिप्राय यह है कि पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है उस संस्कार से सहकृत अन्त्यवर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णो को भी ग्रहण करने वाली एक मानसिक पद की प्रतीति उत्पन्न होती है उसी को पद स्फोट कहते हैं इसी प्रकार वर्ण ध्वनि से वर्णस्फोट और वाक्यध्वनि से वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति होती है। वैयाकरणों में यह स्फोट नित्य है इसी स्फोट को ग्रहण करने से वे शब्द को भी नित्य मानते हैं। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म के रुप में स्वीकार किया है उन्होंने शब्द को अनादिनिधन, अक्षर, जगत्कार, नित्य और चेतन बताते हुए

शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो भेद स्वीकार किए हैं **एकस्यैवात्मनो भेदौ भाब्दार्थावपृथक्स्थितौ।**[18] आचार्य भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध माना है, जिसमें शब्द वाचक तथा अर्थ उसका वाच्य बताया है।[19]

काव्य शास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के विवेचन को शब्दशक्ति नाम से प्रस्तुत किया है, इन्होंने वाचक लक्षक व्यंजक तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्य लक्ष्य व्यंग्य तीन प्रकार के उनके अर्थ बताये हैं। इन तीनों शाब्दबोधों में विद्यमान रहने वाली शक्ति को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहा जाता है।[20] काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में साक्षात्संकेतित अर्थ को बताने वाली शक्ति अभिधा उसके पश्चात् आने वाली शक्ति लक्षणा तथा अन्त में प्रतीत होने वाली शक्ति को व्यंजना के नाम से जाना जाता है।[21] आचार्य भर्तृहरि ने शाब्दबोध की प्रतीति के लिए केवल अभिधा को ही कारण माना उनके अनुसार वक्ता जिस समय जो कहना चाहता है तथा श्रोता उस समय जो समझता है वह वाच्य ही होता है इसीलिए वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का वस्तुत: कोई अस्तित्व ही नही रह जाता है यदि तथाकथित लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ ही वक्ता का अभिधेय है तो वह भी उस समय वाच्यार्थ ही हो जाता है।[22] आचार्य भर्तृहरि इस वाच्यार्थ को ही शाब्दबोध का जनक मानते हैं किन्तु अनेकार्थक शब्दों में कौन-सा अर्थ वाच्य होगा इसके लिए भर्तृहरि कहते हैं-

बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु।
यत्प्रयोक्ताऽभिसन्धत्ते भाब्दस्तत्रवतिष्ठते।। [23]

अर्थात्-अनेकार्थक तथा समानार्थक शब्दों में कौन सा अर्थ वाच्य है इसके निर्णय का आधार वक्ता का प्रयोग भावना ही है जिस अर्थ को प्रगट करने के लिए वक्ता शब्द का प्रयोग करेगा वही अर्थ वाच्य होगा तथा शेष सभी अवाच्य होंगे। इस वाच्य अर्थ के लिए भर्तृहरि ने उपचार और प्रतिचार की कल्पना की। इसके अनुसार शब्द का सम्बन्ध किसी भी अर्थ के साथ नहीं होता, वक्ता जिस भावना का प्रतिनिधि बनाकर शब्द का नियोजन करता है शब्द में वही अर्थ मुख्य होकर सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है।[24]

शाब्दबोध में प्रत्येक सार्थक शब्द किसी अर्थ विशेष का बोध कराता है लेकिन कौन सा शब्द किस अर्थ का बोध कराता है यह संकेताग्रह पर निर्भर है क्योंकि प्रत्येक भाषा में कोई शब्द किसी अर्थ को संकेतित करता है यह संकेत सामान्यतया स्वेच्छाजन्य या यदृच्छाजन्य होता है। पहले व्यक्ति किसी विशेष अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग करता है और धीरे-धीरे वही शब्द उस शब्द का संकेतित अर्थ माना जाने लगता है क्योंकि एक ही शब्द अनेक अर्थो को प्रस्तुत करने वाला होता है यह संकेतग्रह भी लोकव्यवहार और अनुशासन से होता है। बालक के अर्थ ज्ञान को देखें तो ज्ञात होता है कि अन्वय और व्यतिरेक की पद्धति से बालक भाषा सीखता है यथा- गाय लाओ, गाय ले जाओ, घोड़ा लाओ, घोड़ा ले जाओ, इन चार शब्दों में से बालक चार शब्द सीख जाता है गाय, घोड़ा लाओ, ले जाओ प्रथम दो वाक्यों में 'गाय' शब्द है लाओ कहने पर ले आया तथा ले जाओ कहने पर ले गया परन्तु दोनों वाक्यों में गाय शब्द रहा इससे बालक को ज्ञात हुआ कि यह गाय है। इस अन्वय-व्यतिरेक पद्धति से बालक को शब्दबोध हो जाता है। आचार्य जगदीश ने शाब्दबोध के आठ साधन बताये हैं यथा-

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याव्यवहारतश्च।

वाक्यस्य शेशाद्विवृतेर्वदन्ति सानिधयतसिद्धपदस्यवृद्धाः।।

आचार्य भर्तृहरि ने व्यक्ति को सहजबोध के लिए शाब्दबोध की औपचारिक सत्ता के साथ ही साथ अनेक सहायक तत्त्वों को स्वीकार करते हुए कहते हैं-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता,अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तः स्वरादयः, शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।[25]

अर्थात्-संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधभावना, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्दों की सन्निधि, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर आदि विशेष स्मृति के कारण हैं। संयोग द्वारा शाब्दबोध की प्रतीति का उदाहरण "हरिः" शब्द जिसके अनेक अर्थ हैं यथा-विष्णु, सिंह, कपि आदि, परन्तु सशंखचक्रोहरिः इस वाक्य में शंख और चक्र का संयोग विष्णु से होने के कारण हरिः शब्द का वाच्यार्थ विष्णु ही होगा जिससे व्यक्ति को एतद्विषयक विष्णु का शाब्दबोध हो जाता है। इसी प्रकार से अन्य सहायक तत्त्व भी शाब्दबोध की प्रतीति कराने में कारण हैं।

शाब्दबोधप्रकिया पर विचार करते हुए प्रो॰ भीमसिंह वेदालंकार जी ने नैयायिकों, मीमांसकों एवं वैयाकरणों के मुख्यरुप से तीन मत प्रस्तुत किये हैं-

1. प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध जो नैययिकों का मत है।
2. आख्यातार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध जो मीमांसको का मत है।
3. धाात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध जो वैयाकरणों का मान्य है।

वैयाकरण फल और व्यापार दोनों को धातु का अर्थ मानते हैं तथा फल और व्यापार के आश्रयभूत कर्मादि कारक, संख्या और काल को 'तिङ्' प्रत्ययों का अर्थ स्वीकार करते हैं, रामः पचति और रामेण ओदनः पच्यते इन कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य का उदाहरण देकर व्याकरण सम्मत शाब्दबोध प्रकिया को सुस्पष्ट किया है।[26]

निष्कर्षतः शाब्दबोध का तात्पर्य वाक्यार्थ ज्ञान से है जिसमें अन्य भी सहकारी कारण होते हैं जिनमें से वृत्तिविशिष्ट पद ज्ञान को शाब्दबोध में प्रमुख सहायक कारण माना गया है तथा आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ये सहकारी कारण के रुप में शाब्दबोध के लिए ग्रहण किये गये हैं परन्तु वैयाकरणों ने शाब्दबोध में धात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध प्रक्रिया को युक्तिसंगत माना है।

सन्दर्भ सूचीः

1. पाणिनीयशिक्षा, श्लोक सं॰ 14-42
2. लघुसिद्धान्तकौमुदी, श्रीमहेशसिंह कुशवाह, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
3. पतंजलिप्रणीत व्याकरणमहाभाष्यम् प्रथमाह्निक
4. संस्कृत व्याकरण का इतिहास प्रथमभाग पृ॰ 43
5. वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड 3/29
6. ऋक्तन्त्रकार 6-4

7. तैत्तिरीयसंहिता 6,4,71
8. वोपदेवरचित कविकल्पद्रुम।
9. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास डॉ॰ राधाबल्लभ त्रिपाठी पृ॰ 47
10. संस्कृत व्याकरण का इतिहास प्रथमभाग पृ॰ 137
11. इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि अध्याय – 8
12. परमलघुमंजुषा शक्तिनिरुपणम् पृ॰ 20
13. पतंजलिप्रणीत व्याकरणमहाभाष्यम् प्रथमाह्निक
14. निरुक्त अधयाय 1–6
15. काव्यप्रकाश विश्वेश्वरी टीका पृ॰ 30
16. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पंचदश खंड पृ॰ 319
17. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, पंचदश खंड पृ॰ 320
18. वाक्यपदीय 2/31
19. वाक्यपदीय 3/3/3
20. साहित्यदर्पण, द्वितीयपरीच्छेद
21. काव्यप्रकाश, द्वितीयपरीच्छेद
22. वाक्यपदीय 2/406–408
23. वाक्यपदीय 2/409
24. वाक्यपदीय 3/3/40
25. वाक्यपदीय 2/307–18
26. संस्कृत व्याकरणदर्शन, शाब्दबोधा के स्वरुप एवं उसकी प्रकिया पर विचार, प्रो॰ भीमसिंह वेदालंकार पृ॰ 79–80

❇❇❇

संस्कृत

षड्दर्शन में ईश्वर की सत्ता एवं उसकी सर्वज्ञता

डॉ० अवधेश कुमार यादव

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
राम लखन सिंह यादव महाविद्यालय, बख्तियारपुर

समस्त विश्व के दर्शन जगत् का प्रधान विषेच्य विषय ईश्वर-जीव व प्रकृति रहा है। जो तत्व ज्ञान के रूप में अभिहित किया गया है। यह भी सर्वमान्य सत्य है कि इस तत्व ज्ञान की जिज्ञासा के मूल में दुःख निवृत्ति के उपाय हैं। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि जो दार्शनिक चिंतन दुःख निवृत्ति के लिए प्रवृत्त हुआ था, वह स्वयं ही दार्शनिकों के हठ दुराग्रह पक्षपात अविद्या आदि के कारण दुःख का हेतु बना हुआ है। सांख्य एवं मीमांसा जैसे-वेदानुकूल शास्त्रों पर भी निरीश्वरवादी होने का आरोप क्या विद्वानों के हठ दुराग्रह का प्रबल प्रमाण नहीं है। तत्त्ववेदना वेदानुयायी ऋषि भला वेदानुकूल सिद्धांतों के विरुद्ध कल्पना कैसे कर सकते हैं। षड्दर्शनकार ऋषियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से न केवल ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है अपितु उसको सृष्टि के कर्त्ता, नियंता आदि के रूप में सर्वज्ञ भी सिद्ध किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैन एवं बौद्ध दर्शन में वर्णित सर्वज्ञ की अवधारणा से पूर्णतया भिन्न है।

व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वज्ञ शब्द का अर्थ है 'सर्व जानातीति सर्वज्ञ' अर्थात् सब कुछ जानने वाला। वेदों में यद्यपि सर्वज्ञ शब्द प्राप्त नहीं होता परन्तु इसके समानार्थक विश्ववेदस्, सर्ववित्, आदि शब्द प्राप्त होते हैं। जिनका अर्थ सब कुछ जानने से है। ज्ञान अतिशय रूप में जहाँ प्रतिष्ठित होता है, वही सर्वज्ञ है। यद्यपि वैदिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता एवं उसकी सर्वज्ञता की अवधारणा का दर्शन विस्तृत शोध की अपेक्षा रखता है। तथापि संक्षिप्त-सा वर्णन इस प्रकार है-

सांख्यदर्शन में ईश्वर

प्रचलित अवधारणा है कि सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी है वस्तुतः सूत्रों के क्रम एवं प्रकरण को तथा महर्षि कपिल की भावना को पक्षपात बुद्धि से देखने वाले विद्वानों ने ही यह अनर्गल प्रलाप किया है कि सांख्य निरीश्वरवादी है। अपने मत के पक्ष में ये लोग – ''ईश्वरसिद्धे'' सूत्र को सामने रखते हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इस सूत्र को क्रम एवं संदर्भपूर्वक विद्वानों ने देखा ही नहीं। सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान एवं आगम (शब्द) तीन प्रमाण स्वीकारता है। भला आगम प्रमाण मानने वाला

शास्त्र ईश्वर की सत्ता का निषेध कैसे कर सकता है। हाँ सांख्य ने ईश्वर की सृष्टि उपादानता का निषेध अवश्य किया है। लेकिन ईश्वर को जगत् के अधिष्ठाता के रूप में वर्णित किया है तथा उसे सर्वज्ञ बतलाया है। 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता'[2] अर्थात् वह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सब वस्तुओं का निर्माता है। साथ ही कतिपय सूत्रों में यह भी सिद्ध किया है कि जगत् के मूल उपादन अचेतन प्रकृति में कोई भी प्रवृत्ति चेतन की प्रेरणा के बिना नहीं होती, 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्व मणिवत्' समस्त विश्व के सर्ग और संचालन का नियन्ता एक चेतन है। जैसे लोहा जब चुम्बक के सम्पर्क में आता है तो अपने सान्निध्य मात्र से ही उसमें क्रियाविशेष उत्पन्न कर देता है।

योगदर्शन में ईश्वर

ईश्वर की सत्ता एवं सर्वज्ञता विषयक जो कोलाहल मतान्ध विद्वानों ने सांख्य दर्शन में मचाया था, वह सांख्य के समान तंत्र शास्त्र योगदर्शन में गहन शांति को प्राप्त हो जाता है। योगदर्शन में ईश्वर स्वरूप एवं सर्वज्ञता को बतलाते हुए आचार्य पतंजलि कहते हैं:–

''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषईश्वर:''[4]

''स: एष: सर्वेषाम् अपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।''[5]

''तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्''[6]

''तस्य वाचक: प्रणव:''[7]

अर्थात् वह ईश्वरअविद्यादि क्लेशों तथा उन क्लेशों से उत्पन्न शुभाशुभ कर्मों तथा उन कर्मों से उत्पन्न विपाक एवं वासनाओं से रहित है। उसमें ज्ञान की पराकाष्ठा होने से वह सर्वज्ञ है तथा गुरुओं का भी गुरु है, उसका वाचक प्रणव है।

न्याय-वैशेषिक में ईश्वर

न्याय वैशेषिक में ईश्वर की सिद्धि द्रव्य के रूप में नहीं की गई है अपितु कर्मफल प्रदात्ता के रूप में एवं सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। गौतम के अनुसार पुरुष के कर्म में ईश्वर सहायक है – ''तत्कारित्वाद हेतु:'[8]

इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। कणाद एवं गौतम ने अपने सूत्रों में स्पष्टत: ईश्वर को इसलिए समाविष्ट नहीं किया क्योंकि उनका उद्देश्य केवल इस दृष्य जगत् की व्याख्या करना था परवर्ती भाष्यकारों एवं व्याख्यकारों ने ईश्वर की सर्वज्ञता एवं उसके स्वरूप विषयक विस्तृत चिंतन प्रस्तुत किया है। उद्योतकार सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को सिद्ध करते हैं... 'तदेवं निमित्त विशेष विप्रतिपत्तौ'[9]।

जयन्तभट्ट के अनुसार – ''क्षेत्रज्ञस्तदपेक्षया सर्वज्ञ:'[10]

आचार्य प्रशस्तपाद ने भी अपने भाष्य के प्रारंभ में ही धर्म की व्याख्या में कहा है– ''ईश्वरचोदनाभिव्यक्त धर्म''।

इसके अतिरिक्त प्रशस्तपाद ने सृष्टि संहार निरूपण के अवसर पर स्पष्ट कहा है कि सिसृक्षा और संजिहीषा ही सृष्टि और प्रलय का आधार है। न्याय कुसुमांजलि में कहा है कि वेद किसी सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत हैं, चूंकि उनमें वेदत्व है - ''सर्वेज्ञेन प्रणीता वेदा: वेदत्वात्।'[12]

श्रीधराचार्य के अनुसार ईश्वर सृष्टि का रचयिता जीवों से भिन्न सहज ज्ञान से युक्त एवं जगत् का अधिष्ठाता है।

''सहजज्ञानमय: कर्तृत्वभाव: कोऽप्यधिष्ठाता कल्पनीय:''[13]

वादिवागीश्वर के अनुसार ईश्वर नित्यज्ञान का आधार है।

''नित्यज्ञानाधार ईश्वर इतीश्वरलक्षणम्''[14]

अन्नभट्टा के मत से भी ईश्वर नित्य ज्ञान का अधिकरण है–

''नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्।''[15]

न्यायमंजरी में वेदों का रचयिता ईश्वर को स्वीकारते हुए कहा है कि वेदों का रचयिता सर्वज्ञ ही हो सकता है। श्रुति इस तथ्य का समर्थन भी करती है कि प्रत्येक वस्तु का कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वर ही है।

''तत: सर्वस्य कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वरो ज्ञाप्यते।''[16]

मीमांसा दर्शन में ईश्वर

जिस प्रकार सांख्यदर्शन पर निरीश्वरवादी होने का आरोप लगाया गया तथैव मीमांसा जैसे वेदमूलक शास्त्र को भी दुराग्रहमति विद्वानों ने निरीश्वरवादी घोषित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। वेदोक्त धर्म का प्रतिपादक शास्त्र भला ईश्वर की सत्ता का निषेध कैसे कर सकता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि शबर या कुमारिल द्वारा ईश्वर का साक्षात् खण्डन कहीं भी नहीं किया गया। यदि उन्हें ईश्वर का निषेध ही अभीष्ट था तो वे पूर्ण घोष के साथ उसका खण्डन करना न भूलते। कुमारिल ने कहा है–

''शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते''[17]

अर्थात् वेद जो शब्दों के रूप में ब्रह्म है, एक सर्वोपरि आत्मा का स्थापित किया हुआ है। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि मैं उसे प्रणाम करता हूँ, जिसका शरीर विशुद्ध ज्ञान से बना है, तीनों वेद जिसके चक्षु हैं, जो परमानंद की प्राप्ति का कारण है–

''विशुद्ध ज्ञान देहायत्रिवेदिदिव्यचक्षुषे...।''[18]

ईश्वर के विवेचन में जो सहायता योगदर्शन ने सांख्य के प्रति की है, वैसा ही वेदांत ने मीमांसा के प्रति किया है। चूंकि ईश्वर मीमांसादर्शन का प्रधान विषय नहीं था। अत: मीमांसकों ने यह कार्यभार वेदान्तियों को सौंप दिया। वेदान्त द्वारा की गई ईश्वर चर्चा में जैमिनि मुनि ने अनेक स्थलों पर अपनी सम्मति दी है।

वेदान्त में ईश्वर

''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा''

ब्रह्मविषयक जिज्ञासा के साथ आरंभ होने के अनन्तर संपूर्ण शास्त्र प्रबल तर्कों के आधार पर ब्रह्म की सत्ता एवं उसकी सर्वज्ञता की स्थापना करता है। ''जन्माद्यस्य यत:''[20]

सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर अचिन्त्य रचना रूप वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण ऐसे ब्रह्म को बताते हैं, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नित्य, शुद्ध बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। ऋग्वेदादि शास्त्रों का कारण होने से भी ब्रह्म को सर्वज्ञ कहा गया है। -शास्त्रयोनित्वात्[21]

निष्कर्षतः स्पष्ट होता है कि सभी छः शास्त्र वेदानुकूल होने से एक ऐसे ईश्वर की सत्ता स्वीकारते हैं जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, अनन्त निर्विकार, अनादि, सर्वाधार आदि विशेषण युक्त है। उसकी सत्ता एवं सर्वज्ञता के लिए वेद से सबल अन्य प्रमाण क्या हो सकता है?

संदर्भ-सूचीः

1. सांख्यसूत्र - 1/92
2. सांख्यसूत्र - 1/95
3. सांख्यसूत्र - 1/96
4. योगसूत्र - 1/24
5. योगसूत्र - 1/25
6. योगसूत्र - 1/26
7. योगसूत्र - 1/27
8. न्यायसूत्र - 4/1/21
9. न्यायवार्तिक - 4/1/21
10. न्यायमंजरी भाग - 1
11. प्रशस्तपाद भाष्य - पृ.2
12. न्यायकुसुमांजली - पृ. 548।
13. न्यायकन्दली - पृ. 141
14. मानमनोहर - पृ.7
15. तत्वदीपिका - पृ.12
16. न्यायमंजरी
17. तन्त्रवार्तिक - पृ. 719
18. श्लोकवार्तिक-1/1/1
19. न्यायसूत्र - 1/1
20. न्यायसूत्र - 1/2
21. न्यायसूत्र - 1/3

❊❊❊

फिलस्तीन मुक्ति संघर्ष में भारत की भूमिका और इजराइल

उपेन्द्र कुमार सिंह

रिसर्च स्कॉलर, यूनिवर्सिटी डिपाटमेन्ट ऑफ पोलिटिकल साइंस, जे. पी. यूनिवर्सिटी, छपरा

भूमध्यसागर के पूर्वी किनारे पर जहाँ एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप-इन तीन महाद्वीपों का मिलन होता है, भूमि का एक संकरा प्रदेश फिलस्तीन (पैलेस्टाइन) नाम से परिचित है। पैगम्बरों का यह देश जहाँ से विश्व को शान्ति और प्रेम का सन्देश मिला था– आज शान्ति के लिए 'भयानक' सिद्ध हो रहा है। दाऊद और सुलेमान का सुविख्यात देश आज विश्व की शक्तियों से न्याय की भिक्षा मांग रहा है। आज फिलस्तीन साम्राज्यवादी शक्तियों के राजनीतिक दावपेंच का अखाड़ा बना हुआ है।

इतिहास के प्रारंभ में यहाँ जेबूसी, अभीर्ती और हित्तौती जैसी मूर्त्तिपूजक जातियों का जिक्र आता है। इसके बाद यहूदियों का राज्य स्थापित हुआ। यहूदियों का आधिपत्य कई शताब्दियों तक इस देश में रहा। बाद में ईसाइयों ने यहूदियों को हराकर इस देश में अपना आधिपत्य कायम किया। 637 ई॰ के करीब यह अरबों के अधीन चला गया। इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि तीनों जातियों के एक ही प्रपितामह हजरत इब्राहिम माने जाते हैं। इस दृष्टि से तीनों जातियों में इतनी मारकाट हो इसका कारण केवल धर्म ही नहीं हो सकता था। छिटपुट इस देश में मंगोल और मिस्र का भी शासन रहा। सन् 1517 ई0 से प्रथम महायुद्ध तक यह तुर्कों के अधीन रहा। इस लम्बी गुलामी के जीवन में अरब और यहूदी मिलकर खेतीबारी करते थे। आपस में भाई-भाई की तरह रहते थे। कभी दोनों साथ उठने की कोशिश करते थे, कभी दमन की मार से आहत होकर फिर साथ ही गिर पड़ते थे।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक यहूदियों का रूझान इस देश के प्रति धार्मिक ही था। इसके बाद यहूदीवाद का जन्म फ्रांस में हुआ और नेपोलियन के प्रोत्साहन से इसका प्रसार हुआ। नेपोलियन भी इसका सामरिक महत्त्व समझा गया था और पूरब की इस कूंजी को अपने हाथ में करना चाहता था। आगे चलकर यहूदियों का फिलस्तीन में आना फिर प्रारंभ हो गया। अभी तक अरबों में कोई जागृति नहीं थी।[1] इसी सदी के अन्त तक यहूदियों की 'राष्ट्रीय घर' (नेशनल होम) की मांग भी सामने आयी। एक आस्ट्रियन यहूदी ने ब्रेसल में एक 'अन्तरराष्ट्रीय जियानिस्ट कांफ्रेस' बुलाई और उसमें अपने 'राष्ट्रीय घर' बनाने की मांग रखी। कहा जाता है कि अमरीका तथा ब्रिटेन का इस मांग के पीछे हाथ था।

जब पहला विश्वयुद्ध शुरू हुआ तो तुर्की ने अपने भाग्य को जर्मनी के साथ जोड़ दिया। इससे

ब्रिटेन को सुनहला अवसर मिल गया। ब्रिटेन ने अरबों के हुक्मरान शरीफ हुसैन को आजादी का लालच दिया और अरबों को तुर्की के विरूद्ध भड़काया। ब्रिटेन ने घोषणा की कि वह अरबों की दासता से मुक्त करने के लिए ही युद्धस्थल में उतरा है। दूसरी ओर यहूदियों के नेता डॉ॰ वाइजमान से भी अंग्रेजों का एक गुप्त समझौता हुआ। इस तरह दोनों से अंग्रेजों को सहायता मिली। जब सन् 1917 में अंग्रेजों को अपनी जीत का पूरा विश्वास हो गया तो अरबों और यहूदियों को लड़ाने के लिए ब्रितानी विदेश मंत्री बालफोर ने घोषणा की कि यहूदियों का 'राष्ट्रीय घर' फिलस्तीन में बनेगा। पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से सन् 1920 तक वहाँ अंग्रेजों का फौजी शासन रहा। उसके बाद वहाँ अंग्रेजी संरक्षता में 'नागरिक प्रशासन' शुरू हुआ, जिस पर 1922 में राष्ट्रसंघ ने अपनी स्वीकृति दे दी।

इसके बाद से यहूदी और अरब भूल गये कि वे दोनों गुलाम हैं और उन्हें आजाद होना है। दोनों दो शत्रुओं की तरह रहने लगे तथा अपने को दो अलग राष्ट्र समझने ले। साम्प्रदायिक दंगे तो साधारण-सी बात हो गयी। नये संकीर्ण जोश ने, जिसने मानव-विकास को बहुत हद तक रोका है और आज भी मानव-समस्या का एक पहलू बना हुआ है—यहूदियों को प्रोत्साहित किया। यहूदी-प्रवास प्रारंभ हो गया। सन् 1923 में 7400, सन् 1924 में 12800, सन् 1925 में 33800, सन् 1930 से 1935 तक 1 लाख यहूदी बाहर से फिलस्तीन में आकर बस गये। मिस्टर बालफोर की घोषणा के समय यहूदी केवल 7 प्रतिशत थे। वे सन् 1937 ई0 तक बढ़कर 33 प्रतिशत हो गये। इस तरह यहूदियों की जनसंख्या का बढ़ना भी एक समस्या हो गई। यहाँ तक कि ब्रिटेन ने यह माना कि अगले पाँच वर्षों में उतने ही यहूदी आकर इस देश में बस सकते हैं, जिससे वे पूरी आबादी के एक तिहाई हो सके। उसके बाद दूसरे 5 वर्षों में यहूदी उस समय तक आ सकेंगे जब अरब उनका आना स्वीकार करेंगे। 8 फरवरी सन् 1920 ई॰ को चर्चिल ने युद्ध मंत्री की हैसियत से कहा कि–

"हमारे जीवन में ही जार्डन के तट पर ब्रिटिश क्राउन की संरक्षता में एक यहूदी राज्य की स्थापना होगी, जिसमें तीस या चालीस लाख यहूदी होंगे। इससे संसार को और विशेषकर ब्रितानी साम्राज्य को लाभ पहुंचेगा।' पहले विश्वयुद्ध के बाद सर हेनरी मैकमाइन ने कहा कि शाह हुसैन को मैंने जिस क्षेत्र को अरब राज्य बनाने का वचन दिया था, उसमें फिलस्तीन कदापि सम्मिलित न था। लायड जार्ज का कहना था कि हमारे फैसले के अनुसार अरब तथा फिलस्तीन अलग-अलग देश होने के अधिकारी है। अरबों ने समझा कि यदि फिलस्तीन अरब से अलग भी रहेगा तो उन्हीं का रहेगा। इस भाँति और भी कई अग्रेजों ने अपनी-अपनी सम्मति प्रकट की थी। 1927 ई0 में तो पील कमीशन ने बँटबारे की भी सिफारिश कर दी। इसके बाद और भी बहुत से कमीशन बैठे। शा कमीशन, होमसिमर्सन कमीशन, रायल कमीशन आदि ने अपनी-अपनी सिफारिशें प्रकाशित कीं। इन सभी का साधारण झुकाब अरबों की ओर था पर किसी में बालफोर घोषणा को रद्द नहीं किया गया था। सन् 1939 के श्वेत पत्र में ब्रिटेन की फिलस्तीन के विषय में नई नीति प्रकाशित हुई, जिसे अरबों ने मान लिया ओर यहूदियों ने अस्वीकार कर दिया। अरबों ने दूसरे महायुद्ध में ब्रिटेन की मदद की। किन्तु होना कुछ और था। ब्रिटेन विजयी जरूर हुआ पर वह अमरीका की दुम बन गया। अमरीका की राजनीति को वहाँ के बैकर और वैज्ञानिक यहूदी प्रभावित कर सकते थे। यही कारण था कि अमरीका ने यहूदियों की मांग को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया।[2]

फिलस्तीन एक छोटा-सा देश है। इसका क्षेत्रफल 10429 वर्गमील है। फिर भी विश्व की बड़ी

साम्राज्य वाली शक्तियाँ अपने-अपने अधिकार के लिए इस देश में होड़ लगाती रही है। ब्रिटेन कभी नहीं चाहता था कि अमरीका का प्रभाव मध्यपूर्व में बढ़े। किन्तु वह लाचार अमरीका का दास बना हुआ है। उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह अमरीका को नाराज कर सके। इन शक्तियों की लोलुपता के कारण फिलस्तीन का सामरिक महत्व बढ़ गया। फिलस्तीन पर जिसका अधिकार होगा वह मध्यपूर्व पर पूरा राजनीतिक प्रभाव डाल सकेगा। साथ ही स्वेज नहर पर, मिश्र पर, तूर्की पर नजर तथा भूमध्यसागर पर हावी रह सकेगा। फिलस्तीन के मजबूत हवाई बेड़े मध्य-पूर्व के गगन को अपने अधीन रख सकेंगे। फिलस्तीन व्यापारिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। नींबू और सन्तरे का व्यापार इस देश का प्रमुख व्यापार है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण फिलस्तीन की तेल-राजनीति है।[3]

दूसरे विश्व-युद्ध के बाद विश्व की सम्पूर्ण दबी हुई जनता अंगड़ाई लेने लगी। विशेषकर औपनिवेशिक जगत में एक नया चेहरा पैदा हुआ। हर देश की गुलाम जनता अपनी बेड़ियाँ काटने के लिए सचेष्ट हो गई। अरब और यहूदी भी अपने राज्य के सपने देखने लगे। इधर अमरीका और ब्रिटेन अपने-अपने प्रभुत्व के लिए दौड़-धूप करने लगे। दोनों फिलस्तीन की समस्या पर एक दूसरे से अधिक दिलचस्पी दिखाने लगे। अमरीका की नीति यहूदियों को प्रश्रय देने की थी। दूसरी ओर अरबों और यहूदियों का खून बह रहा था। एँग्लो-अमरीकन जाँच कमिटी नियुक्त हुई थी। इस कमिटी की मुख्य बात यह थी कि फिलस्तीन में 1 लाख यहूदी शीघ्र जा बसे। 20 अप्रैल, सन् 1946 को लन्दन में इस कमिटी की सिफारिशें प्रकाशित हुई। वहीं पर अरब और यहूदी सभा का भी आयोजन हुआ था। जब ब्रिटन ने प्रैडमुफ्ती को आमंत्रित करने से इन्कार कर दिया तो अरबों ने भी इसका बहिष्कार किया। इसके बाद ब्रिटेन ने इस समस्या को संयुक्त राष्ट्रसंघ में रखा।

संयुक्त राष्ट्र संघ की जेनरल असेम्बली ने "फिलस्तीन पर संयुक्त राष्ट्र" नामक कमीशन नियुक्त किया। इसमें 11 राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। अरबों और यहूदियों से फिलस्तीन आकर यह कमीशन बात करना चाहता था। लेकिन अरबों ने इसका बहिष्कार किया। कमीशन ने विभाजन की सिफारिश न की। कमीशन के भारत, युगोस्लाबिया, फ्रांस आदि देशों ने विभाजन का विरोध किया। किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ ने बहुसंख्यकों की बात मान ली। जब मतदान के लिए यह सवाल जनरल असेम्बली के सामने प्रस्तुत हुआ तो मिस्र, लेबनान, सीरिया, इराक, सऊदी अरब और अमन ने मतदान में भाग लेना अस्वीकार कर दिया। इस पर अमरीका ने अपना आर्थिक शिकंजा कसा और ये मत देने को बाध्य हो गये। यह प्रस्ताव 13 के विरूद्ध 33 मतों से पारित हो गया। फिलस्तीन के विभाजन के पक्ष में सोवियत संघ ने भी अपना मत दिया। सोवियत प्रतिनिधि ग्रोमिको ने इस सवाल के दो रास्ते सुझाये:–

1. या तो दोनों जातियों की पूर्ण रूप से बराबरी के अधिकार के आधार पर एक स्वतंत्र सम्मिलित अरब यहूदी राज्य बनाया जाय। या–
2. यदि यह संभव न हो तो फिलस्तीन और यहूदी दो स्वतंत्र राज्यों में बाँट दिया जाय।[3]

इसी समय ब्रिटेन ने घोषणा की कि वह 15 मई, 1948 में अपना अध्यादेश समाप्त कर देगा। यहूदियों तथा अरबों ने अपनी-अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के प्रयत्न प्रारंभ किये। अरबों की स्पष्ट इच्छा थी कि फिलस्तीन को एक अविभाज्य राज्य के रूप में स्वीकार किया जाये। इस राज्य में अरबों को बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के रूप में यहूदियों को स्वीकार किया जाय।

विभाजन दोनों ही पक्षों को स्वीकार न था। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अरबों ने सीधी कार्रवाई का आश्रय लिया तथा यहूदियों ने आतंक और हिंसा का मार्ग अपनाया। अमरीका ने मार्च, 1948 में प्रस्ताव रखा कि फिलस्तीन को न्यायपद्धति के अन्तर्गत अस्थायी रूप में रख दिया जाये। 16 अप्रैल, 1948 को संघ ने मध्यस्थ काउन्ट फल्के बरनाडोटे, जो स्वीडन के निवासी थे, की नियुक्ति की घोषणा की।

14 मई, 1948 को जेबिश ऐजेन्सी ने इजरायल के नवीन राज्य की स्थापना की घोषणा की। इस घोषणा की अरबों पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा उन्होंने यहूदी राज्य को समाप्त करने का निश्चय किया। अमरीका ने तुरन्त ही इस यहूदी राज्य को मान्यता प्रदान कर दी। यह कार्य अमरीका ने इतनी तत्परता से किया था कि संयुक्त राष्ट्र संघ में उसके प्रतिनिधि को भी यह समाचार पत्रों द्वारा ही ज्ञात हुआ था। सीरिया, लबनान, ट्रांसजोर्डन तथा मिस्र ने संयुक्त रूप से आक्रमण किया। सुरक्षा परिषद् ने दोनों पक्षों से अनुरोध किया कि वह तुरन्त युद्ध बन्द कर दें। डॉ. राल्फ-बुल्चे के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप युद्ध-विराम समझौता तो हो गया, किन्तु युद्ध वास्तव में बन्द न हो सका। इस बीच बरनाडोटे ने फिलस्तीन की यात्रा की तथा इस समस्या को हल करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। किन्तु इसके पूर्व कि वह अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त कर सके। उसकी हत्या कर दी गई। इसकी मृत्यु के बाद उसके प्रस्ताव प्रकाशित हुए जो इस प्रकार है—

1. निगेब को अरब क्षेत्र स्वीकार किया जाये।
2. गालीबी को यहूदी क्षेत्र घोषित किया जाये।
3. फिलस्तीन को अरब क्षेत्र के ट्रांसजोर्डन में सम्मिलित कर दिया जाये।
4. हैफा के बन्दरगाह को तथा लिड्डा के हवाई अड्डे को स्वतंत्र घोषित किया जाये।
5. जेरूसेलम को पृथक समझा जाये तथा उसे प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रखा जाये।
6. सभी पक्षों द्वारा जेरूसेलम तक पहुंचने के सभी प्रकार के मार्गों के, अवाधित रूप से सभी के द्वारा, प्रयोग के अधिकार को स्वीकार किया जाये।
7. अरब क्षेत्र में यहूदियों के तथा यहूदी क्षेत्र में अरबों के सभी प्रकार के अधिकारों-आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक की सुरक्षा का आश्वासन प्रदान किया जाये।
8. फिलस्तीन के लिए एक आयोग की नियुक्ति की जाये। अरनाडोटे की हत्या के बाद डॉ. राल्फ बुन्चे की नियुक्ति मध्यस्थ के रूप में हुई। उनके प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि- एक ओर इजरायल तथा दूसरी ओर मिस्र, जापान और ट्रांसजोर्डन के मध्य पृथक्-पृथक् युद्ध-विराम समझौतों पर हस्ताक्षर हो गये। अरबों ने कानूनी रूप में इजरायल के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। 1949 में इजरायल को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता भी प्राप्त हो गई। यहूदियों ने अपनी इच्छा की पूर्ति साकार रूप में देखी। किन्तु अरबों ने मान्यता प्रदान करके भी इस नवीन राज्य को अपने लिए अभिशाप ही समझा। अत: उसकी सद्भावना का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता है।[4]

इजरायल के यहूदी राष्ट्र के निर्माण की योजना का अरब राष्ट्रों ने सदैव ही विरोध किया है। उसका निर्माण हो जाने के बाद भी वे उसकी ओर सद्भावना की दृष्टि से नहीं देखते हैं। उनका

निश्चित मत है कि इजरायल सदैव ही पश्चिमी साम्राज्यवादियों का गढ़ बना रहेगा। तथा मध्य-पूर्व की राजनीति में इसके द्वारा हस्तक्षेप का प्रयत्न ये सदैव करते रहेंगे। अमरीका द्वारा इसको सर्वप्रथम मान्यता प्रदान करना ही यह संकेत करता है कि अमरीका मध्य-पूर्व की राजनीति में हस्तक्षेप करना चाहता है। ब्रिटेन के अवशेषों पर अपने आर्थिक सहायता के कार्यक्रम की पृष्ठभूमि में अमरीका अपने 'साम्राज्यवादी प्रभुत्व' का निर्माण करना चाहता है। इसमें सन्देह भी नहीं है। ट्रमेन सिद्धान्त तथा आइजनहावर सिद्धान्त इस तथ्य का पूर्ण प्रमाण भी देते हैं। पश्चिमी राष्ट्र इसरायल का प्रयोग किस प्रकार करेंगे यह उस समय स्पष्ट हुआ जब 1956 ई0 में ब्रिटेन तथा मिस्र के सम्बन्धों में तनाव हुआ तथा ब्रिटेन और फ्रांस के संकेत पर मिस्र पर अकारण ही इजरायल ने आक्रमण कर दिया। इजरायल की उपस्थिति निश्चित रूप से अरब राष्ट्रीयता पर एक प्रभावी प्रतिबंध है। अरबों की प्रगति, उनकी स्वतंत्रता, उनके संयुक्त प्रयासों तथा राष्ट्रीयता पर नियंत्रण करने के लिए इजरायल, पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक ही होगा, यही अरब राज्यों का अटूट विश्वास है।

1967 का अरब इजरायल युद्ध

संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने 'अकाबा की खाड़ी' को संयुक्त अरब गणराज्य की राष्ट्रीय खाड़ी घोषित कर दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि इस खाड़ी में प्रवेश करने के लिए संयुक्त अरब गणराज्य से अनुमति प्राप्त करनी होगी। इजरायल उसे अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग घोषित करता है। पश्चिमी राष्ट्रों का दृष्टिकोण भी ऐसा ही है। यदि अकाबा की खाड़ी का मार्ग इजरायल के लिए अवरूद्ध कर दिया जाये तो इजरायल समुद्री मार्ग से पूर्णतः वंचित हो जायेगा और उसका समस्त व्यापार आदि भी समाप्त हो जाता है। अतः 'अकाबा की खाड़ी' के प्रश्न का इजरायल द्वारा विरोध प्रकट करना स्वाभाविक है। जब मौखिक विरोध का प्रभाव नहीं पड़ा तो सशस्त्र विरोध करना प्रारंभ किया और संघर्ष प्रारम्भ हुआ।

इस संघर्ष में इजरायल ने विद्युतगति से 'अकाबा की खाड़ी' की नाकेबन्दी की तथा स्वेज नहर तक पहुँच गया। इस युद्ध में अरब राज्यों को, विशेषकर संयुक्त अरब गणराज्य को विशेष क्षति उठानी पड़ी। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्न स्वरूप युद्ध-विराम हो गया किन्तु स्थिति तनावपूर्ण बनी रही।

इस इजरायली हमले के परिणामों और उससे उत्पन्न कठिनाइयों का अरब देशों के प्रथमतः संयुक्त अरब गणराज्य और सीरिया के, आन्तरिक विकास पर असर पड़ा। स्थानीय प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने अपने खोये हुए प्रभाव और पुरानी सुविधाओं की प्राप्ति के लिए संघर्ष शुरू कर दिया। शोषक वर्गों के अवशेषों ने खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में, राजकीय यंत्र चलानेवाले नौकरशाही तबके ने, आबादी के विशेषाधिकार प्राप्त ग्रुपों से आने वाले अफसरों के एक हिस्से ने और प्रतिक्रियावादी पुरोहित वर्ग ने बदला लेने की कोशिश की। अपनी पुरानी नेतृत्वकारी स्थिति पुनः प्राप्त करने की उनकी आशाएँ इस बार बलवती हुई कि तरूण राष्ट्रीय जनवादी संगठन-अरब समाजवादी यूनियन और बाथ पार्टी तब तक समाजवादी दृष्टिकोण वाली कारगर राजनीतिक पार्टियां नहीं बन पायी थीं। इजरायल द्वारा निरन्तर सशस्त्र उकसावे के रूप में बाहर से साम्राज्यवादी दबाव और ज्यादा बढ़ गया। शत्रु द्वारा देश की भूमि पर आधिपत्य से नैतिक और राजनीतिक नुकसान के अलावा संयुक्त अरब गणराज्य को काफी आर्थिक क्षति भी हुई। (स्वेज नहर बन्द हो गई, सिनाई स्थित तैल भंडार हाथ से निकल गये, पर्यटकों

का आगमन कम हो गया आदि)। प्रतिक्रियावाद ने इन सबका फायदा उठाने की कोशिश की।[5]

1967 के युद्ध के बाद अरब-इजरायल के बीच बड़ा युद्ध 1973 में हुआ। इस युद्ध के बाद हुए समझौतों से लगा कि स्थिति सामान्य हो जायेगी लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। इसके बाद कितने तरह के प्रस्ताव और समझौते हुए लेकिन आज तक बात बनी नहीं बल्कि फिलस्तीनियों की स्थिति दयनीय होती चली गयी है।

स्वतन्त्र भारत के अरब जगत से पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय इस क्षेत्र की विशिष्ट भू राजनीतिक स्थिति और इसके नवीनतम राजनीतिक विकासक्रम को ध्यान में रखना आवश्यक है। अरब जगत का भूखण्ड एशिया, अफ्रीका और यूरोपीय महाद्वीपों को जोड़ने वाली एक कड़ी है, जिसे "एशिया और अफ्रीका का प्रवेश द्वार" तथा "यूरोप का पिछवाड़ा" कहा जाता है। इसकी वजह से यह लिखित इतिहास के समस्त दौर में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा रहा है। 1869 में स्वेज नहर शुभारम्भ के समय-जिससे मेडिटेरियन और लाल सागरों के बीच सम्पर्क हुआ–अरब जगत भूखण्डीय एवं समुद्री स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय समागम का केन्द्र बिन्दु बन गया। वस्तुतः, उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपवासियों के लिए अरब जगत उन पूर्वी देशों तक पहुँचने का प्रवेश मार्ग था, जो कि उन्हें लाभप्रद व्यापार तथा सैनिक दुस्साहसिकता के अवसर प्रदान करते थे। दोनों ही विश्व युद्धों में यह क्षेत्र प्रमुख युद्ध-स्थलों में से एक रहा, जहाँ पर परस्पर विरोधी शक्तियों ने कुछ निर्णायक युद्ध लड़े। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मित्रराष्ट्रों ने हिटलर के यूरोपीय प्रभुत्व के विरुद्ध महत्वपूर्ण प्रत्याक्रमण के लिए उत्तरी अफ्रीका का एक महत्वपूर्ण अड्डे के रूप में उपयोग किया। इसके अलावा, पिछले पचास वर्षों के दौरान अरब जगत एक बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु-तेल-के बड़े उत्पादक के रूप में अभ्युदित हुआ है। समकालीन अनुमानों के अनुसार, दुनिया के समस्त पेट्रोलियम भण्डार का 56 प्रतिशत अरब जगत में स्थित है तथा विश्व के कुल पेट्रोलियम उत्पादन का एक चौथाई से अधिक अंश यहीं से प्राप्त होता है। हाल के वर्षों में अरब जगत के अन्तर्राष्ट्रीय टकराव और संकट का प्रमुख स्थल बने रहने की व्याख्या इस आधार पर की जा सकती है कि यह विश्व तेल बाजार के दो बड़े आपूर्तकों में से एक है (दूसरा वेनेजुएला)। और इसके अलावा विदेशी स्वामित्व की तेल कम्पनियों के असाधारण मुनाफों का यही स्रोत है।[6]

यूरोपीय शक्तियों द्वारा अरब जगत और भारत में व्यापारिक और राजनीतिक घुसपैठ लगभग एक ही समय शुरू हुई। फिर भी प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही सम्पूर्ण अरब यूरोपीय प्रभुत्व में आये। इस युद्ध की पूर्व संध्या को अधिकांश अरब-एशिया वस्तुतः या प्रतीक रूप में ओटोमान तुर्की शासन के अन्तर्गत था। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह था कि ब्रिटिश नीति ओटोमान साम्राज्य को इसलिए सुरक्षित रखना चाहती थी, जिससे कि भारत के साथ साम्राज्य के संचार सम्बन्ध बनाए रखने के इस माध्यम को प्रतिद्वन्द्वी योरोपीय शक्तियों की दखल से बचाए रखा जा सके। अपने साम्राज्य के हितों के अन्तर्गत ही उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन ने 1839 में अदन और 1882 में मिस्र को अपने अधिकार में ले लिया और उसने फारस की खाड़ी में अपने कई संरक्षित राज्य कायम किए। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन ने अल्जीरिया, मोरक्को और ट्युनीसिया में फ्रांस की विशेष स्थिति को स्वीकार कर लिया। उपनिवेश कायम करने की होड़ में देर में शामिल होने वाले इटली ने 1911 में लीबिया को जीत लिया। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ओटोमान साम्राज्य के ढह जाने के बाद ब्रिटेन

और फ्रांस ने अपने बीच लेबनान, फिलस्तीन, सीरिया और इराक को तथाकथित मैंडेट प्रणाली के अन्तर्गत बाँट लिया।

युद्ध के बीच की अवधि में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अरब आन्दोलन का अभ्युदय हुआ, जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र के राष्ट्रवादियों तथा ब्रिटिश या फ्रांसीसी अधिकारियों के बीच लगातार संघर्ष हुए। फिलस्तीन में अरब राष्ट्रवादियों को मैंडेटरी अधिकारियों के साथ संघर्ष करना पड़ा और इसके साथ ही साथ उन्हें उन यहूदी उग्र-जियोनिस्टों से भी भिड़ना पड़ा जो, ब्रिटिश संरक्षण के अन्तर्गत, फिलस्तीन को अपना उपनिवेश बनाने के लिए प्रयासरत थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक तरफ ये जियोनिस्ट इसरायल की स्थापना करने में सफल हुए, तो दूसरी तरफ लगातार एक के बाद दूसरे अरब देश स्वतन्त्रता प्राप्त करते रहे फ्रांसीसी सेनायें 1946 में सीरिया और लेबनान से वापस हटीं। इसी वर्ष के दौरान ट्रांसजार्डन एक राज्य बना और 1949 में जार्डन नदी के पश्चिमी किनारे के क्षेत्रों को अपने अधिकार में करने के बाद इस देश का जार्डन नामकरण हुआ। लीबिया 1952 में स्वतन्त्र हुआ। 1954 के समझौते के अन्तर्गत स्वेज क्षेत्र से ब्रिटिश फौजों की वापसी के बाद मिस्र की स्वतन्त्रता का स्वप्न पूर्ण हुआ। इराक में जुलाई 1958 में हुई सफल क्रान्ति ने वहाँ से ब्रिटिश विशेषाधिकारों को ध्वंस कर दिया। कुवैत 1961 में स्वतन्त्र हुआ। अल्जीरिया ने सात वर्षों की कड़ी लड़ाई के बाद 1962 में स्वतन्त्रता प्राप्त की।

नेहरू युग के दौरान भारत की अरब नीति के लक्ष्य, देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा इसके राजनीतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं और हितों पर, आधारित थे। स्वतन्त्रता के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में, निकट अतीत की स्मृतियों ने, अरब जगत के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को प्रभावित किया। केवल बाद के वर्षों में ही व्यावहारिक आवश्यकताओं को इस नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण और निर्णायक स्थान प्राप्त हुआ।

अपने निकटवर्ती पड़ोसी अरब जगत से भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध प्राचीन काल से ही हैं। अरब जगत तथा भारत में यूरोपीय शक्तियों की दखलन्दाजी और प्रभुत्व से उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में व्यावहारिक तौर पर ये प्रयत्क्ष सम्बन्ध करीब-करीब टूट गए थे। दो विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में इन दोनों क्षेत्रों के राष्ट्रीय पुनर्जागरण ने इनमें नए मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास किया। एक तरफ भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन अरब जगत की राष्ट्रीय आकांक्षा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था, तो दूसरी तरफ अरब राष्ट्रवादी भी इस तथ्य को अच्छी तरह से समझते थे कि उनकी स्वयं अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति भी भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के परिणामों से सम्बद्ध है। इस तथ्य और भावनात्मक लगाव के प्रमाण और यादगार के रूप में दिसम्बर 1938 में एक प्रमुख इराकी राजनेता कमाल-अल-चादरेजी द्वारा जवाहरलाल नेहरू को लिखे गए पत्र के ये अंश महत्वपूर्ण हैं:-

'अनन्त काल से ही आपका देश वास्तव में महान रहा है और प्रकृति ने इसे असीम सम्पदा प्रदान की है। यद्यपि सभ्यता के सुप्रभात से ही भारत उतना महान नहीं रहा है, जितना कि वह आज है; जबकि देश की आवश्यकतानुसार इसके महान व्यक्तियों की प्रतिभा प्रस्फुटित हो रही है विशेषत: तब जब कि आपकी अद्‌भुत प्रतिभा पूर्व के क्षितिज पर प्रकट हुई है और जिसने मेरी तथा मेरे बन्धुओं

की कल्पनाशीलता को उद्वेलित किया है। आपके संघर्ष की हम हार्दिक सराहना करते हैं और चाहते हैं कि, थोड़ी मात्रा में ही सही, इसमें हिस्सा लेने का हमें अवसर मिले; क्योंकि हम दोनों एक ही नाव पर सवार हैं। साम्राज्यवाद एवं शोषण के विरुद्ध वास्तविक संघर्ष को अलग-अलग खण्डों में देखना ही नहीं चाहिए; बल्कि यही समझना चाहिए कि हमें भौगोलिक सीमायें या राजनीतिक बाधायें अलग नहीं कर सकती हैं। और न तो हमारे संघर्ष को कुचल सकती है।[7]

इसलिए स्वतन्त्र भारत ने, भावनात्मक एवं नैतिक आधार पर, अरब जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति–कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में अपना यथोचित स्थान प्राप्त कर सकें–जबरदस्त प्रतिबद्धता अनुभव की।

दुर्भाग्यवश इस भावनात्मक लगाव को, भारत की राजनीतिक, आर्थिक और इनसे ऊपर सुरक्षा हितों के संदर्भ में, प्रश्नात्मक दृष्टि से देखा गया। और धीरे-धीरे इन हितों को इस क्षेत्र सम्बन्धी भारत की नीति निर्धारण में महत्व मिलता गया।

अरब जगत के प्रति भारत की नीति निर्धारण का एक महत्वपूर्ण तत्व सुरक्षा का था। इस शताब्दी के प्रारम्भ में एक अंग्रेज लेखक ने यह व्याख्या की कि "मध्यपूर्व वह क्षेत्र है जो कि भारत की सीमाओं तक फैला है और इसके फलस्वरूप जो भारत की राजनीतिक एवं सामरिक सुरक्षा से सम्बद्ध है।" वस्तुत: उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्य पूर्व उन देशों के बीच टकराव का केन्द्र बना रहा जो कि भारत पर अपने पैर जमाए रखने के इच्छुक थे। साम्राज्य के लिए महत्वपूर्ण अरब क्षेत्रों पर ब्रिटेन का कब्जा, नेपोलियन द्वारा मिस्र पर हमला, फारस की खाड़ी की तरफ जारशाही रूस का विस्तार या इस क्षेत्र में जर्मन अभियान की घटना में से सभी का लक्ष्य अन्ततोगत्वा भारत पर प्रभाव बढ़ाना ही था। भारत से ब्रिटेन की वापसी और अरब जगत में स्वतन्त्र राष्ट्रों का अभ्युदय और नयी विश्वशक्तियों के रूप में अमेरिका तथा सोवियत संघ के प्रादुर्भाव ने निस्संदेह ही इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय टकराव तथा प्रतिद्वन्द्विता का स्वरूप बदल दिया है, लेकिन इसका मूल तत्व आज भी अपरिवर्तित है। इसलिए इतिहास और इसके साथ समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं ने भारत की सुरक्षा समस्याओं के सन्दर्भ में अरब जगत की प्रासंगिकता को उजागर करने के साथ ही साथ केन्द्र बिन्दु भी बना दिया। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 1949 में संविधान सभा में मार्च 1949 के अपने एक बयान में इस तथ्य पर प्रकाश डाला–

'अगर आप मध्य पूर्व से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर विचार कर रहे हों तो अन्ततोगत्वा भारत के हित भी उभर कर सामने आ जायेंगे। अगर आपको दक्षिण-पूर्व एशिया के बारे में किसी भी प्रश्न पर विचार करना हो तो भी आप भारत के बारे में ध्यान रखते हुए ऐसा नहीं कर सकते हैं। इसी तरह की स्थिति सुदूर पूर्व के बारे में है। इसलिए मध्य पूर्व यद्यपि दक्षिण-पूर्व एशिया से प्रत्यक्षत: जुड़ा हुआ नहीं है फिर भी दोनों ही भारत से तो जुड़े हुए हैं।

अरब जगत के बीच से गुजरने वाली अन्तर्राष्ट्रीय परिवहन और संचार व्यवस्था का प्रश्न भारत की सुरक्षा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। प्राचीन एवं मध्य युगों में भारतीय माल समुद्र एवं भू मार्ग से ही यूरोप जाता था और यह मार्ग अरब क्षेत्र से हो करके गुजरता था। पन्द्रहवीं शताब्दी के दौरान इस क्षेत्र की अनिश्चित राजनीतिक स्थितियों ने पुर्तगाली अन्वेषक, वास्कोडीगामा को भारत के लिए केप ऑफ गुडहोप के वैकल्पिक मार्ग को खोजने की प्रेरणा दी। 1869 में जिस समय स्वेज

नहर का निर्माण कार्य पूरा हुआ और इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए खोला गया तब पश्चिम एशियायी यातायात मार्ग दुबारा चालू हुआ। वस्तुत: स्वेज नहर के खुलने से बम्बई और लन्दन के बीच समुद्री मार्ग की दूरी 4500 मील घट गयी तथा कालान्तर में यह नहर विश्व व्यापार का मेरुदण्ड और केन्द्र बिन्दु बनी। भारत का लगभग तीन चौथाई आयात-निर्यात व्यापार स्वेज नहर के मार्ग से होता है। 1956 के शरद काल में जिस समय मिस्र पर आंग्ल-फ्रांसीसी- इजरायली हमला हुआ तथा इसके कारण स्वेज नहर अस्थायी तौर पर बन्द हुई तब भारत के विदेश व्यापार के लिए इस नहर का महत्व विशेष तौर पर उजागर हुआ। 1967 में अरब इजरायल युद्ध के दौरान यह तथ्य एक बार फिर स्पष्टत: सामने आया। इसके अलावा, एक तरफ जहाँ अरब समुद्री मार्ग भारत से यूरोप के लिए सबसे कम दूरी वाला यातायात मार्ग है, वहीं दूसरी तरफ भारत की पश्चिमी देशों को आने जाने वाली विमान सेवाओं के लिए काहिरा और बेरूत महत्वपूर्ण विश्राम स्थल हैं।[8]

अरब जगत में भारतीय रुचि का तीसरा महत्वपूर्ण कारण इन दोनों क्षेत्रों के बीच निरन्तर बढ़ रहा व्यापार है। प्राचीनकाल में अरब जगत भारतीय सूती वस्त्रों तथा मसालों का एक फलता फूलता व्यापारिक केन्द्र था। आधुनिक काल में इनके साथ चाय और जूट उत्पादनों की खपत भी इन देशों में बढ़ी है। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय उद्योगों के विस्तार के फलस्वरूप भारत ने अरब देशों की कुछ गैर परम्परागत उत्पादनों का भी निर्यात शुरू किया है। ऐसी वस्तुओं में विद्युत उपकरण, मशीन-औजार, डीजल इन्जन, रासायनिक उत्पादन, लौह एवं इस्पात उत्पादन, चीनी एवं सूती वस्त्र बनाने की मशीनें आदि शामिल हैं। सच तो यह है कि भारत-अरब व्यापार में दुतरफा वृद्धि और विस्तार हुआ है तथा यह दोनों क्षेत्रों की विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए बेहद उपयोगी रहा है। अरब जगत से भारत आने वाली वस्तुओं में, अधिकांशत: कच्चा माल शामिल है, जिसमें मिस्र और सूडान का कपास तथा खाड़ी देशों से कच्चा तेल प्रमुख है। भारत तथा अरब जगत के बीच, दुतरफा व्यापार बढ़ करके प्रतिवर्ष एक अरब रुपये तक पहुँच गया था और अभी इसमें कहीं अधिक वृद्धि की समस्यायें हैं। हाल के वर्षों में इस व्यापार के कारण इन दोनों क्षेत्रों के बीच अधिक व्यापक आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

अंततोगत्वा, अरब जगत में बसे हुए भारतीय व्यापारियों की, जिनकी संख्या काफी है, समृद्धि और कल्याण में भी भारत की रुचि है। इस क्षेत्र में शताब्दियों से भारतीय व्यापारी समुदाय फलता फूलता रहा है—विशेष करके फारस की खाड़ी और अदन में। सच तो यह है कि चौदहवीं शताब्दी के एक अरब यात्री इब्नबतूता ने अदन की चर्चा करते हुए इसे "भारत के व्यापारियों का बन्दरगाह" कहा है। उसका कहना है कि इस बन्दरगाह पर खम्भात, क्विलोन, मंगलोर और गोआ से "बड़े-बड़े जलयान" आते हैं। इधर हाल के वर्षों में इस व्यापारी समुदाय के साथ भारत से आये हुए तकनीशियन और कर्मिक भी—जो अधिकांशत: तेल उद्योग में काम करते हैं—घुलमिल गये हैं।[9]

विदेश नीति के संचालन के उपकरणों का चयन, किसी देश के विदेश नीतिक-लक्ष्यों पर भी उतना ही निर्भर करता है जितना कि इस तथ्य पर कि वह देश इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कितना साधन खर्च कर सकता है। स्वाधीनता के सुप्रभात में भारत के सामने आर्थिक विकास की अनगिनत समस्यायें थीं और इनके साथ ही राष्ट्र निर्माण के लिए भी दीर्घकाल तक अपने साधनों का निरन्तर उपयोग करना था। इससे विश्व परिवेश में अपने को प्रस्तुत करने में भारत के सामने कठिनाइयाँ और

बाधाएँ थीं। लेकिन ऐसी कमी केवल भारत के लिए ही नहीं थी, वरन् एशिया और अफ्रीका के अधिकांश नवस्वतन्त्र राष्ट्रों की यह एक समान समस्या थी। फिर भी यह कमी भारत के उस नैतिक व्यक्तित्व से काफी हद तक पूरी हो जाती थी, जो कि उसे अपने दीर्घकालीन स्वतन्त्रता संघर्ष और अरब जगत के देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों के साथ सहयोग करने के कारण प्राप्त हुई थी। इससे राजनयिकता को एक ऐसा प्रभाव मण्डल प्राप्त हुआ था, जिसकी व्याख्या केवल वास्तविक शक्ति और संसाधनों के द्वारा नहीं की जा सकती है।

इसलिए, स्वतंत्रता के प्रारम्भिक वर्षों में भारत अपने राजनीतिक एवं राजनयिक साधनों पर ही मुख्यत: निर्भर कर अपने व्यापक हितों की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सकता था। इसके बाद के वर्षों में अन्य क्षेत्रों में भी चुने हुए कार्य किए गये, जैसे कि संयुक्त औद्योगिक उपक्रम, व्यापारिक ऋण और तकनीकी सहायता। इन सभी से एक सद्भावना परक वातावरण का निर्माण हुआ और इससे भारत और विभिन्न अरब देशों के बीच सद्भाव एवं सहयोग प्रगाढ़ हुआ है।

इस क्षेत्र के साथ अपने सम्बन्धों के प्रारम्भिक चरण में भारत को अपने हितों की दृष्टि से दुहरी चुनौतियों का सामना करना पड़ा-एक तो इस क्षेत्र में पश्चिम एशियायी देशों के सैनिक गुट बनाने–जो कि उसके साम्राज्यवादी और तैल हितों की सुरक्षा करें– का प्रयास और अरब तथा अन्य पश्चिम एशियायी देशों का महा-इस्लामी गठबन्धन कायम करने का पाकिस्तानी प्रयास। इसमें से पहले कदम से यह खतरा था कि पूर्व और पश्चिम का शीतयुद्ध भारत के दरवाजे तक आ जाये तथा दूसरे कदम का लक्ष्य भारत को उस क्षेत्र में अलग-अलग करना था जो कि उसकी सुरक्षा एवं आर्थिक हितों के लिए इतना अधिाक महत्वपूर्ण था। 1955 तक ये दोनों ही शक्तियाँ एक साथ मिल गयीं और बगदाद सन्धि का जन्म हुआ।

भारत ने इस अनिष्ट-कारण विकास का सामना करने में गुटनिरपेक्षता की विचारधारा को प्रचारित करने का प्रयास किया। नेहरू द्वारा प्रतिपादित और सहज बुद्धि पर आधारित गुटनिरपेक्षता की यह अवधारणा इस विचार पर आधारित है कि विदेशी मामलों में स्वतन्त्र रूप से काम करने की क्षमता के बिना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं की जा सकती है। फिर भी उनका यह कहना स्मरणीय है कि शक्ति गुटों के संघर्ष में किसी का पक्ष न लेने की भारतीय नीति की, प्रारम्भिक वर्षों में, अरब राज्यों पर कुछ अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। इसके बावजूद नेहरू जी की गुट-निरपेक्षता की स्पष्टत: सार्थकता में–न केवल भारत के लिए ही वरन् अन्य नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों के लिए भी आस्था थी।

अगले दशक के दौरान, यद्यपि इसकी सभी जगह व्यापक सराहना नहीं हुई, गुटनिरपेक्षता का सिद्धान्त अरब जगत में बहुत ही लोकप्रिय हुआ। नवजागृत अरब राष्ट्रीयता ने, मध्यपूर्व सुरक्षा संगठन खड़ा करने के पश्चिमी प्रयासों का जोरदार विरोध किया और इसका विश्वास था कि ऐसे संगठन का उद्देश्य इस क्षेत्र में पश्चिमी प्रभुत्व की जड़ें जमाना है। 1953 में नेहरू जी की काहिरा यात्रा के तुरन्त बाद मिस्र द्वारा जारी किये गए एक सरकारी दस्तावेज में अरब देशों के लिए उपलब्ध वैकल्पिक मार्ग का अनुमान लगता है–

"हमें यह बात अवश्य ही याद रखना चाहये कि आज इस दुनिया में एक बहुत बड़ी शक्ति है, जिसका लक्ष्य भलाई है और जो बुराई का माधयम नहीं बन सकती है....एक तिहाई दुनिया का प्रतिनिधित्व करने वाली यह महान शक्ति, जिसका कि अतीत में साम्राज्यवादियों ने मौत के उपकरण

के रूप में उपयोग किया, अब अपना इस्तेमाल किसी भी भावी युद्ध में चारे की तरह नहीं होने देगी।"

बगदाद संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद, जिससे कि अरब राष्ट्रीय भावना गम्भीर रूप से आहत हुई, गुटनिरपेक्षता की अवधारणा को अरब राष्ट्रीय जनमानस में तीव्र और व्यापक समर्थन मिला। इससे भारत और अरब देशों के बीच राजनीतिक, आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में सक्रिय सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ।

एक अधिक व्यापक स्तर पर भारत ने भी अरब राज्यों के साथ, मैत्री संधियों और व्यापार-सांस्कृतिक करारों के द्वारा, सहयोग और मित्रता बढ़ाने के प्रयास किये। संयुक्त राष्ट्र में पारस्परिक हितों के प्रश्नों पर अक्सर किए गए विचार विमर्शों तथा समान विचारधारा वाले देशों के औपचारिक सम्मेलनों–जैसे कि दो निर्गुट सम्मेलन के द्वारा इस सहयोग भावना को सुदृढ़ किया गया।

नेहरू युग के अन्तिम वर्षों में शीतयुद्ध को भड़काने वाले कार्यों से पश्चिम एशियाई सैनिक सन्धियों का मूल तात्पर्य नष्ट होने लगा। यद्यपि विश्व मामलों में दृष्टिकोणों की समानता ने भारत और अरब देशों को घनिष्ठ सम्बन्धों में बाँधा। इस क्षेत्र में भारत के रुख में स्पष्टत: भारी परिवर्तन हुआ और उसने राजनीतिक समस्याओं की जगह आर्थिक समस्याओं की ओर अधिकाधिक ध्यान देना शुरू किया। इस नयी पहल के फलस्वरूप अगले वर्षों में अनेकानेक जहाज एक औद्योगिक संयुक्त उपक्रमों का प्रारम्भ हुआ।[10]

अरब जगत के बारे में भारतीय दृष्टिकोण को विकसित करने में, व्यक्तिगत स्तर पर गांधी, नेहरू और आजाद ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वतन्त्रता के पहले तथा बाद के वर्षों में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। महात्मा गाँधी ने मिस्र की काद पार्टी के नेताओं से व्यक्तिगत सम्पर्क कायम किया और फिलस्तीन अरबों के संघर्ष में गहरी रुचि दिखायी। उन्होंने यहूदियों द्वारा "अपने को अमेरिकी पैसे या ब्रिटिश हथियारों द्वारा एक अनिच्छुक देश पर थोपने' के प्रयासों की निन्दा की तथा इस बात पर बल दिया कि "जिस तरह से" इंग्लैण्ड अंग्रेजों का या फ्रांस फ्रांसीसियों का है, उसी तरह से फिलस्तीन अरबों का है।

एशियायी पुनर्जागरण तथा विश्व समस्याओं में जवाहरलाल नेहरू की गहरी रुचि के कारण एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय नेताओं के साथ उनके प्रगाढ़ सम्बन्ध विकसित हुए। इन नेताओं में मिस्र के मुस्तफा नहास, सीरिया के फरीस- अल-खुरी और इराक के कामिल-अल-चादरेजी शामिल हैं। स्वतन्त्रता के बाद उन्होंने गमाल-अल-नासिर के साथ घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध बनाए; जिसकी कभी-कभार अनुचित आलोचना भी हुई और इस संदर्भ में कहा गया कि उनकी विदेश नीति में मिस्र को अत्यधिक महत्व दिया गया है। सच तो यह है कि नासिर की विदेश नीति तथा आर्थिक नियोजन सम्बन्धी विचारों पर नेहरू जी की समझ का निश्चित प्रभाव पड़ा था। अन्ततोगत्वा मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, जो एक विख्यात कांग्रेस नेता और इस्लाम के विशिष्ट विद्वान थे, अरब मामलों में नेहरू के प्रमुख सलाहकार थे। स्वाधीनता के पूर्व आजाद अरब राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने के पक्षधर थे और स्वतन्त्रता के बाद भारत की अरब नीति-निर्धारण में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इन प्रमुख प्रभावों के साथ-साथ, जिन्होंने भारत की नीतियों को बहुत हद तक प्रभावित किया, कुछ विपक्षी दलों तथा सक्रिय हितों ने भी अरब जगत के विकास क्रम को तथा इससे सम्बद्ध भारतीय

राजकीय नीतियों में रुचि दिखायी। फिलस्तीन के प्रश्न पर अरब यहूदी विवाद एक ऐसा ही प्रमुख प्रश्न था। भारतीय समाजवादी पार्टी–और बाद में इसके आधार पर गठित प्रजा समाजवादी पार्टी तथा संयुक्त समाजवादी पार्टी–ने इसरायली मजदूर आन्दोलन के साथ बिरादराना सम्बन्ध कायम किए और इन्होंने इस यहूदी राज्य को पश्चिम एशिया में लोकतान्त्रिक समाजवाद का प्रकाश स्तम्भ माना। मुस्लिम अरब राज्यों से बेहद शंकित जनसंघ ने, उनके दुश्मन, इसराइल को भारत का एक सम्भावित मित्र माना। दक्षिण पंथी स्वतन्त्र पार्टी ने भी वामपंथी अरब राष्ट्रीयता के दावों के विपरीत पश्चिम समर्थक इसराइल के दावों को पर्याप्त महत्व न देने के लिए भारत की नीतियों की अनवरत आलोचना की। इस सभी विपक्षी राजनीतिक दलों ने इसराइल के साथ राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध विकसित करने के पक्ष में निरन्तर दबाव डाला। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि भारतीय समाजवादियों ने पहले तो फिलस्तीन के विभाजन का विरोध किया और यह विभाजन हो जाने के बाद संसोपा ने अरब-इजरायल महासंघ के गठन की वकालत की। 1956 में जनसंघ ने, उनके साथ मिल करके, मिस्र पर इजरायली हमले की जबरदस्त भर्त्सना की।

भारतीय कम्युनिस्टों ने शुरू में तो इजरायल के गठन के पसंद किया; लेकिन अरब में उनकी व्यापक रुचि और कुछ अरब देशों के क्रान्तिकारी चिन्तन ने उन्हें अरब राष्ट्रीय हितों के समर्थन की प्रेरणा दी। उन्होंने बगदाद सन्धि के नेहरू के विरोध का जोरदार समर्थन किया, लेकिन इस बात की शिकायत की कि अरब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए भारतीय समर्थन–चाहे वह अल्जीरिया में हो या फिलस्तीन में–अपर्याप्त और अधूरा है।

अरब जगत से आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले उद्योगपतियों और व्यापारियों को, स्वाभाविक तौर पर, इस क्षेत्र के विकासक्रम के प्रति सम्वेदनशीलता थी। लेकिन राष्ट्रीय प्रेस ने–जिसका स्वामित्व या नियन्त्रण कुछ उद्योगपतियों या व्यापारियों के हाथों में है–ने अक्सर ही भारत की अरब नीति की कड़ी आलोचना की; जो कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से इसका कोई औचित्य नहीं है।[11]

भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में फिलस्तीन को पूर्ण सदस्यता दिए जाने का समर्थन करना आज के राजनीतिक माहौल में महत्वपूर्ण और स्वागत-योग्य कदम है।

इस बारे में आगे चर्चा करें, इसके पूर्व बेहतर होगा कि फिलस्तीनी प्रश्न की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक बार फिर नजर डाल ली जाए।

विश्व राजनीति के अध्येता जानते हैं कि फिलस्तीन के मसले का सीधा-साधा संबंध साम्राज्यवादी मंसूबों से है। सच कहा जाए तो यह उन्हीं की देन है। पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका के रेगिस्तानी विस्तार में तेल के विशाल भंडारों का मिलना ही वहां के देशों और जनता के लिए अभिशाप बन गया। इंग्लैण्ड तथा अन्य औपनिवेशिक ताकतें भारत तथा अन्य राष्ट्रों की अतुल संपदा लूट ही चुके थे। इन देशों में तेज हो रहे स्वाधीनता संग्रामों से यह भी स्पष्ट हो चला था कि बाहरी शक्तियों को अपना बोरिया-बिस्तर जल्दी ही समेटना पड़ेगा। दूसरी तरफ अमेरिका और यूरोप में अनेक देश निरंतर औद्योगिक प्रगति भी कर रहे थे। अपने उद्योगों के लिए उन्हें खनिज तेल की आवश्यकता थी, जिसकी आपूर्ति के लिए उनकी गिद्ध दृष्टि पश्चिम एशिया पर पड़ चुकी थी।[12]

बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा अन्य उद्योग सम्पन्न देशों ने कूटरचना करना

प्रारंभ कर दिया था कि अरब जगत के तेल भंडारों पर कैसे कब्जा किया जाए। इसके लिए एक तरफ तो उन्होंने ईरान से लेकर अल्जीरिया तक कठपुतली सरकारों को बैठाना शुरू किया और इसकी तरफ तरु यूरोप में बसे यहूदियों को अपनी पितृभूमि अर्थात् इजरायल लौटने का सपना दिखाना प्रारंभ किया। जिन यूरोपीय देशों ने शताब्दियों तक यहूदियों पर अत्याचार किए, वे ही अब उनके शुभचिंतक व हितरक्षक बन गए। दूसरी ओर जिस फिलिस्तीन ने यहूदियों के साथ सामान्य तौर पर कोई भेदभाव नहीं रखा था, वे ही दो हजार साल बाद उनके दुश्मन करार कर दिए गए। 1948 में इजरायल के रूप में एक नया देश अस्तित्व में आया और साम्राज्यवादी ताकतों को अरब जगत में अपने पैर जमाने के लिए मजबूत जमीन मिल गई।

इसके बावजूद यह बिलकुल संभव था कि इजरायल और फलिस्तीन दोनों दो स्वतंत्र देश के रूप में कायम रहते और दोनों के बीच शांतिपूर्ण संबंध बनते, लेकिन ऐसा होने से साम्राज्यवादी मंसूबे शायद पूरी तरह कामयाब नहीं हो पाते। इसलिए जिस तरह पाकिस्तान को एक कट्टर धर्म-आधारित देश के रूप में स्थापित किया गया ठीक उसी रास्ते पर इजरायल को भी चलाया गया। यहीं से शुरू होती है फिलस्तीन की त्रासदी। आज फिलस्तीनी अपने ही घर से बेघर है। वे आसपास के अरब देशों में शरणार्थी बनकर भटक रहे हैं और अपने ही वतन में इन पर वैसे ही अमानुषिक अत्याचार हो रहे हैं, जैसे कभी यूरोप के देशों में यहूदियों पर हुए थे। यह सब इसलिए कि इजरायल को अमेरिका का पूर्ण संरक्षण तथा हर तरह की सहायता उपलब्ध है यहां तक कि उसके पास एटमबम भी है। इस परिस्थिति में फिलस्तीन के लोग करें तो क्या करें?

बहुत कुछ गंवा देने के बाद भी फिलस्तीन समझौता करने के लिए हमेशा तैयार रहा है। वहां दो समानांतर सोचें चलती रही हैं। एक सोच है कि अन्य अरब देशों की सहायता से सशस्त्र संघर्ष किया जाए, जिसे अब तक कोई सफलता नहीं मिल पाई है। दूसरी सोच यह भी है कि सुलह-शांति के पथ पर चलें और अंततः विश्व बिरादरी ऐतिहासिक तथ्यों और न्याय के आधार पर उन्हें एक स्वतंत्र देश के रूप में मान्यता दे, वहां भले ही कितना कटा-छँटा क्यों न हो। फिलस्तीन के राष्ट्रपति महमूद अब्बास उर्फ अबू माजेन इसी कोशिश में लगे हुए हैं। उनकी मांग जायज है और विश्व शांति के लिए बेहद अनिवार्य। यह ध्यान रखना चाहिए कि फिलस्तीन में हमास पार्टी सशस्त्र संघर्ष के पक्ष में है और देश का बहुमत उसके साथ है। ऐसे में नरमपंथी अब्बास की हार से स्थिति और उलझ सकती है।[13]

भारत प्रारंभ से ही फिलस्तीन का समर्थन करते रहा है। उसने तो इजरायल को तीस साल तक कूटनयिक मान्यता भी नहीं दी थी। इसके कारण साफ थे भारत धर्म पर आधारित राष्ट्र के सिद्धांत में विश्वास नहीं रखता, वह उपनिवेशवाद का विरोधी है तथा देशों की सार्वभौमिकता का वह आदर करता है। यही नहीं, फिलस्तीन का समर्थन और अरब जगत के साथ मित्रता भारत के आर्थिक विकास के लिए भी उपयोगी है। इन देशों से उसे अपनी जरूरत के लिए तेल सहूलियत से मिल जाता है। पंडित नेहरू के द्वारा स्थापित इस विदेश नीति का लाभ हमें सदैव मिलते रहा है। जनता पार्टी की सरकार में नीति बदलने की असफल कोशिश हुई थी, लेकिन इसमें बदलाव आया जब नरसिम्हा राव के समय इजराइल को मान्यता दे दी गई। इसके साथ-साथ कुछ ऐतिहासिक चूकें हुई

जिनसे भारत और अरब जगत के संबंधों में दूरी आई। बाबरी मस्जिद का गिराना तथा इराक पर अमेरिकी हमले का परोक्ष समर्थन करना भारत को भारी पड़ा। पाकिस्तान ने इस स्थिति का लाभ उठाया और भारत में आतंकवाद की समस्या किसी हद तक यहीं से उत्पन्न हुई।[14]

अब ऐसा लगता है कि भारत अपनी जानी-परखी विदेश नीति की तरफ शायद लौट रहा है। लीबिया के मामले में तटस्थता, सीरिया पर कुछ अन्य देशों के साथ मिलकर तनाव कम करने के लिए मध्यस्थता, ईरान के साथ बेहतर संबंधों के लिए पहलकदमी और संयुक्त राष्ट्र में फिलिस्तीन का समर्थन ये सब एक बड़ी और दूरगामी सोच का परिचय देते हैं। उम्मीद करना चाहिए कि भारत इस नीति से अब विचलित नहीं होगा।[15]

संदर्भ

1. वीरता का एक और नाम फिलस्तीन, ले. डा. ब्रज कुमार पांडेय
2. वही, पृ. 12
3. वही, पृ. 13
4. वही, पृ. 13
5. वही पृ. 14
6. भारत और अरब ले. एम. एस. अगवानी विदेशिका, पृ. 55
7. वही, पृ. 50
8. वही, पृ. 57
9. वही, पृ. 57
10. फिलस्तीन और अरब इजरायल संघर्ष, ले. महेन्द्र मिश्र, पृ. 107
11. वही, पृ. 109
12. फिलस्तीन का समर्थन, ले. ललित सुरजय, देशबन्धु, पृ. 4
13. वही, पृ. 5
14. वही, पृ. 5
15. वही, पृ. 5

❊❊❊

म्यांमार में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना में भारत की भूमिका

पप्पू कुमार

रिसर्च स्कॉलर, यूनिवर्सिटी डिपाटमेन्ट ऑफ पोलिटिकल साइंस, जे. पी. यूनिवर्सिटी, छपरा

म्यांमार की जनता लम्बे समय से अपने देश के सैनिक शासन के खिलाफ संघर्ष करती रही है। देश में लम्बे समय से गृह युद्ध का खतरा मंडराता रहा है । कम-से-कम अब पड़ोसी देशों को सैनिक शासन से जनतांत्रिक शासन के रास्ते पर ले चलने में सहायता का हाथ बढ़ाना चाहिये।

म्यांमार के लिये जनतंत्र के रास्ते पर चलना आसान नहीं है। इस मुद्दे पर कोई भी बहस म्यांमार के वर्तमान राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था को प्रमुख रूप से सपने ला देता है। एक लम्बे समय तक विभिन्न आदिम समुदायों के बीच संघर्षों एवं गृहयुद्ध के बाद वर्त्तमान दौर में म्यांमार सैनिक शासन के अधीन है। वर्ष 1948 में ब्रिटिश हुकूमत से स्वाधीनता प्राप्ति के बाद, म्यांमार राजनैतिक अस्थिरता से ग्रस्त है। यह राजनैतिक अस्थिरता ब्रिटिश हुकूमत द्वारा फूट डालो और राज करो की नीतियों के चलते विरासत में मिली है। राजनैतिक दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण देश आज गरीबी, नशीले वस्तुओं के अवैध व्यापार, मानव अधिकारों के उल्लंघन, शिक्षा व्यवस्था के सम्पूर्ण विनाश, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव का पर्याय बन गया है । जनतंत्र की पुनर्स्थापना के किसी भी प्रयास को हिंसात्मक ढंग से दबा दिया जाता है, जैसा कि 1988 एवं 1990 में देखने को मिला। इस दौरान बहुदलीय चुनाव के परिणाम स्वरूप आँग-शांग यू. की जीत को सैनिक शासकों ने मानने से इन्कार कर दिया। आज सरकार द्वारा देश पर थोपे गये प्रतिबंधों के अन्तर्गत जनतांत्रिक ताकतों को काम करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक तौर पर उठता है कि क्या म्यांमार में जनतंत्र संभव है? अगर इसका उत्तर हाँ है तो कुछ मुद्दों पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है।

1. हम म्यांमार में जनतंत्र की प्राप्ति कैसे करें?
2. इसका तरीका क्या होगा?
3. अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय कौन-सी भूमिका निभा सकता है?

जैसा कि हम जानते हैं कि म्यांमार एक बहुत धार्मिक एवं बहु आदिम सामुदायिक देश है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद यह देश लम्बे समय तक गृह-युद्ध के दौर से गुजरा है। हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि सैनिक शासन ने इस देश को एकताबद्ध रखने में सफलता पाई है तथा एक हद तक स्थिर सरकार प्रदान किया है। आदिम समुदायों के बीच की प्रतिद्वन्द्विता को देखते हुए, जनतंत्र के लिये किसी भी संघर्ष के पहले प्रतिद्वन्द्वी आदिम समुदायों के बीच आपसी बातचीत का

सिलसिला शुरू किया जाना चाहिये जिससे वे संघर्ष के एक कार्यक्रम को तय कर एकताबद्ध होकर आगे बढ़ सकें। 1990 के चुनाव में जिस तरह 82% लोगों ने जनतांत्रिक सरकार के पक्ष में मतदान किया उसे देखते हुए यह असंभव नहीं लगता है। जबतक इसे प्राप्त नहीं कर लिया जाता है तब तक म्यांमार की जनता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति पैदा करना बहुत मुश्किल है। म्यांमार के सैनिक शासन को समाप्त करने के पहले हमें इस बात को सुनिश्चित करना होगा उस देश में जनतांत्रिक रूपान्तरण लम्बे समय के लिये तथा स्थाई हो और यह भी सुनिश्चित करना होगा कि वह देश फिर से गृह युद्ध में न उलझकर रह जाएँ।

जब देश की सत्ता जनता के हाथों में आ जाय तभी देश के लिये एक संविधान का निर्माण किया जाय न कि सैनिक शासन के अधीन। विभिन्न आदिम एवं धार्मिक समूहों के प्रतिनिधियों द्वारा संविधान की रूपरेखा तैयार की जानी चाहिये जिससे देश की एकता को सुनिश्चित किया जा सके।

म्यांमार की सैनिक तानाशाही के अनुसार राजकीय शान्ति विकास परिषद् (एस. पी. डी. सी.) वर्ष 2010 तक देश में जनतंत्र के विकास के लिये एवं स्वनिर्मित रास्ते के निर्माण को पूरा करने की स्थिति में पहुँच चुका है।[1] मई, 2008 में आयोजित जनमत संग्रह के अनुसार चुनाव का आयोजन दो सदनों वाले राष्ट्रीय विधान मंडल तथा स्थानीय विधान मंडलों की शुरूआत तथा नये संविधान के अनुरूप काम की शुरूआत की स्वीकृति मिल चुकी है । राज्य के प्रधान थान-श्वे के अनुसार इन लगातार चलने वाली प्रक्रियाओं के आधार पर एक अनुशासन आधारित जनतंत्र फले फूलेगा।

यह अनुशासन आधारित जनतंत्र कैसा होगा तथा तत्काल एवं भविष्य में म्यांमार के आन्तरिक एवं विदेशी नीतियों के बदलाव लाने में इसकी क्या भूमिका होगी? बर्मा के बाहर विदेशों में बसे बर्मी नागरिकों, मानव अधिकार की वकालत करने वाली संस्थाओं तथा अन्य देशों के साथ-साथ संयुक्त राज्य अमरीका के तमाम विरोधों के बावजूद, म्यांमार एक मजबूत राज्य के रूप में मौजूद है। इस सत्ता का राज्य पर एकाधिकार है, सभी दमनात्मक ताकतें इसके हाथ में सिमटी हुई हैं और राजनैतिक बहुलतावाद को रोकने की पूरी क्षमता इसमें निहित है जिससे राज्य के नियंत्रण एवं वैदेशिक नीति को बदलने की किसी चेष्टा को प्रभावी ढंग से नियंत्रित किया जा सके। म्यांमार के नीति-निर्धारक अधिकारियों के अनुसार प्रतिबंधों के जरिये उनके देश को अलग-थलग करने की स्थिति का सामना करने में वे सक्षम हैं। म्यांमार के प्राकृतिक संसाधनों को देखते हुए यह प्रतिबंध भी अधूरा है।

लम्बे समय तक इनके हाथ में सत्ता रहने के चलते इसकी ताकत, क्षमता एवं संसाधनों में वृद्धि हुई है। म्यांमार की विदेशी एवं गृह नीतियाँ सीधे तौर पर राजकीय शान्ति एवं विकास परिषद् के हाथ में है। नया संविधान टाटमाडाव (बर्मा का सैनिक बल) की स्वायत्तता को न सिर्फ आन्तरिक बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों में भी सुनिश्चित करेगा । अगले अर्द्धदशक तक इस नये बहुदलीय निर्वाचित विधान मंडल के समय में भी इसकी बहुउद्देशीय भूमिका में कोई कमी नहीं आयेगी। मार्च, 27 वर्ष 2009 को सेना दिवस समारोह में भाषण के दौरान एक वरिष्ठ सेनापति ने एक बर्मी मुहावरे का प्रयोग करते हुए कहा कि जनतंत्र एक नया खुदा हुआ कुआँ की तरह है जिससे कीचड़ युक्त पानी प्राप्त होता है, देश की सेना भविष्य में पानी को छानने का काम करती रहेगी।

यह एक बिडम्बना ही है कि सैनिक सत्ता की ताकत ही इसकी कमजोरियाँ हैं। असीमित ताकत और सत्ता की समझ व्यक्ति पूजा की ओर ले जाती है और इस तरह से ऐसी राजनीति को प्रोत्साहन मिलता है जो गुटबन्दी के चलते जटिलता पैदा करता है और इस व्यवस्था को सोपान आधारित समाज

का समर्थन प्राप्त होता है जिसे सैनिक शासन के जरिये मजबूती मिलती है और ऐसी व्यवस्था में विरोध की कोई जगह नहीं होती है। निष्ठा को किसी व्यक्ति की क्षमता के ऊपर तरजीह दी जाती है और सिर्फ बर्मा की सेना के अन्दर ही पुरातनपंथी विचार की प्रधानता की जरूरत को स्वीकार करते हुए दूसरी संस्थाओं जैसे विरोधी राजनैतिक पार्टियों में भी इसकी प्रधानता आवश्यक है। मजबूत राज सत्ता को इस तरह थोपना ही इसकी कमजोरी भी है। सोपान आधारित समाज के जरिये उच्च पदस्थ नेतृत्व को वर्तमान संकट की वास्तविकताओं से परिचित नहीं कराया जाता है और इसके चलते उसे हल करने की सामयिक कार्रवाई नहीं हो पाती है। जड़ता, समस्याओं को हल करने के लिये किसी नयी सोच को हतोत्साहित करता है।

संगत व्यवस्था, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को हल करने में भ्रष्टाचार एक आवश्यक तत्व हो जाता है। विदेशियों द्वारा अपमान एवं धमकी की आशंका के खिलाफ जोरदार विरोध के चलते बातचीत और समझौते की बात को हतोत्साहित किया जाता है। सरकार द्वारा आर्थिक नीतियों को परिचालित करने से आर्थिक विकास रुक जाता है। विरोध का गला घोंटने से वह सड़कों पर आने को मजबूर हो जाता है। लेकिन थोड़े समय के लिये मजबूत राज्य सत्ता अपनी ताकत बरकरार रखेंगी। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनुशासन आधारित जनतंत्र को चुनौती दी जा सकती है लेकिन आन्तरिक तौर पर इस तरह की चुनौती दूर-दूर तक दिखाई नहीं पड़ती है।

हालाँकि बर्मा समाजवादी कार्यक्रम दल, (बर्मा सोशलिस्ट प्रोग्राम पार्टी), कानून व्यवस्था पुनर्स्थापना परिषद् तथा राजकीय शांति, विकास परिषद् आदि सत्ता के विभिन्न अवतारों के जरिये मानव अधिकारों के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय जगत परिचित है और इसकी आलोचनाएँ होती रही है। ये आलोचनाएँ दक्षिण पूर्व एशियाई संघ, संयुक्त राष्ट्र एवं अन्य समूहों के लिये शर्म की बात रही है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस आधे भूले-बिसरे देश की वैधानिकता की बात का थोड़ा प्रभाव ही इसके ऊपर पड़ता है। इस देश की वैधानिकता को वैकल्पिक ढंग से देशी तरीकों से सैनिक सत्ता द्वारा व्याख्यायित किया जाता है। हालाँकि म्यांमार देश में चीन के घुसपैठ के प्रति असंवेदनशील नहीं है। यह चीन या किसी अन्य राज्य का नियंत्रण या यहाँ तक चीन की बढ़ती उपस्थिति, अपने हितों के लिए खतरनाक मानता है।

सैनिक शासन की विचारधारा के रूप में इन बातों को बार-बार दुहराया जाता है और सभी सरकारी प्रकाशनों में इसे छापा जाता है। सभी प्रकाशित सामग्रियाँ सख्ती से जाँच के दौर से गुजरती हैं और उसे सभी विद्यालयों में पढ़ाया जाता है। पाठ्यक्रमों में आन्तरिक शासन सत्ता एवं इसके अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के मूल बातों को रखा गया है। ये मूल बातें देश की संप्रभुता तथा उसकी एकता से जुड़ी हुई हैं और सैनिक शासकों के अनुसार इस देश की संप्रभुता और एकता की हिफाजत सिर्फ बर्मा की राष्ट्रीय सेना ही कर सकती है। समाजवादी संबंधों की ढहती विरासत से प्राप्त वैधानिकता से सैनिक शासन दूर चला गया है हालाँकि बौद्ध धर्म से संबंध होने के चलते राज्य का आर्थिक ढाँचा राज्य चालित है लेकिन इसका ज्यादा ध्यान म्यांमार के इतिहास, वर्तमान एवं भविष्य में सेना की महत्वपूर्ण भूमिका पर केन्द्रित है । इसी आधार पर अंतिम इतिहास की रचना की गई है। सेना ही राज्य का दिशा निर्देश करेगी। नया संविधान इसी बात को स्पष्टता से अभिव्यक्त करता है।

देश की राज्य सत्ता के बारे में सैनिक शासकों की नीतियों के रूपों का नीतिगत अर्न्तवस्तु सैनिक शासन के पहले से ही कार्यरत है । म्यांमार राष्ट्रवाद की मजबूत भावना के आधार पर निर्देशित होता

रहेगा। विदेशों में इस भावना को उतना सम्मान नहीं दिया जाता है। बाहरी दवाबों, शासन सत्ता में बदलाव के आह्वान, एक उत्पीड़क राज्य के रूप में चित्रित करना या एक क्रूर दमनात्मक या सबसे अलग-थलग राज्य के रूप में प्रचारित किया जाना तथा विभिन्न तरह के प्रतिबंधों को मजबूत करना (अमरीका द्वारा 1988 से 2008 के बीच चार बार लगाये गये प्रतिबंध) इन तमाम बातों को सैनिक सत्ता की ओर से साम्राज्यवादियों या नवसाम्राज्यवादियों उनके गुणों द्वारा उनकी संप्रभुता को नकारने के रूप प्रचारित किया जाता है।[2]

बर्मा के अनुशासन आधारित जनतंत्र की समझ इस बात पर आधारित है कि बर्मा की सत्ता पर बर्मा की सेना का अधिकार राष्ट्रीय विधान मंडल तथा अन्य स्थानीय विधान मंडलों में 25: कार्यरत सैनिकों को रक्षा मंत्रालय द्वारा नामित किया जायेगा तथा सेना द्वारा निर्देशित एकजुटता एवं विकास संघ (सदस्य संख्या 2 करोड़ 4 लाख 60 हजार है) एवं इसके द्वारा स्वीकृत दो या तीन राजनैतिक पार्टियों के टिकट पर जीतने वाले गुमनाम सेना समर्थक आम नागरिक एवं सेवा निवृत सैनिक अधिकारी के जरिये होगा।

बर्मा के अधिकारी यह दावा करेंगे कि उनके देश में चुने प्रतिनिधित्व के आधार पर बहुलतावादी दलीय पद्धति के रूप में राजनैतिक व्यवस्था लागू है जिसकी वैधानिकता को सिर्फ बर्मा-वासियों को ही स्वीकार नहीं करना चाहिये बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा भी स्वीकार करना चाहिये। वे इस संबंध में चीन, वियतनाम, लाओस, ब्रुनई जैसी राज्य सत्ताओं का उदाहरण पेश कर सकते हैं जहाँ कोई विरोध पक्ष की पार्टियाँ नहीं हैं और उनको अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त है। वे इस संबंध में औद्योगीकृत देशों द्वारा अपने खिलाफ किये गये भेदभाव का आरोप मढ़ सकते हैं।

वे नागरिक शासन के अन्तर्गत जिस तरह से देश की एकता एवं जीवनी शक्ति के प्रति चिंतित होते हैं उसी तरह विदेशी हस्तक्षेप के प्रति भी चिन्तित हैं। हालाँकि इतिहास फिर से अपना दुहराव न करे लेकिन पूर्व की परंपरा वर्तमान दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। कभी-कभी वह सम्पूर्ण रूप से प्रभावित करता है और कभी-कभी गलत ढंग से। पूर्व में बर्मा की बहुत सी सत्ता का अपने पड़ोसियों एवं बड़े ताकतों से डरना उचित था। लेकिन म्यांमार की सैनिक तानाशाही समय के गहन में फंसी हुई है और आधी शताब्दी में संबंधों में जो बदलाव आए हैं, उसे पहचानने में असफल है। आज कोई भी राज्य म्यांमार को विभक्त नहीं करना चाहता है।

म्यांमार के सभी पड़ोसियों ने सीधे तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता के खिलाफ प्रतिरोधों एवं सशस्त्र संघर्षों का समर्थन किया है। इन प्रतिरोधों एवं सशस्त्र संघर्षों के माध्यम से या तो राष्ट्रीय सरकार की सत्ता को उलटने का आह्वान किया था या केन्द्र से बाहर के क्षेत्रों की स्वायत्तता की बात की गई थी। भारत एवं थाइलैंड ने बर्मा से आए विस्थापितों को अपने देशों में शरण देने का काम किया। अगर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने बर्मा की कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन किया। (देंग शिया ओपिंग ने दावा किया था कि दो देशों के बीच संबंध एवं दो पार्टियों के बीच संबंध में अन्तर है) और इसके साथ ही साथ कुछ उत्तरी हिस्सों के अल्पसंख्यकों एवं प्रशिक्षित क्रान्तिकारियों का समर्थन किया तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने क्वोमिन्तांग (राष्ट्रवादी चीन) सेना का समर्थन किया। चीन में कम्युनिस्ट राज्य की व्यवस्था के बाद जब राष्ट्रवादी चीन (क्वोमिन्तांग) की सेना बर्मा के अन्दर घुस आई थी इसके साथ ही अमेरिका ने कुछ असंतुष्ट समूहों का थाइलैंड की सीमा के पास समर्थन किया।

वर्ष 1988 तक थाईलैंड की सीमा के पास के असंतुष्ट समूहों को समर्थन देने का अर्थ बैंकाक की दक्षिणपंथी सरकार और रंगून की प्रगतिशील सरकार के बीच एक मध्यवर्ती क्षेत्र की स्थापना करना था। बंगलादेश (इसके पूर्व, पूर्व पाकिस्तान) ने मुस्लिम विद्रोहियों को संरक्षण दिया म्यांमार-भारतीय सीमा पर अवस्थित भारत के उत्तर-पूर्व एवं मणिपुर की बहु-आदिम आदिवासी समाज ने विद्रोहियों एवं विस्थापितों की हिफाजत की। ये विद्रोही बर्मा और भारत की सीमाओं के भीतर आते-जाते रहे हैं और इन्होंने अनियंत्रित स्थानों पर अपना आवास बनाया है। ईसाई एवं मुस्लिम समुदायों का बाहर के स्वधर्मी लोगों के साथ संबंध के चलते बर्मा का अलगाव और ज्यादा तेज हुआ है।

यह कितना भी गलत धारणा पर आधारित क्यों न हो लेकिन अमरीकी हमले का वास्तविक डर है। मई, 2008 में नर्गिस चक्रवात के आने पर अमरीकी नौ सेना द्वारा चक्रवात पीड़ित लोगों तक सीधे तौर पर सहायता पहुँचाने के कार्य को बर्मा के सैनिक शासन ने रोक दिया। यह डर बराबर बना हुआ है। इन सब कारकों ने राज्य को एक सैनिक सत्ता के रूप में रखने की बात को पूरा किया है। म्यांमार की राष्ट्रीय सेना का दावा है कि सिर्फ वही इस राज्य की हिफाजत अपने लुटेरे पड़ोसियों एवं साम्राज्यवादियों से कर सकती है।

समाजवादी काल के अलगाव (1962-88) से इस बात को बल मिला है कि बर्मा की राज्य सत्ता प्रतिबंध के जरिये देश को अलग-थलग करने की नीति का वह मुकाबला कर सकती है और यह प्रतिबंध इसलिये अधूरा है क्योंकि बर्मा के पास प्राकृतिक संसाधन प्रचूर मात्रा में है। इस प्राकृतिक संपदा की जरूरत सिर्फ उस क्षेत्र के ही देशों को ही नहीं है बल्कि अन्य राज्यों को भी है। बर्मा के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के लिये राष्ट्रवाद ही चालक शक्ति है। ये दोनों एक-दूसरे से आबद्ध हैं जिसमें आंतरिक नियंत्रण का बाहरी संबंधों पर प्रधानता है। बर्मा की राष्ट्रीय सेना अपने विस्तार (वर्ष 1988 186,000 से 40,000 वर्ष 2009) एवं अपनी शक्ति को बढ़ाये जाने को विदेशी आक्रमण, थाइलैंड की ओर से घुसपैठ तथा उकसावा एवं अमरीका के हमले का खतरा बताकर सही करार दे सकती है लेकिन असली जरूरत आंतरिक नियंत्रण, संघर्ष की स्थिति तथा इसकी विचारधारा एवं राज्य की गतिविधियों में इसकी केन्द्रीय भूमिका के साथ जुड़ी हुई है लेकिन बाहरी संबंध जरूरी है अतः यह चीन की तरफ हाथ बढ़ा रहा है। दोनों के पारस्परिक हित है। बंगाल की खाड़ी तक अपनी पहुँच बढ़ाना यह चीन चाहता है लेकिन और भी दूसरे हित है। म्यांमार के प्राकृतिक संसाधन (खासकर गैस एवं जल विद्युत) जो दक्षिण पश्चिम चीन के 5 करोड़ लोगों का एक संभावनापूर्ण बाजार है जो चीन के पूर्वी समुद्री तट पर स्थित कम्पनियों का पश्चिमी बाजार के लिये मुकाबला नहीं कर सकता है। यह भारत पर राजनैतिक लाभ सुनिश्चित करने के लिये एक साधन की तरह है। (उत्तर पूर्व में चीन-भारत सीमा का एक हिस्सा अभी तक सुलझ नहीं सका है) और मलक्का के मुहाने से ऊर्जा के परिवहन के लिये निर्भरता घटेगी। इन तमाम कारकों के चलते वर्ष 1988 से म्यांमार में चीन की घुसपैठ में बढ़ोतरी हुई है और पुराने जनवादी चीन एवं राष्ट्रवादी चीन और यहाँ तक की साम्राज्यवादी नक्शे में भी बर्मा के उन हिस्सों को या तो चीन का अंग दिखाया गया है या उन क्षेत्रों पर उसका दबदबा रहा है।

चीन ने म्यांमार को अस्त्र एवं सामारिक समानों के मद में 3 अरब अरमीकी डॉलर की आपूर्ति की है और म्यांमार में 30 जल विद्युत परियोजना पर काम कर रहा है और बहुत ज्यादा आर्थिक मदद

दी है और म्यांमार के लोगों को प्रशिक्षित करने का सबसे बड़ा विदेशी जगह है।[3] इसके बावजूद म्यांमार चीन का कोई पिछलग्गू राष्ट्र नहीं है। यह इस बात से पता चलता है कि भारत ने भी इसे जल सेना के के लिए जहाज, हवाई जहाज एवं सेना सैनिक साजो सामान तथा आर्थिक मदद दी है। रूस ने भी इसे मिग-29 बेचा है तथा इसके सैनिकों को प्रशिक्षित किया है तथा प्रयोग के तौर पर एक छोटा परमाणु संयंत्र भी दिया है।

म्यांमार चीन के घुसपैठ के प्रति असावधान नहीं है। यह चीन के नियंत्रण एवं उसके ज्यादा उपस्थिति या किसी भी देश की उसकी अर्थव्यवस्था में उपस्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने हितों तथा आन्तरिक स्तर पर अर्थव्यवस्था पर अपने नियंत्रण के लिये खतरनाक मानता है। अन्ततः यह विदेशी आर्थिक शोषण ही था जिसके चलते बर्मा ने समाजवादी व्यवस्था लागू की।

वर्ष 1967 में चीनी क्रान्ति के निर्यात के खिलाफ दंगे भड़क गये जिसमें बहुत से लोगों की मौतें हुई और चीनी दुकानों को लूट लिया गया । यह घटना चीन के प्रति दुश्मनी को प्रतिबिम्बत करता है।

वर्ष 1988 में बर्मा में हुए तख्तापलट के प्रति भारत का रूख अत्यन्त नकारात्मक था। वर्ष 1990 के दशक के शुरूआती दौर में भारत बर्मा की सत्ता का घोर आलोचक था। यहाँ तक कि भारत ने ऑल इंडिया रेडियो की बर्मा सेवा में यू. नू. की पुत्री को नौकरी दी। भारत की नीति 1990 के शुरूआती दशक में बदल गई। भारत ने म्यांमार में चीन द्वारा निभाये जा रहे रणनीतिक भूमिका को समझते हुए भारत ने चीन के साथ होड़ लेने के लिये अपनी नीति में बदलाव लाया। म्यांमार में चीन का प्रभाव बढ़ता जा रहा है तथा करीब 20 लाख चीनी अवैध रूप से प्रवेश कर चुके हैं।

भारत के सुदूर उत्तर पूर्व में सशस्त्र संघर्षों के साथ-साथ इसकी सीमाओं के अन्दर बर्मा के विद्रोहियों की गतिविधियों तथा उन समूहों का दोनों देशों में आवाजाही और अपनी गतिविधियों के लिये स्वतंत्र आवास के निर्माण ने भारत को इन क्षेत्रों के विकास की दृष्टि से बर्मा के साथ इस तरह के समझौते के लिये परिस्थिति तैयार की।

हालाँकि वर्ष 1988 के बाद यह अफवाह फैलता रहा है कि भारत काचिन एवं करेन विद्रोहियों को सहायता प्रदान करता है लेकिन इस अफवाह को कभी सच साबित नहीं किया जा सका। लेकिन भारत ने बर्मा के राजनैतिक विरोधियों एवं करीब 50 हजार विस्थापितों, जिसमें रोहंगिया शामिल नहीं हैं, को अपने घर में शरण दी है।[5] बर्मा के सत्ता विरोधी संगठन अभी भी भारतीय क्षेत्र से अपनी गतिविधियां चलाते हैं।

किसी एक विदेशी प्रभाव पर निर्भर नहीं रहने की बर्मा की घरेलू नीति एवं विचारधारा के चलते, बर्मा ने भारत की सहायता एवं सहयोग के लिये अपना हाथ बढ़ाया। इसके बाद से भारत और बर्मा के बीच उच्च स्तरीय सैनिक अधिकारियों के प्रतिनिधियों के बीच दोनों देशों में बहुत-सी बैठकें आयोजित की गई हैं। वर्ष 1948 की स्वाधीनता के बाद बर्मा के राज्य प्रधान का पहला प्रतिनिधिमंडल वर्ष 2004 के अक्टूबर महीने में भारत आया। भारत और म्यांमार के बीच परिवहन एवं सड़कों के जुड़ाव के भारत द्वारा दिये गये सहायता कार्यक्रम के जरिये बढ़ाया गया है। दोनों देशों के बीच व्यापार की बढ़ोतरी की कार्य सूची पर सहमति है। हालांकि एक अरब अमरीकी डॉलर के व्यापार के लक्ष्य को अभी तक हासिल नहीं किया जा सका है लेकिन भारत ने बंगलादेश की सीमा पर स्थित बर्मा के राखिन समुद्री तट के पास समुद्र से गैस निकालने के लिये बोली लगाई लेकिन चीन ने उस क्षेत्र

के बड़े हिस्से के लिये ठेका प्राप्त कर लिया है और म्यांमार और यूनान प्रांत के बीच वह गैस पाइप लाइन का निर्माण करेगा और उसके साथ-साथ मध्यपूर्व से कच्चा तेल लाने के लिये अलग पाइप लाइन का निर्माण करेगा। इस निर्माण कार्य के बाद चीन का मलक्का के संकीर्ण समुद्री रास्ते पर निर्भरता पर कमी आ जायेगी।

भारत के उत्तर पूर्वी क्षेत्र के लगातार सशस्त्र संघर्षो तथा बर्मा के सैनिक शासन के खिलाफ भारतीय सीमा के समीप विद्रोहियों की गतिविधियों तथा इन समूहों का एक-दूसरे देश की सीमाओं के अन्दर अबाध आवाजाही के जरिये उनके द्वारा निर्मित प्रभावी अनियंत्रित क्षेत्रों के निर्माण के चलते भारत और बर्मा को आपसी समझौता के लिये मजबूर किया। भारत और बर्मा दोनों अपने राष्ट्रीय हितों में एक-दूसरे का इस्तेमाल कर रहे हैं। भारत ने कलादीन नदी पर एक बहुआयामी परिवहन आवाजाही परियोजना का विकास किया है जो सिल्वे बंदरगाह से शुरू होगा अक्याब (भारत द्वारा आधुनिकीकरण) और म्यांमार के चिन राज्य से गुजरेगा जिसके आधार पर उत्तर पूर्व के राज्यों को ज्यादा तेजी से आर्थिक विकास होगा। इस कार्यक्रम से उस इलाके के आदिम आदिवासी विद्रोह को रोकने में सफलता मिलेगी । वर्त्तमान समय में भारत और बर्मा के बीच बड़े पैमाने पर तस्करी हो रही है। हेरोइन एवं मेटामफेटा माइन्स जैसी नसीली दवाओं के निर्माण के लिये जिस रसायन का प्रयोग किया जाता है उसका आयात, भारत से किया जाता है तथा हेरोइन भारत में निर्यात किया जाता है। इसमें से कुछ सामग्रियों पर भारत सरकार ने कब्जा कर लिया। उत्तर पूर्व क्षेत्र में सुई के माध्यम से नशीली दवा सेवन करने वालों के बीच 70% लोग एच.आई.वी. के शिकार हो गये हैं। बर्मा की सभी सीमाएँ तस्करों का स्वर्ग है। यहाँ के स्थानीय अधिकारी भी इससे लाभान्वित होते हैं। सैनिक सत्ता के अधीन सीमाओं के खुले रहने के बावजूद, म्यांमार अपनी सीमा क्षेत्रों की हिफाजत करता रहा है। इसने इन क्षेत्रों में सेना के आकार में वृद्धि कर दी है ।

म्यांमार में प्रशासनिक परिवर्तन योजनाबद्ध है। नये संविधान के अनुसार अनुशासन आधारित नयी व्यवस्था जो 2010 के चुनाव के बाद लागू होना है, उसके आधार पर सैगाँग मंडल (नये संविधान में इसे क्षेत्र कहा गया है) में एक विशेष स्व-शासित नागा क्षेत्र का निर्माण किया जायेगा। यह क्षेत्र भारत की सीमा के पास होगा जिससे स्थानीय लोगों को स्थानीय क्षेत्र के प्रशासन का थोड़ा अधिकार मिलेगा।

वर्ष 2010 में निर्वाचित विधान मंडल का कार्यकाल 5 वर्षो का होगा और यह संभव है कि उस दौर में जनता एवं राज्य के बीच कुछ जगह विकसित हो सकती है जिससे ज्यादा स्वतंत्रता हासिल हो और कठोर नियमों में कुछ कमी आए।

नागा क्षेत्र के दक्षिण स्थित चिन (मीजोर) जनता के लिये विशेष राज्य का दर्जा मिल सकता है । ये सभी स्थानीय विधान मंडल होंगे। इन विधान मंडलों में कार्यरत सेनाओं का 25% हिस्सा होगा और इन प्रशासनिक बदलावों से बर्मा की राष्ट्रीय सेना द्वारा सीमा पर नियंत्रण रखने की क्षमता को प्रभावित नहीं करेगा। चिन एवं बर्मी समुदाय के बीच भयंकर वैमनस्य है क्योंकि 90% चिन समुदाय के लोग इसाई हैं और बर्मा के बौद्ध सैनिक सत्ता द्वारा भेदभाव का अनुभव करते हैं।

वर्ष 2010 में निर्वाचित विधानमंडल का कार्यकाल 5 वर्षो का होगा। इस दौर में राजसत्ता एवं आम जनता के बीच कुछ ऐसी जगह बन सकती है जिससे आम लोगों को कुछ ज्यादा स्वतंत्रता

हासिल हो और कठोर नियमों में कुछ कमी आ सकती है जो समकालीन म्यांमार के जीवन का एक पहलू है। अगर सैनिक सत्ता एवं आम जनता के बीच तनाव में कमी आती है तो विदेशी मामलों में ज्यादा संतुलित रूख अपनाया जा सकता है और इसके साथ-साथ संविधान में भी परिवर्तन हो सकता है। विदेशी रिश्तों में नागरिक प्रभाव बढ़ सकता है। यह भविष्य में सकारात्मक बदलाव की एक क्षीण आशा की किरण है।

हमें यह याद रखना चाहिये कि संविधान में संशोधन के लिये 75% कानून निर्माताओं के समर्थन की आवश्यकता है और सैनिक सत्ता की ताकत की कोई सीमा तय करने के लिये सैनिक सत्ता को राजी होना पड़ेगा जो प्रथम दौर में संभव दिखाई नहीं पड़ता है और बाद में भी थोड़ा असंभव ही दिखाई पड़ता है। एशियान, संयुक्त राष्ट्रसंघ और जापान 2010 के चुनाव के बाद इस घटना विकास पर नजर रखेगा।[6] लेकिन मानव अधिकारों के क्षेत्र में बहुत कुछ लागू करना बाकी है। भारत सरकार, चीन के प्रभाव का प्रतिकार करने के लिये सैनिक सत्ता को मान्यता देती रहेगी। अमेरिका एवं यूरोपियन संघ बिना किसी हिचक के साथ इस सत्ता का समर्थन नहीं करेंगे लेकिन एक आशंका एवं मानव अधिकार की चिन्ता के साथ इस सरकार के साथ संबंध की प्रक्रिया जारी रखेंगे।

वर्ष 2010 के चुनाव के पूर्व एक बहुत ही असंभव सी संभावित क्रान्ति के जरिये बहुत ही कमजोर हो चुकी विरोध पक्ष की राष्ट्रीय जनतांत्रिक संघ (नेशनल लीग ऑफ डेमोक्रेसी) एक विकल्प के रूप में आ सकती है। इस दल की सबसे लोकप्रिय नोबेल पुरस्कार विजेता आँगशान-सू-की सैनिक सत्ता के कुछ तत्वों के साथ सत्ता में शामिल हो सकती है। यह एक असंभव-सा परिदृश्य लगता है क्योंकि यह एक अस्थिर सत्ता होगी क्योंकि राष्ट्रीय जन-तांत्रिक संघ की एकता इस बात पर टिकी हुई है कि सैनिक सत्ता खत्म की जाय । इस लक्ष्य के अलावा जो मुद्दे हैं वे बाद की बातें हैं। सत्ता के व्यक्ति में निहित होने के चलते मिली-जुली सत्ता का स्वरूप अत्यन्त कमजोर होता है।

आँगशान-सूकी का आरंभिक पालन-पोषण भारत में हुआ था जबकि उनकी माँ भारत में बर्मा की राजदूत थी। आँगशान-सूकी का भारत के प्रति ज्यादा अच्छा रूख है लेकिन इससे बर्मा की नीति में कोई बड़ा बदलाव संभव नहीं है। राष्ट्रीय जनतांत्रिक लीग (संघ) मुख्य रूप से एक वर्ष की राजनैतिक पार्टी है तथा यह दावा करती है कि बर्मा की सत्ता पर नियंत्रण के बाद अल्पसंख्यक मसले को हल करेगी । इसने इस मुद्दे को लेकर एक तरह के संघीय ढाँचे की वकालत की है।

अगर सही मायने में बर्मा में प्रतिनिधि सरकार का गठन हो जाय और सेना राजनैतिक सत्ता छोड़ दे (जो असंभव मालूम पड़ता है) तो कुछ महत्वपूर्ण घटना का विकास हो सकते हैं जिससे उत्तर-पूर्व में भारत की सुरक्षा प्रभावित हो सकती है। बर्मा की सरकार बगैर किसी औपचारिक संघीय ढाँचा के बावजूद बरकरार औपचारिक संघीय ढाँचा के बावजूद बरकरार रहेगी। वर्ष 1962 से सैनिक सत्ता को संघीय ढाँचा स्वीकार्य नहीं है। लेकिन असंभव घटनाक्रमों में यह घटना विकास हो जाय तो हमें चिन समुदाय द्वारा म्यांमार के बाहर जो संविधान का मसौदा तैयार किया गया है उसकी जाँच की जानी चाहिये। यह अल्पसंख्यकों द्वारा तैयार तमाम मसौदों में से सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी मसौदा है। अन्य प्रावधानों के अलावा उसमें यह माँग की गई है कि चिन क्षेत्र में बगैर चिन विधानमंडल की सहमति के संघ की सेना प्रवेश नहीं करेगी। चिन विधानमंडल के पास अकूत ताकत होगी।

हालांकि विदेश नीति का निर्धारण केन्द्रीय सरकार करेगी लेकिन चिन क्षेत्र में विदेशी सेना की उपस्थिति उसके अधिकार क्षेत्र में होगा और वे तमाम शक्तियाँ जो स्पष्ट रूप से केन्द्र के हाथों में सुपूर्द नहीं होंगी वह केन्द्र से दूर के क्षेत्रों के प्रांतों के पास होंगी। इस तरह के अतिवादी संघीय ढाँचे की सोच से यह आसानी से समझा जा सकता है कि म्यांमार के चिन एवं नागा समुदाय का समर्थन भारतीय सीमा के अन्दर के अपने समुदाय के भाइयों के प्रति होगा और ठीक इसके उलट भारतीय आदिम समुदाय के आदिवासियों का समर्थन बर्मा के सीमा के अन्दर के अपने भाइयों के लिये होगा और इससे दोनों देशों के चिन एवं नागा समुदायों को लेकर उनके समुदायों के अलग देशों के निर्माण की बात से भारत के उत्तर पूर्व क्षेत्र में बड़े पैमाने पर अस्थिरता पैदा हो सकती है। वर्ष 2010 का बर्मा का संविधान बर्मा से किसी तरह के अलगाव का पूर्ण निषेध करता है। लेकिन पूर्व के आन्दोलनों के सबक एवं आगे के पश्तूनी रूपरेखा (अफगान-पाकिस्तान पश्तून आदिवासी गृह राज्य) को पूरी तरह खारिज नहीं करनी चाहिये। इसका असर भारत के दूसरे हिस्सों पर भी पड़ सकता है। म्यांमार में जनतांत्रिक परिवर्तन अपने आन्तरिक कारकों के जरिये, भारत के प्रति रूख में बदलाव को प्रभावित करेगा। ऐसा नहीं समझा जाना चाहिये कि जनतांत्रिक या नागरिक सत्ता वाला म्यांमार किसी भी मायने में सैनिक सत्ता से कम राष्ट्रवादी होगा हो सकता है यह कम उन्मादी हो)। 1948 से 58 तक नागरिक सत्ता की समीक्षा ज्यादा उल्टा नजरिया सामने लाता है।

पहली बात है कि म्यांमार में रह रहे भारतवासियों के प्रति (जो इस उप महादेश से जाकर बसे हैं।) सत्ता का क्या रूख है।

औपनिवेशिक दौर में भारत के एक प्रांत की तरह शासित बर्मा में बड़े पैमाने पर भारतीयों का आगमन हुआ। भारत द्वारा ऋण देने पर पूर्ण नियंत्रण के कारण 1929-32 के महामंदी के दौर में ऋण लगाने वाली चेट्टियार जाति के व्यवहार के जाति चलते भारतीयों के प्रति प्रबल दुर्भावना पैदा हो गयी जो अभी तक बर्मा में रह रहे भारतीयों की याद का हिस्सा बना हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक रंगून भारतीय नगर था और म्यांमार की राजधानी को नेप्यादाव ले जाना उसी शर्मनाक विरासत को मिटाने का प्रयास है। 1962 में सत्ता पलट के बाद करीब 20 हजार भारतीय उपमहादेश के लोगों को देश से बाहर कर दिया गया।

वर्ष 1982 के नागरिकता कानून के मुताबिक वैसे तमाम लोग जो बर्मा के देशी जाति (आदिम-भाषाई समूह) के सदस्य नहीं है और जो इस बात को सत्यापित नहीं कर पाते हैं कि उनके पूर्वज 1823 से पहले से बर्मा में निवास करते थे (पहला बर्मा और अंग्रेजों के बीच युद्ध 1824-26 में हुआ था) वे सह नागरिक हैं और उनके अधिकार सीमित है। यह कानून भारतीयों एवं चीनियों के खिलाफ निर्देशित है । संघ के बढ़ते राजनीतिकरण के साथ ये नकारात्मक रूख और ज्यादा मुखर हो सकते थे अगर म्यांमार में राजनैतिक बहस की जगह होती। लेकिन तानाशाही शासन के चलते इन बहसों पर नियंत्रण है।

पहले प्रश्न के संबंध में यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन के सत्र में जनतंत्र की ओर कोई सही प्रगति नहीं होगी। यदि ऐसा हो तो यह चमत्कार होगा । कन्वेंशन का जिस तरह गठन किया गया है वह ऐसा तंत्र नहीं है जो ऐसे संविधान का मसौदा तैयार करें जो सही मायने में जनतांत्रिक

हो और जो हर तबके को संतुष्ट कर सके। संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम-सभा द्वारा बार-बार लिये गये प्रस्तावों की अनुशंसाओं को नकारते हुए संविधान निर्माण के लिये जिस तरह की रूपरेखा तैयार की गई है उसकी ओर ध्यान दिलाते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव कोफी अन्नान ने 18 फरवरी, 2008 को जारी एक वक्तव्य के जरिये दुहराया है कि वे म्यांमार के अधिकारियों का आह्वान करते हैं कि वे अन्तिम समय में भी आवश्यक कदम उठाते हुए संविधान निर्माण की प्रक्रिया को ज्यादा समावेशी एवं विश्वसनीय बनाएँ।

महाशय अन्नान ने अपने वक्तव्य के समावेशी एवं विश्वसनीय शब्द के अर्थ पर जोर देते हुए कहा कि उन्होंने म्यांमार के सैनिक शासकों से अनुरोध किया है कि वे तमाम आदिम आदिवासी समूहों के प्रतिनिधियों एवं राजनैतिक नेताओं के साथ-साथ ऑगशान-सूकी के साथ बातचीत करके एक सही अर्थ में राष्ट्रीय समझौते तक पहुँचने की प्रक्रिया को पूरा करें। उन्होंने आगे अनुरोध किया कि राजनैतिक नेताओं के ऊपर लागू प्रतिबंधों को हटाया जाय, नेशनल संघ के कार्यालयों को खोला जाय जो देश में बहुदलीय राजनैतिक ढाँचे के निर्माण की लड़ाई लड़ रहा है। सभी जेल में बंद राजनैतिक नेताओं एवं निर्वाचित अधिकारियों को रिहा किया जाय। डॉ॰ ऑगशान-सूकी लम्बे समय से अपने घर में नजरबंद हैं और राष्ट्रीय कन्वेंशन में हिस्सा नहीं ले पा रही है । अगर बर्मा की सैनिक जनता के कार्यकलापों के प्रति विश्वास पैदा नहीं हो पा रहा है उसका कारण है कि राष्ट्रीय कन्वेशन वर्ष 1993 से शुरू हुआ है और इसने अभी तक संविधान की रचना नहीं की है। इसका बेमिसाल इतिहास रहा है। इसका सत्र 1996 में स्थगित हुआ। इसे पुन: मई 27 वर्ष 2004 में बुलाया गया जो सात कदमों के जरिये पूरा रास्ता तय करना था। उस समय से लेकर आज तक बहुत बार इसकी बैठकें बुलाई गईं एवं स्थगित की गईं । यह बात महत्वपूर्ण है कि पुन: इसकी बैठक उस समय बुलाई गई जब संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में म्यांमार के मुद्दे पर बहस करने की माँग रखी। संयुक्त राष्ट्र संघ में अमरीकी राजदूत जॉन बालटुन के शब्दों में बर्मा की सैनिक सत्ता की नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के लिये खतरा है। वस्तुत: म्यांमार के सैनिक शासकों ने तभी जनतंत्र की ओर बढ़ने की बात कही है जब उनपर बाहरी दबाव डाला गया। जहाँ एक ओर अमरीका एवं यूरोपीय संघ ने म्यांमार के खिलाफ प्रतिबंध लगाये हैं वहीं एशियान देशों ने उसे राजनैतिक तौर पर मनाने की कोशिश की है। म्यांमार की सैनिक सत्ता द्वारा 1988 के जनविद्रोह को क्रूरतापूर्वक कुचलने तथा वर्ष 1990 के आम चुनाव में डाउ आँग-शान-सूकी के नेतृत्व वाली जनतंत्र के लिये राष्ट्रीय संघ द्वारा 485 सीटों से 392 पर 82 मतों से विजय को हठ धर्मिता के साथ नकारने की घटना की अनदेखी करना बहुत ही मूर्खतापूर्ण बात होगी। चुनाव के बाद फिर से क्रूर दमन का दौर चला। डाउ-आँग-शान सूकी को अपने घर में नजरबंद कर दिया गया जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के चलते वर्ष 1995 में रिहा किया गया। इस बीच की अवधि में उन्हें रैफ्टो मानव अधिकार पुरस्कार के अलावे 1990 में सखारोव पुरस्कार और 1991 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। आँग-शान-सूकी के प्रति अप्रत्याशित समर्थन से चिन्तित होते हुए सेना के अधिकारियों ने पुन: उन्हें वर्ष 2000 में घर में नजरबंद कर दिया। डाला पुल के पास नौ दिनों तक आमना-सामना के बाद वर्ष 2002 में उन्हें रिहा कर दिया गया। उन्होंने फिर से देश का दौरा शुरू कर दिया जब तक कि उनके गाड़ियों का काफिले पर 30 मई को दीपायन के पास हमला नहीं कर दिया गया।

उस हमले में जनतंत्र के लिये राष्ट्रीय संघ के 70 समर्थक मारे गये। बहुतों की गिरफ्तारियाँ हुई। डाउ आँश-शान सूकी को तीन महीनों तक गुप्त स्थान पर बंदी बनाकर रखा गया और पुनः घर में नजरबंद कर दिया गया । अगर हाउ आँग-शान-सूकी के प्रति म्यांमार के सेनाधिकारियों का यही रूख है तो उन्हें अपने देश को जनतंत्र के रास्ते पर ले जाने का कोई इरादा नहीं है । अब प्रश्न उठता है कि इस सिलसिले में भारत की भूमिका क्या हो?

भारत द्वारा डाउ-आँग-शान-सूकी के जनतांत्रिक आन्दोलन का पूरा समर्थन से अपना रूख बदलते हुए सैनिक शासकों के साथ आर्थिक जुड़ाव का रूख, तीन मुद्दों से जुड़ा हुआ है।

चीन का बढ़ता प्रभाव, पहला कारण है। चीन, म्यांमार को अस्त्र-शस्त्र की आपूर्ति करने वाला प्रमुख राष्ट्र बन गया है तथा वह म्यांमार को कोको द्वीप में जल सेना के आधार क्षेत्र के विकास में मदद कर रहा है। हालाँकि भारत-चीन के संबंध में बहुत सुधार हुआ है लेकिन बहुतों का यह मानना है कि बेजिंग एवं इस्लामाबाद के बीच गहरे संबंध को देखते हुए चीन अपने भू-राजनैतिक ताकत को बढ़ाते हुए भारत को अलग-थलग करना चाहता है।

दूसरी बात है कि भारत म्यांमार के साथ आर्थिक सहयोग के जरिये खासकर ऊर्जा की आपूर्ति के दृष्टिकोण से यह पूर्व की ओर देखो की नीति पर काम कर रहा है और तीसरी बात भारत के उत्तर-पूर्व में हो रहे सशस्त्र संघर्ष को समाप्त करने में बर्मा का सहयोग हासिल किया जाय।

म्यांमार के साथ संबंधों की प्रगाढ़ता को इन्कार नहीं किया जा सकता है लेकिन इस संबंध में लम्बे समय की नीतियों का निर्धारण बाकी है। क्योंकि कोई भी सैनिक शासन के अनंतकाल तक बरकरार रहने की बात सोच नहीं सकता है क्योंकि यह पूरी तरह अलोकप्रिय सत्ता है। डाउ-आँग-शान-सूकी की लोकप्रियता से भयभीत होने के चलते उन्हें लगातार घर में नजरबंद रखा जाता रहा है और उनकी असुरक्षा का पता इस बात से भी चलता है कि पिछले वर्ष उन्होंने अपनी राजधानी यागॉन से हटाकर गहरे जंगल में एक किला बनाकर पिनमाला ले गये। क्या होगा जब सैनिक शासन समाप्त होगा और जनतंत्र का आगमन होगा? इसका उत्तर इस बात में निहित है कि एक रास्ते से सैनिक सत्ता के साथ संबंध स्थापित किया जाय और दूसरे रास्ते से डाउ-आँग-शान-सूकी और जनतांत्रिक आन्दोलन का समर्थन किया जाय। दुर्भाग्यवश दूसरे रास्ते पर काम करने वाले भारत के योद्धा जहाँ पाकिस्तान एवं बंगलादेश के साथ संबंध जोड़ने में लगातार लगे रहते हैं वहीं म्यांमार के लिये उनके पास थोड़ा भी समय नहीं होता है। यह तभी संभव है जब देश के लोग अन्तर्राष्ट्रीय सहायता लेने के लिये मानसिक तौर पर तैयार हों और इस संदर्भ में एशियान देश महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। म्यांमार अपनी बात को एशियान देशों के सामने रख सकता है तथा इसे संयुक्त राष्ट्र संघ में इस मुद्दे को उठा सकता है जो वहाँ हो रहे जनतांत्रिक आन्दोलन को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है और सैनिक शासन पर दबाव डालकर उसे सत्ता से बाहर करने पर मजबूर कर सकता है। वर्तमान समय में म्यांमार पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंध थोपे जाने से किसी भी तरह से जनतंत्र का रास्ता प्रशस्त करने का काम नहीं हुआ है और न तो म्यांमार को अलग-थलग किया जा सका है। बल्कि इससे सैनिक शासन को और ज्यादा मजबूती मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंधों को तत्काल हटाया जाना चाहिये जिससे आम लोग अपनी गरीबी मिटा सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के सक्रिय रूप से शामिल होने के बाद ही म्यांमार की समस्या का समाधान हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ सैनिक शासकों पर दबाव डालकर उन्हें जनतांत्रिक शक्तियों एवं आदिम आदिवासी समूहों से बातचीत के लिये राजी कर सकती है। म्यांमार के पड़ोसी देशों भारत और बंगलादेश को भी वहाँ जनतंत्र की पुनर्स्थापना के लिये गंभीरतापूर्वक समस्या पर विचार करना चाहिये क्योंकि उस देश में जनतंत्र की पुनर्स्थापना दोनों देशों के पक्ष में होगा। ऐसा होने से भारत के उत्तर पूर्व में हो रहे सशस्त्र संघर्षों को हल करने में मदद मिलेगी तथा बंगलादेश के शरणार्थियों से मुक्ति मिलेगी। एशियान देशों द्वारा किसी भी देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने की नीति को बंद करते हुए म्यांमार के हितों के लिये सक्रिया लाभबंदी करनी चाहिये। म्यांमार के लिये प्रभावी नेतृत्व समय की माँग है। आदिम आदिवासी समूहों की एकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का विकास सैनिक शासकों पर बाहर और भीतर दोनों ओर से दबाव डालेगा। संयुक्त राष्ट्र संघ को मानव अधिकारों के उल्लंघन पर स्पष्ट रूप से जोर देना चाहिये तथा जनतांत्रिक प्रक्रिया को आगे बढ़ने से रोकने की बात के नकारात्मक दुष्परिणाम होंगे। मजबूत अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के असर से ही सूफी को घर की नजरबंदी से रिहा करवाया जा सकता है। इस घटना से जनता के अन्दर आत्मविश्वास एवं आत्मगौरव की बात मजबूत होगी जो किसी भी आन्दोलन के लिये बहुत महत्वपूर्ण है।

म्यांमार की समस्या का देखने योग्य दूसरी विशेषता जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति एशियान देशों की गंभीरता की कमी है। यह बात भारत के साथ भी जुड़ी हुई है। जब इसके स्वहित की बात सामने आती है तो यह सैनिक शासकों से बातचीत शुरू कर देता है। इस बात से सैनिक शासकों को वैधानिकता प्राप्त होती है जो सत्ता जनता की भावनाओं को कुचलकर शासन चला रहा है। म्यांमार जबतक इन चुनौतियों का प्रभावी ढंग से सामना नहीं करता है तबतक देश में जनतंत्र को लागू करना एवं उसे मजबूत बनाना, दूर की कौड़ी साबित होगी।

आँग-शान-सू-की म्यांमार में जनतंत्र एवं आशा की एक मात्र जीती-जागती मशाल हैं। पिछले दो दशकों के दौरान सैनिक शासकों ने उन्हें 13 वर्षों तक घर में नजरबंद कर रखा है। ऐसे समय में जब वे अपनी नजरबंदी पूरा कर 27 मई, 2009 को रिहा होने वाली थी उस समय बंदी के समय के प्रतिबंधों को तोड़ने का आरोप लगाकर उनकी नजरबंदी का समय बढ़ा दिया गया और इस तरह से जनतंत्र के लिये रास्ता बंद कर दिया गया।

सूफी को किसी भी बाहरी व्यक्ति से मिलने के पहले सैनिक शासकों से अनुमति प्राप्त करनी पड़ती है। यह सर्वविदित है कि कैसे उन्हें विदेशी प्रतिनिधियों एवं राजनयिकों से मिलने से रोका जाता रहा है। अभी एक अमरीकी नागरिक जॉन विलियम येटो से बंदी के दौरान मिलने के आरोप के आधार पर यह भय बना हुआ है कि उनकी नजरबंदी की अवधि बढ़ सकती है। जॉन विलियम येटो, इन्या झील तैरकर गुप्त रूप से सूफी से मिले थे। सूफी के सूत्रों से पता चला है कि सूफी ने कोई अवैध काम नहीं किया है जिससे उनके खिलाफ कोई आरोप मंढ़ा जा सके और उन्होंने बिना किसी की जानकारी के सूफी के घर में घुस आए थे और अपनी गिरफ्तारी के दो दिन पूर्व तक बाहर जाने से इन्कार कर दिया था। हालाँकि विश्व भर के नेताओं ब्रिटिश प्रधानमंत्री गोर्डन ब्राउन अमरीकी विदेश सचिव हिलेकी क्लिंटन एवं आस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री स्टीफेन स्मिथ ने इन आरोपों को मनगढ़ंत बताते हुए सू-की को तुरंत रिहा करने की माँग की है। म्यांमार की सैनिक सत्ता सू-की को

जेल के अन्दर बंद रखने के लिये संकल्पित है जिससे सैनिक शासकों द्वारा आयोजित 2010 के आम चुनाव में वो प्रचार में हिस्सा न ले सकें जिससे जनतांत्रिक आन्दोलन को आगे बढ़ने से रोका जा सके।

मानव अधिकारों एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति बगैर किसी आदर भाव के सैनिक शासकों ने बड़ी कठोरता से शासन किया है। 8 अगस्त, 1988 के जनविद्रोह से होकर 2007 में बौद्ध भिक्षुओं के खिलाफ दमनात्मक कार्रवाइयों तथा पिछले वर्ष में आए नर्गिस चक्रवात का सामना करने के दौरान, सैनिक शासकों ने जनतांत्रिक मूल्यों एवं अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों के मानदंडों के प्रति अपनी पूरी अवमानना प्रदर्शित की। 1988 के जनविद्रोह के दौरान एक हजार नागरिक आन्दोलनकारियों की मौतें हुई, वर्ष 2007 में भिक्षुओं के आन्दोलन के दमन के दौरान 100 आम जनता एवं भिक्षुओं की मौते हुई तथा वर्ष 2008 में आये नर्गिस चक्रवात के दौरान सैनिक जनता ने विदेशी सहायता कर्मियों एवं स्वयंसेवकों को तबतक देश में आने की इजाजत नहीं दी जबतक 1 लाख लोग इस त्रासदी के शिकार नहीं हो गये। दक्षिण एशिया एवं दक्षिण पूर्व एशिया की खास जगह पर स्थित यह बहु आदिम आदिवासी समूह वाला देश जिसकी जनसंख्या करीब 5 करोड़ 60 लाख है अन्तर्राष्ट्रीय जगत के लिये शर्म का कारण बना हुआ है। इस देश के शासकों का मानव अधिकारों एवं राजनैतिक विरोधियों के प्रति रूख पूरी दुनियाँ को कलंकित कर रहा है। इस गंभीर परिस्थिति में जबकि जनतंत्र की अंतिम आशा को कुचला जा रहा है अब इस क्षेत्र में कौन ऐसी जनतंत्र पक्षी शक्तियाँ हैं जो सैनिक सत्ता को बातचीत के लिये राजी करने में निर्णायक भूमिका निभा सकती है तथा सू-की की रिहाई का रास्ता साफ कर सकता है। पूर्व में एशियान देशों द्वारा हस्तक्षेप नहीं करने की नीतियों के बावजूद म्यांमार को इस समूह के अध्यक्ष पद पर नहीं बैठने देने में सफलता प्राप्त की है लेकिन इससे जनतांत्रिक आन्दोलन के विकास को कोई मदद नहीं मिली है। इसके जवाब में सैनिक शासक रक्षात्मक मुद्रा में आ गये तथा अपनी आलोचना एवं प्रतिबंध लगाने को चुनौती दी। संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से एक खास समयावधि के अन्तराल पर सैनिक शासकों को जनतंत्र समर्थक ताकतों से बातचीत करने का आह्वान सिर्फ किया जाता रहा है। रूस और चीन ने इस मामले को उसका आन्तरिक समस्या बताते हुए प्रतिबंध की राजनीति से अपने को अलग रखा है। चीन म्यांमार का सबसे बड़ा व्यापारिक हिस्सेदार बन गया है तथा उसका बड़ा रणनैतिक हिस्सेदार भी है। शुरूआती दौर में भारत द्वारा जनतांत्रिक शक्तियों को समर्थन देने और सैनिक शासकों के साथ हाथ मिलाने में हिचक का परिचय दिया लेकिन हाल के दिनों में इसने सैनिक सत्ता के साथ रणनैतिक हिस्सेदारी कायम कर ली है। यह नई दिल्ली का अपनी पूर्व की नीतियों से दूर जाना है और उसके द्वारा इस क्षेत्र में चीन के बढ़ते प्रभाव को संतुलित करने के लिये यह नीति अपनाई गई है। इसने सूफी रिहाई के लिये रास्ता प्रशस्त करने का काम छोड़ दिया है।

इन तमाम प्रयासों का अलग-अलग असर पड़ा है। आज आवश्यक है कि इस मसले के हल के लिये एक सम्मिलित प्रयास शुरू किया जाय। जब सैनिक जनता की निन्दा कड़े शब्दों में विरोध, उसके खिलाफ लगाये गये प्रतिबंधों से सैनिक शासकों को बातचीत के लिये राजी नहीं किया जा सका तो यह सोचना गलत नहीं होगा कि तमाम जनतंत्र प्रेमियों को समावेशी एवं सामूहिक प्रयासों के जरिये लक्ष्य हासिल करने का प्रयास करना चाहिये। संयुक्त राष्ट्र संघ को तत्काल पहल करनी

चाहिये और संयुक्त राष्ट्र के महासचिव बान की मून की यात्रा हो सकती है जो बर्फ को पिघलाने के काम को अंजाम देंगे।

क्रांतिकारी बदलाव के विपरीत बातचीत के जरिये म्यांमार में जनतंत्र के कार्यकलाप एवं उसका मजबूत होना दूर की कौड़ी प्रतीत होता है। अगर यह भी हो जाय तो उत्तर पूर्व के प्रति बर्मा का दृष्टिकोण, गैस भंडार तक पहुँच तथा परिवहन से जुड़ाव की स्थिति में बदलाव की संभावना नहीं है।

वैश्विक आर्थिक व्यवस्था म्यांमार के आन्तरिक राजनीति को प्रभावित करने में बहुत छोटी भूमिका अदा करेगा। हालाँकि म्यांमार की प्राकृतिक संपदा बहुराष्ट्रीय निगमों को आकर्षित करता है।

हालाँकि प्रवासी बर्मावासियों ने वैसी व्यापारिक कम्पनियों को काली सूची में डालने की आवाज उठाई है जिसने सैनिक शासकों के साथ सहयोग किया है। भारत और चीन दोनों म्यांमार को एक महत्वपूर्ण राजनैतिक दोस्त के रूप में देखते रहेंगे। इस परिस्थिति में किसी भी परिभाषा के अनुसार जनतंत्र एक छोटी भूमिका ही निभायेगा।

भारत की यह इच्छा हो सकता है कि म्यांमार एक जनतांत्रिक राज्य बन जाये।

आँग-शान-सूकी भावनात्मक रूप से भारत के नजदीक हैं चूँकि वे यहाँ पली-बढ़ी, उन्होंने भारत के बारे में लिखा तथा उन पर गाँधी के दर्शन का बड़ा प्रभाव है अत: वे चीन से उतना ज्यादा प्रभावित नहीं हो सकती है। दूसरी ओर इस इच्छा का उल्टा असर भी हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मानदंडों के अनुरूप म्यांमार को जनतांत्रिक रूप में देखना आसानी नहीं है जबतक म्यांमार में आदिम आदिवासियों को स्वायत्तता या संघीय ढाँचा नहीं बने।

वर्ष 2008 के संविधान के अनुसार चिन एवं नागा समुदायों के क्षेत्रों में स्थानीय शासन का प्रावधान है। जनतांत्रिक शासन में स्थानीय प्रशासन के अधिकार क्षेत्र में किसी कमी की संभावना नहीं है। संभवतया उन्हें ज्यादा स्वायत्तता मिले भी और इससे उनके ऊपर स्थानीय दबाव बढ़ेगा और उनसे माँग की जायेगी कि वे भारत की सीमाओं के अंदर रह रहे अपने भाइयों के बारे में सोचे और इसके चलते भारत की सीमा में रहने वाले ये आदिम आदिवासी समूह केन्द्रीयकृत भारत से अपनी स्वायत्तता की माँग करें।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैश्विक आर्थिक नीति म्यांमार की आन्तरिक राजनीति को प्रभावित करने में बहुत कम भूमिका का निर्वहन करेगी। हालाँकि म्यांमार की प्राकृतिक संपदा बहुराष्ट्रीय निगमों के लिये बहुत लुभावनी है लेकिन म्यांमार की विकेन्द्रित अर्थनीति उसकी सत्ता को बरकरार रखेगा, यहाँ तक कि अगर प्राकृतिक संपदा का दास भी होता जाय। म्यांमार की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जुड़कर नहीं बनी है बल्कि यह अपने इतिहास से जुड़ा हुआ है। औपनिवेशिक इतिहास, उस जमाने में अपमानित होने की चेतना तथा पड़ोसी देशों की लुटेरापन, आदिम आदिवासियों का संघर्ष तथा बर्मा की सेना का गौरवगान, आज की राष्ट्रीय सेना उस गौरवशाली अतीत की संवाहक है । इस सत्ता ने खास ब्रांड की जनतंत्र को लोगों पर थोपने का काम किया है जिसमें विभिन्न राजनैतिक दल सिर्फ बाहरी ढाँचे पर सत्ता एवं नीतियों को प्रभावित कर सकती है, वह भी बर्मा की मजबूत सैनिक शासन के कठोर नियंत्रण के अन्दर ही।

संदर्भ:

1. हालाँकि संयुक्त राष्ट्र संघ ने बर्मा की सैनिक शासक द्वारा बर्मा का नाम म्यांमार बदलने को मान्यता दे दी है लेकिन वर्मा में विरोध पक्ष के लोगों ने इसे मानने से इन्कार कर दिया है क्योंकि वे सैनिक शासन को अवैध मानते हैं। अमेरिका ने विपक्ष की बात का अनुशरण किया है और इस आलेख में उसे एक राजनैतिक वक्तव्य के तरह जगह मिली है। 1989 के दौर तक वर्मा ही प्रयोग में लाया जाता रहा है। उसके बाद उसे म्यांमार कहा जाता है और दोनों नाम निरंतरता दर्शाते है। इसलिए दो में से किसी नाम के प्रयोग के साथ कोई राजनीति नहीं जोड़ी जानी चाहिए।
2. नामित प्रधानमंत्री जेनरल खिननिन्द ने जब बुश म्यांमार के खिलाफ प्रतिबंध पर हस्ताक्षर कर रहे थे, उस तश्वीर को हाथ में लेकर हिलाते हुए मेरे सामने कहा-अमरीकियों हम तुम्हारा सामना करेंगे।
3. हालाँकि पूर्व में म्यांमार के अन्दर चीन के बहुत से सैनिक छावनियों के बारे में सूचनाएँ थी लेकिन ये सब गलत साबित हुई। बर्मा का नया संविधान बर्मा की धरती पर बाहरी देशों के सैनिकों की छावनी को प्रतिबंधित करता है। बर्मा के बाहर प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये भेजे जाने वाले सैनिक अधिकारियों में से दो तिहाई चीन भेजे गये। यह 1970-99 के बीच हुआ। डेविड 1. स्टेनवर्ग न्यूयार्क, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 2009 (फोर्थकमिंग)
4. 90 के दशक की शुरूआत में भारत ने दिल्ली स्थित अमरीकी दूतावास के साथ बर्मा। म्यांमार के संबंध में नीतियों पर विचार करने की कोशिश की लेकिन अमरीकियों ने दुतकार दिया ।
5. पर्सनल कम्युनिकेशन एड्रयू सेल्थ 5-2009।
6. नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी ने वर्ष 2010 के आम चुनाव के पूर्व संविधान पर पुनर्विचार करने का आवाह्न किया जिससे वह भी चुनाव में हिस्सा ले सके। सैनिक शासक इस आवाह्न पर ध्यान नहीं देगा। नेशनल लीग फॉर डेमेक्रेसी को चुनाव में हिस्सा लेने दिया जायेगा यह मई 2009 तक अस्पष्ट था। एन. एल. डी. कार्यकारिणी कमिटी सदस्य, यागोन, मार्च 2009 : 2008 के संविधान का सबसे अच्छी समीक्षा, इन्टरनेशन क्राइसिस गुप्त रिपोर्ट की है। म्यामार – टुथर्ड्स दी इलेक्सन फोर्थकमिंग 2009.
7. सी डेविड-1 स्टेनबर्ग, टरम्याल इन बर्मा कन्टेसेड लीजीटीमेसीज इन म्यांमार (नारवाक इएटब्रिज, 2006, पीपी 226-231)

   प्रस्तावित संविधान पर प्रश्न उठाना या कोई दूसरा संविधान तैयार करना, म्यांमार में अवैध घोषित कर दिया।
8. सूचना विभाग मंत्रालय से नेप्यूडाव में चुनाव के संबंध के पूछे गये सवाल कि कोई नागरिक चुनाव लड़ सकता है या मत दे सकता है कि नहीं, इसका कोई जवाब नहीं मिला । यहाँ तक कि उच्च स्तरीय अधिकारियों को भी चुनाव कानून का पता नहीं था।

1. म्यांमार पाथ टुनाईड डेमोक्रेसी बाय-ज्योति चक्रवर्ती, सिक्स सिग्मा ट्रेनिंग इण्डियाआई ए.सी.टी. ग्लोबल इन/सिक्स सिग्मा
2. डेमोक्रेसी इन म्यांमार, इण्डिया मस्ट डिफाइन इट्स लुक इस्ट पालिसी'' इफ इट इच सीरियस एबाउट टैक्लिंग इमरजेन्सी इन ही नार्थ-इस्ट-हिरण्यमय काटलेकर, दी पायोनियर, 7 सितम्बर, 2006.

❋❋❋

भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में जाति–प्रथा की भूमिका का विश्लेषण

अजय कुमार

शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

परम्परावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्‌भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएँ ओर लोकतन्त्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारम्परिक संस्था–जाति का अन्त हो जायेगा किन्तु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जाति की शक्ति घटी है वहीं राजनीति और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, प्रशासनाधिकारियों और केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

कतिपय विद्वानों का यह मामना था कि लोकतान्त्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के बाद भारत में जाति प्रथा का लोप हो जाएगा। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परम्परागत शक्ति के रूप में कार्य करती है तथा यह राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक है । इस संबंध में रजनी कोठारी का अभिमत है कि कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थशून्य है। उनके विचार में जाति–व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रूकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दबाब गुट। हमारी जाति व्यवस्था ने राजनीतिज्ञों को अजीब असमंजस की स्थिति में डाल दिया है। जहाँ एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता हासिल करना चाहते हैं। जाति–प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर एक गम्भीर सामाजिक कुरीतियों के रूप में यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते हैं। यह व्यवस्था अति प्राचीन है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई भागों में बाँट देना है। सामान्यता यह माना जाता है कि जाति–प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे, क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था, वैश्व कृषि और वाणिज्य सम्हालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्णों की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू–शुरू में जाति–प्रथा के बन्धन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर आधारित था। बाद में जाति–प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर

आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्त:क्रिया असम्भव हो गयी। अपने मौलिक रूप में जाति-प्रथा उपयोगी थी। चूँकि वह श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी, अत: उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्व का समावेश किया। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्राय: उसी को अपनी आजीविका के साधान के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और बिरादरी के लोगों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग दूसरे से भली-भाँति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दुख में काम आते थे।

प्रो. धुरिये ने जाति व्यवस्था की छ: विशेषताएँ बताई है, जो इस प्रकार है:–

1. भारत में जाति ऐसे समुदाय हैं जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।
2. भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पदसोपान में ब्राह्मण को सबसे ऊपर माना जाता है।
3. जाति के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबंध लगे रहते हैं।
4. गाँवों तथा शहरों में जाति का आधार पर पृथकता को भावना बनी रहती है।
5. कुछ जातियों कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती है।
6. जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियाँ कई उपजातियों में विभक्त होती है। उप-जातियों में भी वैवाहिक परिसीमाएँ हैं।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा लगा था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश में लागू कर दिये जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ है। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था किन्तु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सीमित मताधिकार। स्वतन्त्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो कारणों का निराकरण कर दिया और नये संविधान में अपनायी गयी वयस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का फलत: जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हो गयी। आरम्भ में तो सामाजिक लाभ नहीं तक सीमित रहे। समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जानेवाली जातियाँ आगे आने लगीं और अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहने लगीं।

प्रो. रूडोल्फ के शब्दों में यह एक ऐसा माध्यम बन गया है कि जिसके जरिए भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।

प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' में भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जो लोग राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हैं वे न तो राजनीति की प्रकृति को ठीक से समझ पाये हैं और न जाति के राजनीतिकरण को। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति या बिरादरी को देश की व्यवस्था में भाग लेने का मौका मिलता है। राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय संगठन का उपयोग करते हैं और जातियों के रूप में उनको बना-बनाया संगठन मिल जाता है जिससे राजनीतिक संगठन में आसानी होती है। जाति व्यवस्था और

राजनीति में अन्त:क्रिया के सन्दर्भ में प्रो. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किये हैं। (1) लौकिक रूप, (2) एकीकरण का रूप, (3) चैतन्य रूप।

जाति व्यवस्था का लौकिक रूप

रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था के लौकिक रूप को व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। जाति व्यवस्था की कुछ बातों पर सबका ध्यान गया है जैसे जाति के अन्दर विवाह, छुआछूत और रीति-रिवाजों के द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम करने का प्रयत्न। लेकिन इस बात की ओर बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है कि जातियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता एवं गुटबन्दी रहती है और प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहती है। उदाहरण के लिए, आजकल बिहार में ऊँची जातियों और पिछड़ी जातियों के बीच सत्ता प्राप्ति का अनवरत संघर्ष चल रहा है और यही कारण है कि जनता शासन के दौरान दोनों ही मुख्यमंत्री पिछड़ी और अनुसूचित जातियों से आये। जाति व्यवस्था के इस लौकिक पक्ष के दो रूप थे-एक शासकीय रूप यानि जाति की ओर गाँव की पंचायत और चौधाराहट। दूसरा रूप राजनीतिक था यानि जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनों का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रीय सत्ता से किस प्रकार के संबंध थे। धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर इन जातियों की स्थिति बनती और बिगड़ती थी। पहले इन जातियों का संबंध जाति या गाँव की पंचायत और राजा या जमींदार से रहता था। अब जातीय पंचायतों के स्थान पर विधानसभाएँ और संसद हैं तथा राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है। रजनी कोठारी का यह भी विचार है कि देश की राजनीति पर किसी एक जाति का प्रधान्य नहीं हो सका क्योंकि कुछ स्थानों पर ब्राह्मणों का वर्चस्व था तो कुछ प्रदेशों में जैसे गुजरा और मारवाड़ में जैन, वैष्णव जैसे सम्प्रदायों के हाथ में आर्थिक शक्ति थी।

सामाजिक एकीकरण

जाति का दूसरा काम एकीकरण का है अर्थात् व्यक्ति को समाज से बाँधने का है। जाति-प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नीयत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति का व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, उसका अपने समाज से लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति उसकी निष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओं अर्थात् लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़ियाँ बन जाती है। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्दिता होती हैं और विभिन्न जातियों में आपस में मिल-जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सके।

जाति व्यवस्था का चैतन्य रूप

जाति प्रथा का तीसरा रूप चेतना बोध है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती हैं और जाति प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति की व्यवस्था और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, उसका अपने समाज से लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति उसकी निष्ठा बढ़ने लगती

है । यही निष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओं अर्थात् लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है और इस तरह जातियाँ जोड़ने वाली कड़ियाँ बन जाती हैं। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्दिता होती है और विभिन्न जातियों में आपस में मिल-जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सकें।

विशिष्ट जाति व्यवस्था का चैतन्य स्वरूप

सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए कुछ निम्न समझी जाने वाली जातियाँ भी अपने को उनके साथ जोड़ने की चेष्ठा करती हैं। क्षत्रिय वर्ण के साथ जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है, उसके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ण के साथ अपने को जोड़ा है और इसी कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ण का होने का दावा किया है। कुछ जातियों ने इसी प्रकार ब्राह्मण पद का भी दावा किया है। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। सामाजिक व्यवहार में अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग रूप धारण करने के कारण जाति व्यवस्था में लोच और परिवर्तनशीलता आ जाती है। इसके लिए चार मार्ग अपनाये जाते हैं। पहला मार्ग संस्कृतिकरण से जुड़ा है। संस्कृतिकरण में छोटी जातियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों की नकल करने लगती हैं। इसे ब्राह्मणीकरण भी कहा जाता है। दूसरा मार्ग लौकिकीकरण या अब्राह्मणीकरण का तरीका है। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से अक्सर अब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति को छोड़ देती है और अन्य अब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त करने की चेष्ठा करती हैं। तीसरा मार्ग महापुरुषों से संबंध जोड़ने का तरीका है। कभी-कभी कतिपय जातियाँ अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना संबंध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं जैसे गुजरात के पाटीदार और राजस्थान के जाट आदि। चौथा, आधुनिक राजनीति में भी भागीदारी का तरीका है। कुछ जातियाँ सीधे ही आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगी और इस प्रकार उन्होंने समाज में भी उच्च स्थिति प्राप्त की। आन्ध्रप्रदेश और बिहार इसके उदाहरण है।

प्रो. रजनी कोठरी ने जाति के राजनीतिकरण की चर्चा करते हुए कहा है कि 'इससे पुराना समाज नयी व्यवस्था के सम्पर्क में आने लगा तो सबसे पहले शक्ति और प्रभाव की प्रतिस्पर्धा समाज की प्रतिष्ठित और जमी हुई जातियों तक सीमित रही। जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बनने का प्रयत्न किया, वे प्रतिष्ठित जातियों के समक्ष आने लगीं। इन जातियों ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन बनाया जिससे दो ऊँची जातियों में प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण, राजस्थान में राजपूत, जाट, गुजरात में बनियाँ-ब्राह्मण-पाटीदार, आन्ध्रप्रदेश में कम्मा-रेड्डी और केरल में इजवा-नायर द्वन्द्व इसके उदाहरण हैं।

जाति के अन्दर की प्रतिस्पर्धा गुटबन्दी

इस चरण में भिन्न-भिन्न जातियों की प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्धा नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं। इन गुटों में विभिन्न जातियों के लोग होते हैं। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों की भी सहायता ली जाती है, जो अब तक दायरे से बाहर थीं। चुनाव

में समर्थन प्राप्त करने के लिए नीची जातियों के प्रमुख लोगों को छोटे राजनीतिक पद और लाभ में कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पर्धा नेता अपना गुट मजबूत करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ इस प्रकार जाति प्रधानों को इनाम और पद देकर इन जातियों का समर्थन प्राप्त करना सम्भव नहीं हुआ, वहाँ विभिन्न जातियों और उपजातियों में आपसी प्रतिस्पर्धा पैदा करके उनका संगठन बनाने की और उन संगठनों के बिचौलियों द्वारा समझौता कराने की कोशिश की गयी। इस चरण में पुराने ब्राह्मण और कायस्थ आदि प्रशासनिक जातियों के नेताओं के बजाय व्यवसायी और कृषक जातियों के नेताओं और कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ी। ये नेता सौदा पटाने में कुशल थे, ज्यादा व्यावहारिक थे और अपने वर्ग और जाति के लोगों का नेतृत्व कर सकते थे।

जाति के बन्धनों का ढीला पड़ना और राजनीति को व्यापक आधार मिलना

रजनी कोठारी के अनुसार तीसरे चरण में एक ओर राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति-पाति से लगाव कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा, नये शिल्प और शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया। भौतिक उन्नति की नयी धारणाओं का जोर बढ़ा। पुराने पारिवारिक बन्धन टूटने लगे और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहे। राजनीति में भी व्यापकता आयी। नयी शिक्षा और नये सामाजिक व्यवहार दृष्टिगोचर होने लगे और जाति की भावना को नया रूप मिलने लगा। राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नयी निष्ठाओं को जन्म दिया, जो पुरानी निष्ठाओं को काटती हैं। जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एकमात्र आधार नहीं रही, यद्यपि राजनीति में इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

प्रो. रजनी कोठारी का राजनीति में जाति के स्वरूप और इसके बदलते आयामों की चर्चा इस तरह की है–

1. आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथक्ता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन में सहायता दी।
2. आधुनिक राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हुआ और उनकी समक्ष में यह आ गया कि आज के युग में केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता।
3. जहाँ जाति बड़ी होती है, वहाँ भी उसमें एकता नहीं रहती, उसमें उप-जातियों के भेद होते हैं और छोटी जातियाँ तो अपने बल पर चुनाव भी नहीं जीत सकती हैं। यदि कोई प्रत्याशी अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो दूसरी जातियाँ उनके खिलाफ हो जाती हैं इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है।
4. राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और अनेक नयी निष्ठाओं का उदय होता है।
5. आजकल राजनीति में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का जोर बढ़ने की शिकायत की जाती है। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा प्रसार, शहरों के विस्तार, औद्योगिकरण आदि के कारण सम्प्रदाय और जाति के बन्धन ढीले पड़ रहे थे, वे चुनाव की राजनीति के कारण फिर से जोर पकड़ रहे हैं। इससे देश की फूट बढ़ेगी जिससे धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र का ढाँचा खतरे में पड़ जायेगा। किन्तु प्रो. कोठारी का मानना है कि वास्तव में जाति और राजनीति के मिश्रण

से दूसरे ही परिणाम निकलते हैं। बजाय राजनीति पर जाति के हावी होने के जाति का राजनीतिकरण हो जाता है। राजनीति ने जाति को लीक से हटाकर नया सन्दर्भ दे दिया, जिससे उसका पुराना रूप बदल रहा है।

6. आधुनिकतावादी नेता जाति-पाति पर भले ही नाक-भौं सिकोड़ें, परन्तु इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहों के हाथ में पहुँच सकी, जो अब तक उससे वंचित थे।
7. जाति के आधार पर संघ और संगठन बनते हैं जैसे कायस्थ सभा, क्षत्रिय संघ आदि सब मिलाकर जातीय संगठनों ने भारत की राजनीति में उसी तरह भाग लिया है जिस तरह पश्चिमी देशों में विभिन्न हितों व वर्गों से संगठनों ने।
8. जातियों और सम्प्रदायों के राजनीति में भाग लेने के फलस्वरूप सामूहिक या राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ है और उसकी पृथकता कम होकर उनका राजनीतिक एकीकरण हुआ है। भारत में जाति और राजनीति के संबंध को चार तरह से समझा जा सकता है।

प्रथम, भारतीय व्यवस्था का संगठन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति मात्र है। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है। लोकतांत्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है जिससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें। जिस समाज में जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमें यह अत्यन्त स्वभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।

तृतीय, भारत में राजनीति 'जाति' के इर्द-गिर्द घूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत में राजनीतिज्ञ समुदाओं को इसलिए संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन में उन्हें सत्ता तक पहुँचने में सहायता मिल सके।

चतुर्थ, जातियाँ संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती है और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज में जातियाँ ही 'राजनीतिक शक्तियाँ' बन गयी है।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका की उभरती प्रवृत्तियों की तरफ इशारा किया जा सकता है।

प्रथम, जाति व्यक्ति को बाँधने वाली कड़ी है। जातीय संघों और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्ववाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जाति-पाति को समाप्त करने वाले आन्दोलन अन्ततोगत्वा नयी जातियों के रूप में मुखरित हुए जैसे लिंगायन, कबीरपंथी और सिक्ख आन्दोलन स्वयं नयी जातियाँ बन गये।

द्वितीय, शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगिकरण और आधुनिकीकरण से जातियाँ समाप्त नहीं हुई अपितु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला और उनकी राजनीतिक भूमिका में वृद्धि हुई।

तृतीय, राजनीति में प्रधान जाति की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गाँव या इलाके में ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने संख्या बल के आधार पर गाँव और क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में जाति एक प्रभावकारी तत्व बन जाती है। हरियाणा की राजनीति के बारे में डॉ. सुभाष कश्यप ने लिखा है 'हरियाणा में जाति और वर्ग की भावना को अपेक्षाकृत अधिक बल मिला है तथा हरियाणा के जनजीवन में सदा ही 'जाति' राजनीतिक दल की अपेखा महत्वपूर्ण रही है... गुड़गाँव और महेन्द्रगढ़ क्षेत्रों के अहीर, अहीर उम्मीदवार को ही मत देना चाहेगा अन्य किसी को नहीं... यही बात राज्य के अन्य भागों के अन्य जाति के समूहों के बारे में लागू होती है। चुनावों के समय वहाँ अकसर एक पुरजोर नारा सुनायी पड़ती है-'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को। आश्चर्य की बात यह है कि जाति की यह विशेषता हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रही, मुसलमान भी उनकी गिरफ्त से नहीं बच सके हैं।'

चतुर्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही जातिगत समुदायों का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था। जबकि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली थी। सबसे पहले इसका ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहाँ जातीय समुदायों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के ध्येय से अपने संगठन का नामकरण कराना आवश्यक समझा। बाद में अपनी जाति के लोगों के हितों के संरक्षण के लिए जातीय संघों ने प्रस्ताव पारित किये और शासन को अपनी माँगों के लिए प्रभावित करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक कि कुछ जातियों ने शैक्षणिक सुविधा की माँग की। मद्रास की बेनियर जाति के नेता पदायची ने सी. राजगोपालचारी के मन्त्रिमंडल में शामिल होने से इन्कार कर दिया क्योंकि उन्होंने उनकी जातीय माँगों को मानने से इन्कार कर दिया था। बाद में वे कामराज मन्त्रिमंडल में शामिल हो गये क्योंकि उन्होंने वेनियरों की माँगे स्वीकार कर ली।

पंचम, निर्वाचनों के दिनों में जातिगत समुदाय प्रस्ताव पारित करके राजनीतिक नेताओं और दलों को अपनी जातिगत समर्थन की घोषणा करके अपने हितों को मुखारित करते हैं।

षष्टम, जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी ही है जितनी स्थानीय और राज्यस्तर पर।

सप्तम्, जाति और राजनीति के संबंध स्थिर न होकर गतिशील हैं।

जातिवाद का एक पक्ष यह है कि यदि कुछ जातियाँ या जाति के लोग मिलकर कोई रचनात्मक कार्य जैसे स्कूल या कॉलेज खोलकर, अस्पताल, धर्मशालाएँ, मन्दिर, गुरुद्वारे आदि बनवाकर, निर्धनों को आर्थिक सहायता देकर आदि तो उससे न तो किसी को हैरानी या परेशानी होगी और न कोई विद्वेष की भावना ही फैलेगी। किन्तु जब कुछ जातियाँ या जाति के लोग मिलकर अन्य जाति को परेशान अथवा संत्रस्त करते हैं तो स्थिति भयावह अवश्य बन जाती है। आजकल प्राय: यही हो रहा है। अच्छे प्रतिभाशाली लोग केवल इसी आधाार पर उपेक्षित रहते हैं कि वे किसी जाति विशेष के नहीं होते। जातियों के नाम से चलने वाली संस्थाओं में से बहुत ही कम ऐसी होती हैं जो पक्षपात शून्य होती हैं, बाकी सभी में यह विष इस प्रकार घोला जाता है कि अच्छी प्रतिभाओं का विकास रूक जाता है। ऐसा स्पष्ट दिखता है कि हमारे राजनीतिज्ञ ऊपर से 'जाति तोड़ो' सम्मेलन करते हैं किन्तु अन्तरंग से जातीयता को बढ़ावा देते हैं। जातिवाद के कारण अनेक ऐसे संघ बन गये हैं जिनमें

काफी पिछड़े वर्ग के लोग शामिल हैं। शोषित संघ तो अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों का एक संघ है ही। सत्तर के दशक में दलित पैंथर शब्द भी सुनायी पड़ने लगा। दलित का अर्थ है रौंदा, कुचला अथवा संत्रस्त जबकि पैंथर अंग्रेजी का शब्द है जो चीता अथवा तेंदुआ के लिए प्रयुक्त होता है। यह संगठन उग्रवादी अनुसूचित जातियों व आदिवासियों का संगठन है जो मूल रूप से जातीय आधार पर संगठित किया गया है। इसी प्रकार जाटों, गुजरों, अहीरों, वैश्यों आदि के भी अनेक संगठन है जिनका मुख्य आधार जाति ही है। ब्राह्मणों के कई वर्ग हैं। कान्यकुब्ज, गौड़, मैथिल, दक्षिणात्य आदि। इसकी भी अनेक सभाएँ व संगठन हैं जो भारतीय व प्रादेशिक आधार पर बनाये गये हैं-जैसे अखिल भारतीय कान्य कुब्ज सभा, अखिल भारतीय ब्राह्मण सभा आदि। इन सभाओं का मूल ध्येय जातीय भावनाओं को उकसाना है। जातीय संगठन और जातीय नेता राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञों से साँठ-गाँठ करके जाति का राजनीतिकरण करने में लगे हुए हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश में आये दिन जातीय झगड़ों, तनावों और संघर्षों में जाति और राजनीति की अन्त:क्रिया ही दिखायी देती है। जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्याधिक महत्वपूर्ण दल है।' हेरोल्ड गौल्ड के शब्दों में 'जाति राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व हैं।'

जाति-व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे-धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रभावों के फलस्वरूप वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए और जातिगत संस्थाएँ महत्वपूर्ण बन गयीं। क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतन्त्र में सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य है। जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी उन्हें सामान्य जनता के पास पहुँचने के लिए संपर्क सूत्र की भी आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए जह भी जरूरी था कि इस भाषा में बात की जाय जो उनकी समक्ष में आ सके। इस पृष्ठभूमि में जाति की भूमिका राजनीति में अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गयी। भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का अध्ययन निम्न शीर्षक में किया जा सकता है।

निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावकारी भूमिका

भारत में जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गये हैं जिनके कारण ये जातियाँ संगठित होकर सरकार पर दबाव डालती रहीं कि इन सुविधाओं को और अधिक वर्षों के लिए अर्थात् जनवरी 2011 तक के लिए बढ़ा दिया जाय। अन्य जातियाँ चाहती हैं कि आरक्षण समाप्त किया जाय अथवा इसका आधार सामाजिक-आर्थिक स्थिति हो अथवा उन्हें आरक्षित सूची में शामिल किया जाय ताकि वे इसके लाभ से वंचित न रह जायें।

राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय

भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। सभी दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते हैं। 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतन्त्र पार्टी की सफलता का राज उसका क्षत्रिय जाति के समर्थन में छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्तिपुंज बनाकर ही 1971 का आम

चुनाव काँग्रेस ने जीता था। 1977 में जनता पार्टी की विजय का कारण उसे मुसलमानों और हरिजनों के साथ उच्च जातियों का प्राप्त समर्थन था। जनवरी 1980 के सप्तम लोकसभा चुनावों में काँग्रेस (इन्दिरा) की विजय का कारण रहा कि श्रीमति गाँधी हरिजनों, ब्राह्मणों और मुसलमानों का जातीय समर्थन जुटाने में सफल हो गयीं। काँग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाये जाते हैं जिनमें प्रतिस्पर्धा की भावना विद्यमान रहती है।

जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार

भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की भावना को प्राय: उकसाया जाता है ताकि संबंधित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके। जनवरी 1980 के चुनावों में उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार के हिस्सों में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्वकांक्षाओं का प्रतीक हैं। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरण सिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों की एकजुटता पर निर्भर रही। केरल के चुनावों में साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों ने भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

मन्त्रिमंडलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व

राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धांत इतना गहरा हो गया है कि राज्यों के मंत्रिमंडल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मंत्री होना चाहिए। यह सिद्धांत प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया है कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। यहाँ तक कि केन्द्रीय मंत्रिमंडल में भी हरिजनों, जनजातियों, सिक्खों, मुसलमानों, ब्राह्मणों, जाटों, राजपूतों और कायस्थों को किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य दिया जाता है।

जातिगत दबाव समूह

मेयर के अनुसार: "जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत है।" जातिगत दबाव समूह अपने स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका में पाये जानेवाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है।

अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासभा, बिहार में कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगे हैं और अपने-अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सका है मगर जो जातियाँ इस प्रकार संगठित नहीं हो सकी, वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नहीं रही और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़-फोड़ का सहारा लेना पड़ा।

जाति एवं प्रशासन

लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है। केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एवं

इन्जीनियरिंग कॉलेजों में विद्यार्थी की भर्ती हेतु आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। चरणसिंह सरकार ने तो अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछड़ी जातियों के लिए केन्द्रीय सरकार की सेवा में आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की और इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को भी ताक पर रख दिया। यदि यह अध्यादेश लागू हो जाता है तो मध्य जातियों जैसे अहीर, यादव, कुर्मी आदि को भी आरक्षण के अवसर मिल जाते। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय अथवा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते हैं।

राज्य राजनीति में जाति

माईकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति का अध्ययन तो हम बिना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नहीं सकते। बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्धी जातियाँ है। पृथक झारखंड राज्य की मांग वस्तुतः एक जातीय मांग ही थी। केरल में साम्यवादियों की सफलता का राज यही है कि उन्होंने 'इजवाहा' जाति को अपने पीछे संगठित कर लिया। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। काम्माओं ने साम्यवादी दल का समर्थन किया तो रेड्डी जाति ने कांग्रेस दल का। महाराष्ट्र की राजनीति में मराठों, ब्राह्मणों और महरों में प्रतिस्पर्धा रही है। गुजरात की राजनीति में दो ही जातियाँ प्रभावी हैं - पाटदार और क्षत्रिय। केरल की राजनीति अपने तीन समुदायों के इर्द-गिर्द घूमती रही है–हिन्दू, ईसाई और मुसलमान। लेकिन केरल की राजनीति में दो हीं जातियाँ प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय हैं। मुस्लिम लीग मुसलमानों की है, दोनों केरल कांग्रेस के अधिसंख्या सदस्य ईसाई हैं। रा.प्र.मी. नायर लोगों की संस्था है। कांग्रेस और दोनों साम्यवादी दलों में जाति के अलावा हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गों का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति में जाट-राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्धा प्रमुख रही है। भारत में राज्य की राजनीति के कतिपय अध्ययनकर्ताओं के अनुसार विभिन्न राज्यों में जाति के चार विभिन्न स्वरूप विकसित हुए हैं।

जातिवाद का पहला स्वरूप दक्षिणी भारत और विशेषकर तमिलनाडु में मिलता है जहाँ ब्राह्मणों और अनेक निम्न जातियों के बीच गंभीर संघर्ष रहा है। तमिलनाडु में आरम्भ से ही राजनीति पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व रहा है इसके विरुद्ध काफी दिनों से आन्दोलन चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप राधास्वामी नायकर द्वारा द्राविड़ कड़गम नामक संगठन की स्थापना की गयी जो बाद में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल के रूप में विकसित हुआ। तमिलनाडु में आरम्भ से ही राजनीति पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व रहा और इसके विरुद्ध काफी दिनों से आन्दोलन चलता रहा जिसके जिसके परिणामस्वरूप तमिलनाडु में यह आन्दोलन शुरु हुआ और 1916 में एक पृथक राजनीतिक दल 'जस्टिस पार्टी' के नाम से स्थापित हुआ जिसका उद्देष्य गैर-ब्राह्मण जातियों के लिए स्थान सुरक्षित करना था। 1922 में सरकार द्वारा लोक सेवाओं में निर्धारित किये गये। इसके इस बात का संकेत मिलता है कि ब्रिटिश काल में ही गैर-ब्राह्मण जाति के लिए 16 प्रतिशत स्थान निर्धारित किये गये। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि गैर-ब्राह्मण जाति विरोधी आन्दोलन बड़ी हद तक सफल हुआ। 1949 में यह आन्दोलन सी.

एन. अन्नादुराई के नेतृत्व में डी.एम.के. के अधीन शुरू हुआ। ब्राह्मण विरोधी भावना के राजनीतिक महत्व को दृष्टि में रखते हुए अन्य राजनीति दल भी जाति युद्ध में संलग्न रहे हैं। यहाँ तक कि कांग्रेस पार्टी के द्वारा राजगोपालचारी (जो एक ब्राह्मण थे) के राजनीतिक प्रभाव को कम करने के लिए कामराज नाडार को राजनीति में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया। संक्षेप में स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद तमिलनाडु में ब्राह्मण और निम्न जातियों के बीच घोर टकराव रहा और इस संघर्ष में ब्राह्मणों को पराजित होना पड़ा।

जातिवाद का दूसरा रूप महाराष्ट्र में देखने को मिलता है। महाराष्ट्र की राजनीति तमिनाडु से कुछ भिन्न रही है, यद्यपि यहाँ मराठा और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष रहा और इस संघर्ष में मराठा जाति ने ब्राह्मणों के शताब्दियों से चले आने वाले प्रभुत्व का अन्त किया। बीसवीं शताब्दी की दूसरी चौथाई में राजनीतिक दलों में भी ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। उदाहरण के लिए तिलक, गोखले, गोलवलकर, एस.ए. डाँगे आदि ब्राह्मण थे। स्वतन्त्रता के बाद मराठा जाति ने ब्राह्मणों को पराजित कर दिया और यह आन्दोलन 1960 में अपनी पूर्णता को पहुँच गया जब महाराष्ट्र नामक एक पृथक राज्य की स्थापना की गयी और मराठा जाति को राजनीति महाराष्ट्र की राजनीतिक प्रक्रिया में पूर्ण प्रधानता प्राप्त हुई। इस नये महाराष्ट्र राज्य में मराठा जाति की संख्या 45 प्रतिशत थी। ए.जे. दस्तुर के शब्दों में, जिस दिन महाराष्ट्र का निर्माण हुआ उस दिन से राज्य के विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक नेतृत्व में अत्यधिक महत्वपूर्ण और मौलिक परिवर्तन हुए।.... सत्ता प्रभाव और शक्ति ब्राह्मणों के हाथों से निकलकर मराठों के हाथों में पहुँच गयी।'

गुजरात, आन्ध्र और कर्नाटक जातिवाद का तीसरा प्रतिनिधित्व रूप प्रस्तुत करता है। इन तीनों राज्यों में तीन मध्यवर्गीय जातियाँ राजनीति में संघर्षरत दिखायी देती हैं। आन्ध्र में यह टकराव काम्मा और रेड्डी जातियों के बीच पाया जाता है। 1934 में आन्ध्र में साम्यवादी दल की स्थापना के बाद से इस दल का नेतृत्व कम्मा जाति के हाथों में रहा जबकि कांग्रेस पार्टी में रेड्डी जाति का प्रभुत्व रहा। कर्नाटक में यह विरोध लिंगायत तथा ओकोलीगा जातियों के बीच पाया जाता है। गुजरात में पटीदार और क्षत्रिय जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा पायी जाती है। इन तीनों राज्यों (आन्ध्र, कर्नाटक और गुजरात) में यह विशेषता दिखायी देती है कि इन राज्यों में राजनीतिक क्षेत्र में केवल दो जातियों का प्रभुत्व है जो अपनी प्रथाओं, सामाजिक स्थिति और सामाजिक-आर्थिक साधनों की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। दूसरे शब्दों में तमिलनाडु और महाराष्ट्र में जहाँ असमान्य जातियों के बीच टकराव पाया जाता है, वहाँ इन राज्यों में, यह प्रतिस्पर्धा लगभग दो समान जातियों के बीच पायी जाती है।

बिहार की स्थिति उपरोक्त राज्यों से भिन्न है। यहाँ भी उच्च जातियाँ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कायस्थ अब भी सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के धारक हैं और उनके बीच राजनीतिक प्रतियोगिता देखी जा सकती है। निम्न जातियाँ अब भी पिछड़ी स्थिति में हैं। राजस्थान और मध्य प्रदेश में भी राजनीति पर उच्च जातियों का एकाधिकार है और निम्न जातियाँ उभरने का प्रयत्न कर रही हैं। अत: इन राज्यों में राजनीतिक प्रतियोगिता उच्च जाति के बीच है और कोई भी एक जाति अपने प्रभुत्व को स्थापित करने की स्थिति में नहीं है।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कई लोग जाति को 'राजनीति का कैंसर' मानते हैं। जाति प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में भी बाधक माना

जाता है क्योंकि इससे व्यक्तियों में पृथकतावाद की भावना जागृत होती है। लोग राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने जातिगत हितों को अधिक महत्व देने लगते हैं। जाति निष्ठाओं का सृजन कर लोकतन्त्र के विकास मार्ग को अवरूद्ध कर देती है। डी.आर. गाडगिल के अनुसार, 'क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधने में सिद्ध हुई।' प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास का स्पष्ट मत है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाएँ अपने मूल रूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही हैं। दूसरी तरफ अमेरीका लेखकों रूडोल्फ एंड रूडोल्ड का मत है कि भारतीय राज-व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता में ढालने के साँचे का कार्य किया है। वे लिखते हैं, 'अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में प्रतिनिधि लोकतन्त्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके, उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है।"

संक्षेप में, चाहे जाति आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक हों या न हों राजनीति में जाति का हस्तक्षेप लोकतन्त्र की धारणा के प्रतिकूल है। जातिवाद देश, समाज और राजनीति के लिए बाधक है। विविधता की सीमाएँ होती हैं। इस देश में इतनी जातियाँ, उपजातियाँ तथा सह-जातियाँ पैदा हो गयी हैं कि वे एक-दूसरे से पृथक रहने में ही अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा समझती हैं। यह पृथकतावादी दृष्टि राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यधिक घातक सिद्ध हो सकती है।

संदर्भ ग्रंथों की सूचीः

1. सामाजिक समस्याएँ - राम अहूजा
2. भारतीय समाज की संरचना - एन.सी.ई.आर.टी.
3. समकालीन भारतीय समाज - नदीम हसनैन
4. द इंडियन पॉलिटिकल सिस्टम - नार्मन डी पामर
5. भारतीय राजनीति व्यवस्था - एस.एम. सईद
6. दल-बदल की राजनीति - डॉ. सुभाष कश्यप
7. भारतीय शासन एवं राजनीति - डॉ. रूपा मंगलानी
8. पॉलिटिकल इन इंडिया - रजनी कोठारी
9. इंडियन गर्वमेंट एण्ड पोलिटिकल - जे. आर. स्वीप
10. विभिन्न समाचार पत्रों के माध्यम से प्राप्त सूचनाएँ

❄❄❄

राजनीति विज्ञान

सम्प्रदायिकता की समस्या का राजनैतिक विश्लेषण

श्रवण पासवान

शोधार्थी, (राजनीति विज्ञान) शिक्षक, मध्य विद्यालय, लोमा, हाजीपुर

भूमिका

मानव की उन्मुक्त प्रगति और विकास में जितनी बाधाएँ हैं, उनमें साम्प्रदायिकता भी एक है। यह वह विष वृक्ष है जो एक बार उग जाने पर आसानी से नष्ट नहीं होते हैं। हमारा देश भारत विभिन्न धर्मों और जातियों का निवास-स्थल रहा है। हिन्दू, मस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी सभी भाईचारे के साथ यहाँ सदियों से रहते आये हैं। सद्भाव एवं समन्वय भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय सम्भता एवं संस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का लक्ष्य मानवतावाद एवं "वसुधैव कुटुम्बकम्" रहा है। यही कारण है कि अंग्रेजों ने जब देश में पैर जमाया और देश को चूसने लगे तो हिन्दू और मुसलमान एक साथ उठ खड़े हुए और आजादी की जंग छेड़ दी। अंग्रेजों के लिए यह खतरे की घंटी थी। अतः उन्होंने साम्प्रदायिकता का बीज बोया ताकि वे जमात खड़ी की जो लगातार एक दूसरे सम्प्रदाय के खिलाफ जहर उगलती रही, परिणामस्वरूप मार-काट और दंगा प्रारम्भ हो गया और अंततः देश दो भागों में बंट गया। खेद तो इस बात का है कि जिस विष वृक्ष के प्रभाव से हमारा देश दो भागों में बंट गया, वह विष वृक्ष अभी तक नहीं सूखा है और न जाने कब तक इसकी चपेट में कितने लोगों की जाने जाएगी। कितनी माताओं के गोद सूने होंगे और कितने लोगों के भाई-बहन बिछुडेंगे?

सच तो यह है कि भारत ही नहीं अनेक देश इसकी चपेट में हैं। यह शोला कभी भारत के मुंबई में सुलगती है, तो कभी गुजरात में, कभी भागलपुर में, कभी असम, उड़ीसा और कभी दिल्ली में सुलगते रहती है। इजरायल और फिलीस्तीन भी इससे अछूता नहीं रहा है। खेद तो इस बात का है कि यह सब धर्म के नाम पर होता है जबकि सभी धर्मों की बुनियाद ह-प्रेम, भाई-चारा, सहानुभूति, दया और परोपकार। फिर चाहे राम हो या रहीम, गुरूनानक हो या ईसा सभी धर्म के मानने वाले सभी मानव दीनबंधू हैं।

साम्प्रदायिकता का अर्थ

साम्प्रदायिकता एक मनोवृत्ति है जिससे विशिष्ट वर्ग के व्यक्ति अपने सीमित हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए दूसरे व्यक्तियों के हितों और अधिकारों पर कुठाराघात करते हैं। यह एक ऐसी भावना है जो धर्म, भाषा और जाति पर आधारित होती है तथा देश के हितों की उपेक्षा करके

सम्प्रदायिक हितों की महत्ता प्रदान की जाती है। यह सामुदायिक मस्तिष्क की उपज है। यह आर्थिक पूर्वाग्रहों और धार्मिक अंधभक्ति से जुड़ी है इससे प्रेरित व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका मत और विश्वास ही सर्वोपरि है। दूसरे को तुच्छ समझते हुए उसे समाप्त करने की बात सोचने लगता है। इसके पीछे एक तरह का भय एवं आशंका होती है कि उक्त सम्प्रदाय हमारी संस्कृति और मूल्यों को नष्ट कर देगा। वर्त्तमान समय में साम्प्रदायिकता का आधार केवल धर्म ही नहीं है, बल्कि इसके साथ-साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ध्येय से जुड़े हैं। यह प्रवृत्ति स्वार्थपूर्णता के लिए धर्म का सहारा लेती है, जिससे तनाव बढ़ता है।

पं. जवाहर लाल नेहरू साम्प्रदायिक को भारत का शत्रु नम्बर एक मानते थे। अपने भाषण में उन्होंने कहा था– "साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं होना चाहिए चाहे वह मुस्लिम साम्प्रदायिकता क्यों न हो? क्योंकि वह भारतीय राष्ट्रत्व और भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध एक भारी चुनौती है।"

रेण्डम हाउस डिक्शनरी के अनुसार, "अपने धार्मिक सम्प्रदाय से भिन्न अन्य सम्प्रदाय अथवा सम्प्रदायों के प्रति उदासीनता, उपेक्षा, दयादृष्टि, घृणा, विरोध और आक्रमण की भावना साम्प्रदायिकता है, जिसका आधार वह वास्तविकता या काल्पनिक भय या आशंका है कि उक्त सम्प्रदाय हमारे अपने सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देने या हमें जान-माल की क्षति पहुंचाने के लिए कटिवद्ध हैं।"

साम्प्रदायिकता की उपर्युक्त परिभाषाओं से निम्नलिखित विशेषताएं प्रकट होती हैं–

(1) साम्प्रदायिकता का संबंध धार्मिक समूहों से है।

(2) साम्प्रदायिकता में यह भाव विद्यमान होते हैं कि अपना ही धर्म या पंथ श्रेष्ठ है, अपनी ही भाषा एवं संस्कृति श्रेष्ठ है।

(3) इसमें अन्य धर्मों, भाषाओं एवं संस्कृतियों के प्रति घृणा, तिरस्कार एवं उपेक्षा के भाव पाये जाते हैं। ये विरोधी भाव ही साम्प्रदायिक तनाव एवं संघर्ष पैदा करते हैं।

(4) साम्प्रदायिक पारस्परिक स्नेह एवं सहयोग के स्थान पर सामाजिक एवं राजनीतिक अलगाव पैदा करती है।

(5) साम्प्रदायिक का आधार लोगों में उत्पन्न वह वास्तविकता या काल्पनिक भय है कि अन्य धर्मिक समूह उनके सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देगें और जान-माल की क्षति पहुंचायेंगे।

प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि साम्प्रदायिकता के उद्भाव के कौन-कौन से कारक थे तथा उसके विकास में कौन-कौन से कारकों ने सहयोग प्रदान किया। दूसरी ओर इसके अद्यतन विध्वंसात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

साम्प्रदायिकता के विशेषताओं और कारणों पर गौर करते हुए निःसंदेह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता सामुदायिक रूप से मानव मस्तिष्क की उपज है। यह आर्थिक पूर्वाग्रहों और धार्मिक अंधभक्ति से जुड़ी हैं इससे प्रेरित व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका मत और विश्वास ही सर्वोपरि है। दूसरे को तुच्छ समझते हुए उसे समाप्त करने की बात सोचने लगता है। इसके पीछे एक तरह का भय एवं आशंका होती है कि उक्त सम्प्रदाय हमारी संस्कृति और मूल्यों को नष्ट कर देगा। वर्त्तमान समय में साम्प्रदायिकता का आधार केवल धर्म ही नहीं है बल्कि इसके साथ-साथ

सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ध्येय भी जुड़े हैं। यह प्रवृत्ति स्वार्थपूर्णता के लिए धर्म का सहारा लेती हैं, जिससे तनाव बढ़ता है।

भारत में उग्र साम्प्रदायिकता का उदय चाहे 19वीं एवं 20वीं सदी में हुआ हो किन्तु इसका इतिहास अति प्राचीन है। प्राचीन समय से ही अनेक आक्रमणकारी समूहों के रूप में भारत आते रहे। हिन्दू साम्प्रदायिकता के आलोचकों ने साम्प्रदायिकता की खोज दयानंद सरस्वती के आर्य समाज के आंदोलन से की जो इसाईयत और इस्लाम के खिलाफ रहा। हिन्दू महासभा के नेता वीर सावरकर ने हिन्दू को परिभाषित करते हुए कहा "जो भारत को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि और पूण्य-भूमि समझता है वही वास्तव में हिन्दू होता है।" ऐसी व्याख्या इस्लाम विरोधी थी क्योंकि मुसलमान भारतवर्ष को पूण्य भूमि स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकते। सन् 1925 में डॉ. केशवराय बलिराम हैडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की जिसमें हिन्दू समुदाय को सैन्य प्रशिक्षण प्रदान करना शुरू किया। संगठन ने हिन्दू राष्ट्रवाद की कल्पना प्रस्तुत करते हुए गैर हिन्दुओं को इससे विमुख कर दिया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय सन् 1920 में अहमद बरेलवी द्वारा चलाये गए जिहाद आंदोलन से हुआ। सन् 1975 में अलीगढ़ आन्दोलन ने वैमणस्यता को बढ़ाया। सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला। इसी क्रम में मौलाना मौदूदी द्वारा स्थापित जमाते इस्लामी, 1953 में अलीगढ़ और 1961 में नई दिल्ली में हुए मुस्लिम कन्वेंशनों ने साम्प्रदायिकता बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन संगठनों ने मुस्लिम समुदाय को सक्रिय करके एक दबावकारी गुट बना दिया ताकि विशेष अधिकार प्राप्त किया जा सके। अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति ने उग्र साम्प्रदायिकता को जन्म दिया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का कहना था कि यदि साम्प्रदायिकता के इतिहास का तटस्थ अध्ययन करें तो यह ज्ञात होगा कि जब-जब हिन्दू मुस्लिम एकता के करीब पहुंचे, कार्यों में सामन्जस्य हुआ, अधिकारों की मांग की तब-तब साम्प्रदायिकता का नंगा नाच हुआ। बाँटों और खाओ की नीति का पहला लाभांश मार्ले मिण्टो सुधाार के रूप में देखने को मिला। लेकिन मूलरूप सन् 1919 के सुधारों ने आधुनिक राजनीतिक साम्प्रदायिकता का उद्घाटन किया। फलत: देश दो भागों में बँट गया।

प्रस्तुत अध्ययन 'साम्प्रदायिकता की समस्या का राजनैतिक विश्लेषण' को चुनने का निम्नलिखित उद्देश्य है:-

(1) साम्प्रदायिकता के उद्भव के कारणों का पता लगाना।

(2) इसके विकास में किन-किन कारणों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा ही है, इसकी खोज करना।

(3) इसके पीछे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारकों में कौन से कारण अधिक उत्तरदायी है, इस पर प्रकाश डालना।

(4) साम्प्रदयिक हिंसा का प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास पर प्रकाश डालना।

(5) साम्प्रदायिकता के अद्यतन विध्वंसात्मक पहलुओं की खोज करना।

(6) इस शोध-पत्र द्वारा यह पता लगाया जायेगा कि सरकारी स्तर पर इसके रोकथाम के लिए क्या प्रयास किये जा रहे हैं।

(7) इस शोध-पत्र के माध्यम से यह सुझाव दिया जायेगा कि सरकारी एवं गैर सरकारी स्तर पर क्या प्रयास किये गये।

शोध की उपकल्पनाएँ

किसी भी विषय का वैज्ञानिक अध्ययन सफलतापूर्वक तब तक संभव नहीं है जब तक अध्ययन से संबंधित विषय का आरंभिक ज्ञान न हो। फलत: विषय को दिशा एवं वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए अध्ययन से संबंधित निम्नलिखित उपकल्पनाओं का निर्माण किया गया है:–

(1) साम्प्रदायिकता एक संकीर्ण मानसिकता है जिससे भारत के विकास में अवरोध उत्पन्न हो रहा है।

(2) साम्प्रदायिकता की समस्या आज उत्पन्न नहीं हुई है बल्कि प्राचीन काल में ही इसका बीज रोपण हो गया था।

(3) साम्प्रदायिकता से सांस्कृतिक एवं सामाजिक एकता नष्ट होती है।

(4) साम्प्रदायिकता को शिक्षा, सहिष्णुता एवं सामाजिक विकास से रोका जा सकता है।

(5) भारत सरकार के कानून में ढिलापन भी इसके लिए कम जिम्मेवार नहीं है।

(6) गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक साम्प्रदायिकता तनाव देखे जाते हैं।

(7) राजनीतिक व्यवस्था साम्प्रदायिकता तनाव को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

(8) साम्प्रदायिक तनाव भूमंडलीकरण के इस दौर में कम होता प्रतीत हो रहा है।

(9) हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक सम्प्रदायिक होते हैं। क्योंकि उन्हें सांस्कृतिक लोप का डर बना रहता है।

अध्ययन की समीक्षा

प्रस्तुत अध्ययन इस बात को स्पष्ट करते हैं कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित होने पर भी साम्प्रदायिक तनाव का होना प्रजातांत्रिक मूल्यों का आभाव बताता है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के व्यवहारिक विकास को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता राष्ट्र के समक्ष एक बड़ी आंतरिक चुनौती है। साम्प्रदायिकता के अस्तित्व को स्वीकार करने का अर्थ है धर्मनिरपेक्ष भारत के अस्तित्व को नकार देना और इसी अर्थ में विभाजनकारी प्रवृत्ति राष्ट्र एवं समाज के प्रति इनसे शक्तिशाली एवं वास्तविक खतरा है। यह होना चाहिए था कि औद्योगिक सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास के द्वारा हमारे समाज में धर्म निरपेक्ष शक्तियाँ अधिक सशक्त होती और धार्मिक कठमुल्लेपन की भावना में कमी आती, लेकिन हुआ इसके विपरीत स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक शक्तियाँ अत्यधिक बलवती होती गई। समकालीन भारत में साम्प्रदायिकता दो विशिष्ट कारणों से खतरनाक आयाम ग्रहण कर चुकी हैं:–

(प) साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति शहरों की दीवारों को तोड़कर सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में सौहार्दपूर्ण वातावरण में तेजी से फैल रही है।

(पप) इसमें क्रमश: जन-आंदोलन का रूप ले लिया है। जैसे रामजन्म भूमि, बाबरी मस्जिद विवाद।

विश्लेषण

आमतौर से साम्प्रदायिकता का अर्थ समाज को धार्मिक दृष्टि से देखने का एक जरिया माना जाता है। यह एक नकारात्मक नीति है जो राष्ट्र निर्माण के बाधक तत्वों में सर्वाधिक प्रबल परिलक्षित होती है। यदि पूरे दक्षिण एशिया को ध्यान में रखकर साम्प्रदायिकता को परिभाषित किया जाए तो यह "सामाजिक धार्मिक समूहों की वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वे दूसरे और अधिक सामाजिक एवं राजनीतिक ताकत को आधुनिकीकरण तथा परिवर्त्तन विरोधी अवधारणा बहुधार्मिक तथा बहुभाषायी समुदायों के सह अस्तित्व के लिए चुनौती है। इसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति साम्प्रदायिक हिंसा या दंगों के रूप में होती है।

विपिन चन्द्रा ने अपनी पुस्तक 'भारत का स्वतंत्र संघर्ष में साम्प्रदायिक विचारधारा के तीन तत्व या चरण बताए हैं, जिनमें आपस में तारतम्य होता है। इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म मानने वालों के सांसारिक हित यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे होते हैं। साम्प्रदायिक विचारधारा के उदय का यह पहला आधार है। इसका दूसरा तत्व यह विश्वास है कि भारत जेसे बहुभाषीय समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न है। साम्प्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुनायियों या समुदायों के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। इस चरण में आकर साम्प्रदायिक जोर देकर यह कहने लगता है कि दो समुदायों या समूहों के हित एक हो ही नहीं सकते, उनमें परस्पर विरोध होना स्वभाविक है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि व्यक्ति, दल य आन्दोलन में साम्प्रदायिक विचारधारा का जन्म पहले चरण से आरम्भ होता है। दूसरे चरण जिसे 'उदार साम्प्रदायिकता' कहा जाता है से होते हुए अंतिम चरण 'उग्र साम्प्रदायिकता' के रूप में परिणत हो जाता है।

अंग्रेजों के आगमन के बाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। कृषि और उद्योग के क्षेत्र में नये प्रयोगों का शुभारंभ हुआ। अर्थव्यवस्था बदलनी शुरू हुई तो समाज में बदलाव स्वत: होना स्वाभाविक है। आधार बदलेगा तो अधिरचनाएँ बदल ही जायेगी। वैसे कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में विकास अंग्रेजों के द्वारा संतोषजनक तो नहीं हुआ यदि हुआ भी तो असंतुलित विकास, जिसने सामाजिक तनावों में पर्याप्त वृद्धि अवश्य कर दी। असंतुलित विकास ने समाज में पुराने सामाजिक तनावों को उजागर किया तथा अलगाव एवं शत्रुता को उत्पन्न किया। जैसे-जैसे अंग्रेजी प्रभुत्व ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ करना शुरू किया वैसे ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच ब्रिटिश शासन के प्रति दो विभिन्न प्रकार की अवधारणाओं ने जन्म लिया। आरंभ में हिन्दुओं ने राजनीतिक सत्ता के इस हस्तनांतरण को प्राचीनता से आधुनिकता में आगमन माना। किन्तु मुसलमानों ने इस नवीन शासन को बिल्कुल भिन्न प्रकार से देखा। उन्होंने अंग्रेजों को अपने राजनीतिक सत्ता का हनन करनेवाला माना। विशेषकर मुसलमानों के कुलीन वर्ग में अपमान एवं पराजय की गहरी भावना घर कर गयी। इतना ही नहीं परंपरागत कारीगरी में आयी गिरावट, हिन्दू व्यापारियों में तथा महाजनों के हाथों धन के एकत्रीकरण में मुसलमानों की मुश्किलों को और बढ़ाया। परिणामत: शुरू में अंग्रेजों का हिन्दुओं के साथ तादात्म स्थापित रहा तो आगे चलकर मुसलमान इनके प्रिय हो गये। स्पष्ट है कि ये दोनों धर्मों का उपयोग अपने स्वार्थ की पूर्ति एवं परिस्थिति को अपने अनुरूप करने के लिए करते रहे।

जिस साम्प्रदायिकता का बीजारोपण अंग्रेजों के द्वारा औपनिवेशिक काल में किया गया, उसका प्रभाव राष्ट्रीय आंदोलन पर भी पड़ा। एक सामान्य लक्ष्य स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु यद्यपि सभी दल कटिबद्ध दिखे, फिर भी समय-समय पर उनमें मतभेद अवश्य उभरे। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन सशक्त हुआ, वैसे-वैसे यह तत्व भी अपनी जड़ मजबूत करता गया। भारत शासन अधिनियम 1909 में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व का ऐसा बीज पड़ा जिसकी परिणति राष्ट्र के विभाजन के रूप में देखने को मिलता है। जवाहरलाल नेहरू ने साम्प्रदायिकता को प्रगति तथा प्रतिक्रिया के बीच के संघर्ष के रूप में वर्णित किया है। यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों और धार्मिक सुधार के क्षेत्रों में सभी प्रकार के क्रांतिकारी शक्तियों का विरोध करती है। यह समाजवाद एवं सामाजिक समानता का भी विरोधी है। साम्प्रदायिकता के कारणों की छानबीन की जाये तो व्यक्तिगत सोच, आर्थिक विकास का मनोनुकूल न होना, अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक विभेद आदि तो है ही किन्तु सबसे प्रभावशाली कारण रहा है राजनीतिक जिसके तहत सत्ता प्राप्ति या बनाए रखने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से धर्म को आधार बनाकर हितों की पूर्ति की जाती है।

जहाँ तक व्यक्तिगत सोच की बात है यह वह स्थिति है जहाँ कोई व्यक्ति अपने धर्म में इतना अधिक तल्लीन हो जाता है कि अन्य सभी धर्मो से वह अपने धर्म को श्रेष्ठ समझने लगता है तो ऐसे व्यक्ति के अभिप्यक्त विचारों से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है। हालांकि यह स्थिति व्यवहारिक रूप में कम ही देखने को मिलती है।

कुल मिलाकर सभी राजनीतिक दल लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण कर रहे हैं। इस संदर्भ में आशीष नन्दी का कहना ठीक ही है कि धर्म के नाम पर दंगों को संगठित किया जाना भारतीय समाज में सबसे अधिक धर्मनिरपेक्ष घटना है। वे उनको इस प्रकार आयोजित करते हैं जैसे कि एक राजनैतिक रैली या एक हड़ताल को संगठित किया जाता है। यदि मुख्यमंत्री को हटाना हो, चुनाव अभियान में मदद करनी हो या फिर किसी एक गुट की सहायता करनी हो दंगों को करवाया जाता है। भारत में कुछ राजनैतिक दलों के पास आज ऐसे व्यवसायी हैं जो दंगा कराने में पूर्ण रूप से निपुण है। मेरठ का दंगा हो या भागलपुर का या फिर गुजरात का, सभी में राजनैतिक संलिप्तता पायी गयी है।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकता एक जटिल समस्या है, जो दिन प्रतिदिन गहराता ही जा रहा है। सृजन के बदले यह विध्वंसात्मक विचारधारा है। आज इस समस्या से निजात पाने की आवश्यकता तीव्रता से महसूस हो रही है, ताकि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को अंतिम रूप देकर लोकतांत्रिक मूल्यों को वास्तविक रूप में स्थापित किया जा सके।

सुझाव एवं निष्कर्षः

प्रस्तुत अध्ययन का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता की समस्या एकाएक खत्म होनेवाली नहीं है। इसके लिए कुछ सशक्त पहल करने की जरूरत है। इस संदर्भ में कुछ निम्नलिखित सुझाव उपयोगी साबित हो सकते हैं।

(1) शिक्षा के द्वारा काफी हद तक इस समस्या से मुक्ति मिल सकता है। अतः बच्चों के सिलेबस में प्रारम्भिक अवस्था से ही कविता, कहानी के द्वारा इसके अर्थ को समझाया जाय।

(2) धर्म को सही अर्थ में परिभाषित करना। धर्म नैतिकता का पोषक है। दुनिया का कोई भी धर्म यदि शास्त्रों के आलोक में बात की जाये तो स्पष्ट तौर पर हिंसा का निषेध करता है।

(3) सामाजिकरण के साधन को सशक्त किया जाना चाहिए।

(4) सरकार के तरफ ऐसी परिस्थितियों के सृजन का प्रयास होना चाहिए जिसमें एक समान नागरिक संहिता आसानी से कार्यान्वित किया जा सके।

(5) मिडिया अगर अपने दायित्वों का निर्वहन निष्पक्षतापूर्वक करे तो निश्चय ही प्रभाव सकारात्मक होगा।

यदि उपर्युक्त सुझावों पर पहल किया गया तो निश्चित रूप से इस दिशा में सकारात्मक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। वैसे किसी भी जटिल सामाजिक समस्या का पूर्ण समाधान एक लंबे प्रयास के बाद ही फलीभूत होता है। अत: विश्व शांति के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के बीच सामंजस्य एवं एकता आवश्यक है। तभी भारत एक विवेकशील राष्ट्र बन सकेगा।

संदर्भ सूची:

(1) योजना, कुरुक्षेत्र से एकत्रित तथ्य

(2) आधुनिक भारत - सुमित सरकार

(3) भारत का स्वतंत्रता संघर्ष - विपिन चंद्रा

(4) भारतीय समाज - एस.एल. दोषी एवं जैन

(5) प्रतियोगिता दर्पण - मार्च, 2006

(6) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था - एस.एम. सईद

(7) प्रतियोगिता दर्पण - सितम्बर, 2007

(8) रिलिजन ऑफ इंडिया - ए. वार्थ

(9) रिलिजन इन इंडिया - टी.एन. मदन

(10) भारतीय स्वतंत्रता संग्राम - बी.एल. ग्रोबर

❊❊❊

भूगोल

बिहार में लीची उद्योग की संभावना, समस्या एवं निदान

नूतन कुमारी

शोध छात्रा, स्नात्तकोतर भूगोल विभाग, बाबा साहेब अम्बेदकर, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

कृषि क्षेत्र में जब व्यवसायिकरण की बात उठती है तो बागवानी अथवा उद्यानिकी एक संभाव्य क्षेत्र के रूप में उभर कर सामने आता है। यह क्षेत्र सकल घरेलू उत्पाद में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के अलावा पोषण सुरक्षा, रोजगार सृजन, पारिस्थितिकी लाभो, दीर्घकालीन कृषि के अर्थपूर्ण विविधीकरण की व्यापक संभावनाओं एवं निर्यात को बढ़ाने में पूर्णरूपेण सक्षम है। बिहार की जलवायु एवं मृदा संरचना बागवानी की व्यवसायिक खेती के अनुकूल है। बिहार के कुल फसल क्षेत्र के करीब 12% क्षेत्र पर बागवानी की जाती है। परन्तु फसलों की कटाई के उपरांत इनके रख-रखाव यातायात की असुविधा एवं भंडारण की समुचित व्यवस्था के अभाव में 25 से 40% तक फसल नष्ट हो जाती है। इन नुकसानों को न्यूनतम करने की आवश्यकता है क्योंकि बिहार में उर्वर मृदा, पर्याप्त जल संसाधन, सस्ते मजदूर की उपलब्धता एंव विविध फसलों एवं इनके उत्पादों की आसान पैदावार के कारण, बागवानी एवं इस पर आधारित प्रसंस्करण उद्योग हेतु असीम संभावनाएँ है। बिहार राज्य लीची की पैदावार एवं इस पर आधारित उद्योग हेतु अच्छा अवसर प्रदान करता है।

लीची एक सदाबहार उश्ण कटिबंधीय फल है, जिसके अपने आकर्षक रंग, स्वाद, खुशबू और गुणवत्ता के कारण बिहार व भारत के अन्य राज्य में ही नहीं बल्कि विश्व में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। लीची को "कुछ भाग्यशाली लोगों हेतु एक आकर्षक फल" (Fascinating Fruit of the Fortunate few) के नाम से जाना जाता है। लीची उत्पादन में भारत का विश्व में चीन के बाद दूसरा स्थान है। दिनोंदिन लीची के फल की माँग बढ़ती जा रही है। विगत कुछ वर्षो में निर्यात की अपार संभावनाएँ विकसित हुई है। ताजे फलों के रूप मे उपयोग में लाये जाने के अलावा व्यवसायिक रूप में भी इसे प्रसंस्करण के उपरांत कई रूपों में उपयोग में लाया जाता है।

यदि इसके खाद्य मूल्य का आकलन किया जाए तो 100 ग्राम खाद्य किस्मों में निम्न पदार्थो की मात्र पाई जाती है:

1. जल (81-82%)
2. कैलोरी (64-66ग्राम)
3. प्रोटीन (0.8-09ग्रा0)
4. वसा (0.0-0.3ग्राम)
4. कार्बोहाईड्रेटस (16-6-5 ग्राम)
5. कैल्सियम (0.8 मिलीग्राम)

6. पोटाश (170 मि0 ग्राम) 8. फॉस्फोरस (42 मिलीग्राम)

9. लौह तत्व (0.4 मि0 ग्रा0) 10. विटामीन सी (42-72 मि0 ग्राम)

आर्थिक आकलन हेतु लीची के पौधों को उनकी उम्र के आधाार पर चार प्रमुख वर्गो में विभाजित किया गया है:

1. उत्पादन पूर्व चरण (01-05 वर्ष)
2. प्रारंभिक उत्पादन चरण (06-10 वर्ष)
3. अधिकतम उत्पादन चरण (11-30 वर्ष)
4. अधिक उम्र/गैर किफायती चरण (30 वर्ष से अधिक)

लीची उत्पादन की कुल अवधि 03-05 माह की होती है परन्तु फसल तुड़ाई की अवधि मात्र 15-20 दिनों की होती है। भारत में तकरीबन लीची की 30 से अधिक प्रजाति पाई जाती है परन्तु इनमें सबसे लोकप्रिय शाही लीची है। सामान्यत: लीची के एक वृक्ष से 100-150 किलो ग्राम फल की प्राप्ति होती है।

भारत में लीची पैदावार की संभावना

आज के संदर्भ में भारत एवं भारत में बिहार लीची के उत्पादन में अग्रणी है जो अपनी गुणवत्ता के दृष्टिकोण से विश्व प्रसिद्ध है। अत: इसका बाहरी देशों में काफी माँग है। अपनी उच्च गुणवत्ता के कारण इसे कुछ ही देशों से प्रतिस्पर्धा मिल रही है। भारत द्वारा उत्पादित लीची के फल का आकार थाइलैंड द्वारा उत्पादित फसल की तुलना में छोटा है।

बिहार के फल उत्पादन का क्षेत्रवार तालिका वर्ष-2006-07

[Area in Hectare, Production in Metric Tones]

Name of District	Mango		Guava		Litchi		Lemon		Banana	
	Area	Prod.	Area	Prod.	Area	Prod.	Area	Prod.	Area	Prod.
2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
Vaishali	8089	79272	1226	11401	3468	26704	566	4414	2898	119398
Bhagalpur	7224	70072	644	5860	463	3334	921	6355	1049	41121
Banka	6142	49750	301	2468	51	342	461	2858	641	20768
Munger	1072	10076	218	1875	219	1511	199	1432	283	11377
Sheikhpura	772	7102	129	1045	91	564	82	558	128	4147
Lakhisarai	481	4137	112	963	46	304	65	455	119	3903
Jamui	949	8826	198	1663	162	1037	163	1141	201	6492
Khagaria	1554	14296	348	2992	288	2218	218	1613	727	29371
Darbhanga	12812	122995	588	5116	791	5695	729	5248	1716	68983
Madhubani	5894	53635	461	3780	777	5516	633	4494	939	34367
Samastipur	10278	104836	567	5443	1068	8224	722	5920	1878	79627
Begusarai	3929	38111	474	4456	536	3966	381	2934	872	35054
Poornea	2293	21554	338	2839	1187	9021	399	2793	854	32622
Araia	563	4898	172	1411	381	2667	259	1709	392	14230
Kishanganj	688	6054	199	1671	379	2577	257	1748	596	21694
Katihar	2639	25334	416	3619	1374	9480	279	2037	638	24126
Saharsha	2418	21520	621	5341	447	3039	592	4084	1042	37928
Madhepura	1873	15733	599	4912	243	1604	483	3236	1258	48936
Supaul	1157	9487	415	3360	167	1102	273	1775	564	20191
Total	**140786**	**1306944**	**27994**	**247960**	**28758**	**211905**	**17122**	**121601**	**29013**	**1125099**

बिहार राज्य के कुल फसल उत्पादन क्षेत्र के 10 प्रतिशत भूमि पर लीची की कृषि की जाती है। जबकि राज्य के कुल फसल उत्पादन में इसका योगदान 7 प्रतिशत है। इसके उत्पादन क्षमता में अधिक वृद्धि की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त अगर संपूर्ण भारत के स्तर पर नजर डाला जाए तो देश के कुल लीची उत्पादन क्षेत्र का 50 प्रतिशत बिहार राज्य के अन्तर्गत आता है एवं देश के कुल उत्पादन का 74 प्रतिशत उत्पादन बिहार राज्य से होता है।

बिहार राज्य के अंतर्गत मुजफ्फरपुर एवं इसके आस-पास के क्षेत्र में लीची उत्पादन की अनुकूल परिस्थितियाँ मौजूद है तथा इन्हीं क्षेत्रों में लीची का सर्वाधिक उत्पादन होता है। इस कारण इस क्षेत्र ने पूरे हिन्दुस्तान में लीची जिले के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की है। मुजफ्फरपुर जिले के कुल 7467 हेक्टेयर क्षेत्र पर लीची की खेती होती है, जो कुल कृषि योग्य भूमि का 3.42% है।

मुजफ्फरपुर में लीची उत्पादन की परिस्थितियाँ–

1) जलवायु परिस्थितियाँ एवं मृदा लीची की व्यवसायिक खेती के लिए अनुकूल है।
2) मुजफ्फरपुर जिले में प्राकृतिक नदी तंत्र होने के कारण व अन्य संरचनात्मक सुविधाओं के कारण सिचाई की समुचित सुविधा उपलब्ध है।
3) उच्च गुणवत्ता वाले फल की प्रचुर मात्रा में उपलब्धता है व अपेक्षित पैदावार होती है।
4) लीची उद्योग में नई प्राविधिकी के विस्तार के लिए निम्न अनुसंधान केन्द्र व अन्य संस्थाएँ मुजफ्फरपुर व इसके निकटवर्ती जिलों में निम्न संस्थाएँ कार्यरत है जो बिहार के लीची उद्योग को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगी बनाने हेतु प्रयासरत है–
    a) लीची उद्योग से संबंधित अनुसंधान, प्रशिक्षण एवं बेहतर उत्पादन की संभावना व तरीको की समीक्षा हेतु मुजफ्फरपुर जिले के मुशहरी प्रखण्ड में राष्ट्रीय लीची अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की गई है।
    b) राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय जो समस्तीपुर जिले में स्थित है, लीची उद्योग से संबंधित है।
    c) तिरहुत कृषि विश्वविद्यालय जिले में कृषकों को लीची के उत्पादन से संबंधित प्रशिक्षण एवं अन्वेषी कृषि तरीको की जानकारी उपलब्ध करा रहा है।

लीची का प्रसंस्करण

लीची फलों का भंडारण क्षमता कम होने के कारण तुड़ाई के बाद इसकी उपलब्धता ज्यादा दिनों तक नहीं हो पाती है। ऐसी स्थिति मे इसके विभिन्न प्रसंस्कृत उत्पाद बनाना ज्यादा लाभकारी होता है। प्रसंस्कृत एवं मूल्य वर्धित उत्पादों के बनने से ताजे अवस्था की अपेक्षा परिवहन एवं विपणन में आसानी होती है, उपयोग की अवधि बढ़ जाती है साथ ही लाभ भी अधिक मिलता है।

लीची के प्रसंस्कृत पदार्थों में फलों की डिब्बाबंदी विभिन्न पेय पदार्थ जैसे कि फल का विशुद्ध रस, फल रस पेय (सेवन के लिए तैयार पेय), स्क्वाश, कार्डियल, शर्बत, नेक्टर, सिरप (चासनी) के अलावा जैम, जेली, लीची का सुखौता (नर्जलीकृत लीची) या लीची नट एवं हिमशीतित लीची (फ्रोजेन लीची) आदि मुख्य है।

लीची उद्योग की समस्या

यद्यपि लीची उद्योग का बिहार में अपार संभावनाएँ है तथापि यह कुछ समस्याओं से ग्रसित है-

a) लीची की खेती की छोटी समयावधि के कारण वर्ष की शेष अवधि में अन्य रोजगार उपलब्ध नहीं हो पाता है।

b) इस पर आधारित अन्य उद्योगों में संलग्नता न रहने के कारण कृषकों का अन्य रोजगार की ओर पलायन हो रहा है।

c) अत्यधिक जैविक दबाव, शहरीकरण, योजनाविहीन आधारभूत संरचनाओं के विस्तार से कई लीची के बगीचे नष्ट हो रहे है।

d) मृदा की उर्वरता की पहचान किए बिना रासायनिक उर्वरको का उपयोग में लाना, जो अंत: मृदा की उर्वरता नष्ट कर रहे है जिससे उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

e) अच्छे रोपण केन्द्र (नर्सरी) का अभाव है।

f) शिक्षा के अभाव में कृषक नई, व अत्याधुनिक तकनीक को अपनाने में डरते है।

g) उत्पाद के करीब 90 प्रतिशत फसल का विपणन उपज-पूर्व ठेकेदारों एवं दलालों के हाथों में रहता है जो कृषकों को इनके उत्पादन के अनुसार लाभप्रद मूल्य प्रदान नहीं करते जिससे इस उद्योग में संलग्न कृषक का उत्साहवर्धन नहीं होता।

h) लीची के उचित भंडारण का अभाव है।

लीची उद्योग की समस्याओं समाधान

यद्यपि लीची के कुल क्षेत्र, उत्पादन, उत्पादकता एवं गुणवता के आधार पर भारत विश्व में सर्वश्रेष्ठ है तथापि लीची के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत की मौजूदगी लगभग प्रभाव शून्य है। आवश्यकता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारतीय लीची की माँग एवं तद्नुसार इस उद्योग की अपार संभावनाओं को देखते हुए निम्नलिखित योजनाबद्ध दृष्टिकोण अपनाया जाए–

a) निर्यात उत्पादन तकनीक को ध्यान में रखते हुए लीची की खेती को अधिक बढ़ावा दिया जाए। साथ ही अधिक उम्र चरण वाले लीची बगानों की संख्या मे कमी लाने हेतु नये पौधों के रोपन को प्राथमिकता दी जाए।

b) लीची उत्पादक सहकारी बाजार समिति के बनाने एवं बढ़ाने की ओर ध्यान दिया जाए ताकि उत्पादकों के हितो की रक्षा के साथ-साथ उनके उत्पाद का सही कीमत मिल सके।

c) उपलब्ध नदी एवं सिंचाई व्यवस्था को योजनाबद्ध दोहण हेतु दुरूस्त किया जाए।

d) उर्वरकों, कीटनाशकों के उपयोग द्वारा मृदा के पोषण का प्रबंधन किया जाए।

e) लीची बागवानी में संलग्न कृषकों को पैदावार से पूर्व अवधि में लाभ देने हेतु अंत:फसल को अपनाने हेतु अभिप्रेरित किया जाए। साथ ही लीची उद्योग पर आधारित मधुपालन को बढ़ावा दिया जाए ताकि कृषक इस उद्योग का अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके एवं समुचित उत्साहवर्धक प्राप्त हो सके।

f) बगीचों के रख-रखाव हेतु नई तकनीको के हस्तांतरण, पोषण की आवश्यकता, जल प्रबंधन एवं समन्वित कीट नियंत्रण के संबंध में कृषकों को पर्याप्त जानकारी मुहैया कराई जाए।

g) फसलों के प्रबंधन, निर्यात व विपणन हेतु आधारभूत संरचनाओं की व्यवस्था की जाए।

h) उत्पादकता में बढ़ावा देने के लिए छतरी प्रबंधन को अपनाने के लिए प्रेरित किया जाए, जिससे कि फसल का नुकसान कम होगा।

बिहार सरकार द्वारा 10वीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत लीची हेतु समयबद्ध परियोजना की शुरूआत मुजफ्फरपुर जिले से की गई है जिसमें उत्पादन एव उत्पादकता, उत्पादन उपरांत आधारभूत संरचनाओं को सुदृढ़ करने, प्रसंस्करण सुविधाओं में बल दिया गया है। योजना आयोग द्वारा भी मुजफ्फरपुर जिले में लीची की खेती एवं इस पर आधारित उद्योग को बढ़ावा देने एवं इसके निर्यात हेतु एक विस्तृत योजना रिपोर्ट तैयार करने की जिम्मेदारी नबार्ड को सौंपी है। आशा है कि लीची उद्योग जो चुनौतीपूर्ण दौर व कठिन राहों से गुजर रहा है उपरोक्त कार्ययोजनाओं के सफल क्रियान्वयन, विभिन्न संस्थाओं के सहयोग के फलस्वरूप अपनी गति को दुरूस्त बनाने एवं अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में अपनी सफल पहचान बनाये रखने में सक्षम होगा।

स्त्रोतः

- IEDB, Patna
- Industrial Area Development Authority, Bihar.
- Department of Industies, Govt. of Bihar.
- IL & FS Bihar.

❊❊❊

भूगोल

कृषि आधारित उद्योग की संभावनाएँ – बिहार के संदर्भ में

प्रमोद कुमार

शोध छात्र, स्नात्तकोत्तर भूगोल विभाग, बाबा साहेब अम्बेदकर, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बिहार प्राचीन काल से ही वस्तु निर्माण का प्रमुख केन्द्र रहा है। बिहार के मैदानी भागों में कलात्मक शिल्प एवं कृषि पर आधारित उद्योग मौर्यकाल से विकसित हुए है। इन उद्योगों को मध्य युग में भी प्रोत्साहन मिला। परन्तु 1857 के बाद यूरोपीय निर्मित वस्तुओं की कड़ी प्रतिस्पर्धा के कारण इसका महत्व घटने लगा। 1904 में उत्तर बिहार में चीनी उद्योग की स्थापना हुई उसके पश्चात बिहार में अन्य उद्योग का भी तेजी से विकास हुआ।

बिहार एक कृषि प्रधान क्षेत्र है। यहाँ कृषि के अंतर्गत धान, गेहूँ, मक्का, ईख, दलहन, तेलहन, तम्बाकू तथा उद्यान फसल जैसे फल, फूल, साग-सब्जी, मसाले कन्दमूल तथा औषधीय एवं सुगंधित पौधो वृहत् मात्रा में उपजाये जाते हैं। इसकी वैज्ञानिक खेती करने तथा इन पर आधारित उद्योग धंधो की शुरूआत होने से लाखों बेरोजगार लोगों को रोजगार मिल सकता है, जिससे बिहार के युवा श्रमिक अपने ही राज्य में जीविकोपार्जन अच्छी प्रकार कर सकते है। वैसे तो कृषि पर आधारित अनेक उद्योग धंधो अधिक लाभप्रद वर्तमान समय में सिद्ध हो रहे है। अब समय आ गया है कि राज्य सरकार तथा बिहार के छोटे-छोटे उद्यमी लोग मिलकर बागवानी फसलों पर आधारित उद्योग धंधों की शुरूआत राज्य में उन क्षेत्रों में करे जहाँ उस उद्योग के लिए कच्चे माल की आपूर्ति आसानी से सस्ते दर पर हो सकती है।

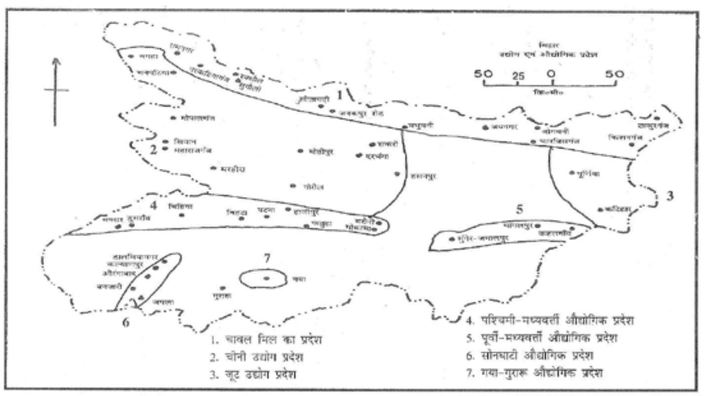

बिहार के प्रमुख अद्यौगिक क्षेत्र

प्रमुख कृषि आधारित उद्योग

चीनी उद्योग: चीनी उद्योग बिहार का सबसे पुराना और कृषि पर आधारित उद्योगों में सबसे महत्वपूर्ण है। आधुनिक मिलों की स्थापना के पूर्व यह खांडसारी उद्योग के रूप में विकसित था। आधुनिक चीनी उद्योग का वास्तविक विकास 1903 ई0 में प्रारंभ हुआ जब प्रथम चीनी मिल की स्थापना महरौरा में हुआ।

बिहार में चीनी की अधिकतर मिलें उत्तरी बिहार विशेषकर कोसी नदी के पश्चिम में अवस्थित है। यहाँ मधुबनी, रोहतास, गया, नवादा, पटना, आदि जिलों में गन्ना उद्योग अवस्थित है। इन क्षेत्रें में चीनी उद्योग के केंन्द्रीकरण का मुख्य कारण क्षेत्र की उपजाऊ मिट्टी में चूने का अंश अधिक होने से है जो गन्ना की खेती के लिए अनुकूल है। यहाँ वर्षा और तापमान भी अनुकूल है तथा गंडक परियोजना से सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है। सघन आबादी के कारण सस्ते श्रमिक की उपलब्ध हैं आवागमन की सुविधा के कारण गन्ना को चीनी मिलों तक पहुँचाने में सुविधा होती है। चीनी उद्योग के बढ़ावा से यहाँ बेरोजगारी की समस्या को कम किया जा सकता है राज्य की आय में बढ़ोतरी हो सकती है। इसके कारण चीनी उद्योग से अन्य पूरक उद्योगों का विकास हो सकता है। जैसे- गन्नों के छोवा से शराब, शोरा और स्प्रिट बनाई जा सकती है।

फल पर आधारित उद्योग: बिहार में आम, लीची, अमरूद, कटहल, नींबू, बेल, अनानास जैसे फलों की पैदावार प्रचुर मात्रा में होती है। इसके पकने के समय बाजारों में अधिक फल आ जाने से इनका भाव गिर जाता है तथा उत्पादकों को अच्छी राशि उपलब्ध नही होती। अत: फलों तथा सब्जियों का परिक्षण तथा प्रसंस्करण करने का उद्योग यथा जैम, आधार, अमरूद, चिप्स इत्यादि लाभप्रद सिद्ध हो सकता है तथा इससे अच्छी आमदनी प्राप्त की जा सकती है।

मसालों पर आधारित लघु उद्योग: बिहार राज्य में मसाला फसल जैसे- मिर्च, धनिया, हल्दी, सौंफ, अजमाइन, मेथी आदि की खेती बड़े पैमाने पर होती है। चूँकि आजकल मसाला चूर्ण का प्रचलन बढ़ रहा है तथा समय के प्रभाव में प्रत्येक गृहिणी मसाला चूर्ण का प्रयोग दाल, सब्जी, तथा अन्य प्रकार के भोजन सामाग्री में करती है। अत: इन पर आधारित मिर्च, धनिया, हल्दी आदि का चूर्ण बनाने का उद्योग घरेलु तथा बड़े पैमाने पर लगाया जा सकता है इसमें लाभांश की मात्रा अन्य उद्योगों की अपेक्षा अधिक होगी। विभिन्न मसालों को अलग से मिश्रित कर करी पाउडर बनाने का उद्योग मुजफ्फरपुर तथा दरभंगा प्रमंडल में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। विभिन्न मसालों के अर्क की असानी से इन फसल के क्षेत्रों में लगाा जा सकता है। आजकल प्रसाधन सामग्रियों में महिलाओं का झुकाव अधिक होने के कारण इस उद्योग का भविष्य अधिक उज्जवल है। देशी गुलाब की पंखुड़ियों को चीनी के साथ मिलाकर उच्च कोटि का गुलकन्द बनाकर बेचा जा सकता है जिससे लागत के वनस्पति लाभ चौगुना हो सकता है। इसे बेरोजगार ग्रामीण युवक तथा युवतियों को रोजगार के अवसर अधिक मिल सकता है और बेरोजगारी कम हो सकती है।

खाद्यान्न पर आधारित उद्योग: क) चावल, दाल और आटा उद्योग - धान से चावल बनाने, दाल छाँटने तथा गेहूँ से आटा तैयार करने का कार्य घरेलू उद्योग में लगभग हर जगह होता है। किन्तु,

शहरी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक बड़े और छोटे कारखाने लाये गए हैं। उत्तरी बिहार में बिहार-नेपाल सीमावर्ती क्षेत्रों में चावल की मिलों का केन्द्रीकरण हुआ है। इस क्षेत्र में धान का प्रचुर मात्रा में उत्पादन होते है। चावल की मुख्य मिलों रक्सौल अदापुर, घोड़ासाहन, नरकटियागंज, बैरगनिया, सीतामढ़ी, जनकपुर रोड, जयनगर, झंझारपुर, जोगबनी, फारबिसगंज, निर्मली, किशनगंज इत्यादि में हैं। इस क्षेत्र में दक्षिणी बिहार में विशेषकर टाल-क्षेत्र में दलहन का उत्पादन अधिक होता है। अतः दाल बनाने का उद्योग दक्षिणी बिहार अधिक विकसित है। पटना, फतुहा, बिहार शरीफ, जहानाबाद, आरा, सासाराम, मुँगेर आदि मुख्य दाल-उत्पादक केन्द्र है। गेहूँ से आटा, सूजी और मैदा की मिले लघु और घरेलु उद्योगों के रूप में कार्य कर रही है। वृहत् आकर की मिले नासिरगंज, बाटागंज (दानापुर), पटना सिटी, दिघी, गया, समस्तीपुर, दरभंगा, छपरा और बिहार शरीफ में है।

ख) *मक्का पर आधारित उद्योग:* मकई/मक्का अनाज के साथ उद्योग में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। किसी भी अनाज की तुलना में यह मनुष्य के खाद्यान्न के अलावा पशु आहार और सैकड़ों प्रकार के उद्योग में काम आता है। मकई का उपयोग मुख्य रूप से स्टार्च उद्योग में अपने देश में हो रहा है। खाने का तेल, कार्न "लेक्स, बिस्कुट, केक, सुज्जी, पॉप कॉर्न आदि मक्के से बड़े पैमाने पर बनाये जा सकते है। मक्का के दाने शराब बनाने के उद्योग में काम आता है। मक्का द्वारा जीवन रक्षा दवा डेक्सट्रोज का उत्पादन किया जाता है। साथ ही एन्टीबायोटिक दवाओं जैसे पेनिसिलिन के उत्पादन में इसका उपयोग किया जाता है। इसके आधार पर दवा उद्योग केन्द्र स्थाना से लाखो लोगों को रोजगार मिल सकता है। इसकी मांग विदेशों में तेजी से बढ़ती जा रही है। अतः हल्दी, अदरक, धानिया सौंफ, अजवाइन, मेथी इतयादि बिहार में उपजने वाले मसालों का अर्क उद्योग सफलतापूर्वक लगाया जा सकता हैं इसका भविष्य अत्यंत उज्जवल है।

ग) *औद्योगीय तथा सुगंधित पौधों पर आधारित उद्योग:* विभिन्न प्रकार के औषधीय तथा सुगंधित पौधों के तेल, सेंट, रस, पाउडर आदि की मांग बहुत ही प्रबल हो गई है। इनकी खेती बिहार राज्य में शुरू हो चुकी है। परन्तु, किसानों के सामने तेल निकालने की समस्या इनकी खेती में बाधा बनी हुई है। यदि जगह-जगह पर तेल निकालने वाले संयंत्रो को रोजगार के रूप में लगाया जाए तो काफी आमदनी प्राप्त हो सकती है। सुगंधित पौधों में पुदीना, खस, लेमनग्रास, गुलाब, रजनीगंधा, बेला, चमेली आदि मुख्य है। जबकि औषधीय पौधों में सर्पगंधा, रत्नज्योति, सतावर, घृतकुमारी आदि अनेक फसल है जिनकी खेती करके अधिक आमदनी प्राप्त की जा सकती है।

घ) *पुष्प पर आधारित उद्योग: (कटफ्लावर का उद्योग):* आजकल के भौतिक युग में तथा शहरीकरण के बहुलता होने के कारण लोगों का संपर्क पेड़-पौधों से समाप्त होता जा रहा है, परन्तु इसका सूक्ष्म रूप उभरकर जो सामने पाया है वह फुलों द्वारा घर की सजावट है। बहुमंजिली इमारतों में रहने वाले लोगों को कटे फुल का शौक अधिक बढ़ गया है जिससे इस उद्योग की संभावना अधिक हो गया हैं। कटे फूलों में गुलाब, रजनीगंधा, ग्लेडियोलस, गुलदावदी, डहलिया आदि के एक कटे फूल का मूल्य 10रू० से 25रू० तक प्राप्त हो जाते है। यदि इसकी अच्छी प्रकार पैकिंग आदि की व्यवस्था कर दी जाए तो मूल्य और भी बढ़ जाता है। इन दिनों भारत में करोड़ो रूपये मूल्य के कटे फूल विदेशों में भेजे जाते है। विश्व में सबसे अधिक हालैन्ड कटे फूलों का निर्यात करता है। माजा तथा बुके उद्योग विशेषकर फूलों पर आधारित घरेलू उद्योग है जिसमें बिहार की महिलाएँ, बच्चे

तथा बुजुर्ग भी भाग लेते है। उसमें थेड़ा समय देकर फूलों से विभिन्न किस्म के माला तथा बुके बनाकर अधिक लाभांश किया जा सकता है यह छोटे किस्म का उद्योग बड़े-बड़े शहरों में अधिक लाभप्रद है। यहोन्दा जेसे फूलों की कीमत 20रू॰ से 30रू॰ प्रति किलों मिल जाती है। केवड़ा, गुलाब, वैजन्ती, मोगरा, वेला, चम्पा, रजनीगंधा आदि के सुगंधित तेल तथा इत्र उद्योग इसके अलावा सौन्दर्य प्रसाधन उद्योग में भी मक्का आधार के रूप में भी इसका उपयोग होता है। इस प्रकार मक्के पर आधारित उद्योग से लोगों को अधिक मुनाफा प्राप्त हो सकता है।

जुट पर आधारित उद्योग: बिहार के उत्तरी-पूर्वी भागों में जूट उद्योग के विकास के लिए आवश्यक दशाएँ उपलब्ध है। इस क्षेत्र में अधिक वर्षा, उच्च आर्द्रता, अधिक तापमान उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी और बाढ़ग्रस्त खादर का मैदान जूट की खेती लिए आदर्श भौगोलिक दशाएँ उत्पन्न करते हैं। अत: पूर्णिया, कटिहार, किशनगंज, अररिया आदि जिले जूट-उत्पादन के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। वैसे ये जूट उद्योग में लाखों लोगों को रोजगार प्राप्त है परन्तु राज्य में जूट उत्पादन तथा मधुबनी जिले में निधी क्षेत्र में जूट मिल की स्थापना हो तथा बन्द पड़े जूट मिल को सक्रिय बनाया जाये।

तम्बाकू उद्योग: तम्बाकू उद्योग के अंतर्गत सिगरेट एवं बीड़ी उद्योग आते है। सिगरेट तथा बीड़ी के तम्बाकू पैदा करने में बिहार देश का एक महत्वपूर्ण राज्य है। यहाँ बेगुसराय तथा समस्तीपुर जिले में उच्चकोटि का वर्जिनया तम्बाकू उत्पन्न होता है। इस पर आधारित सिगरेट और बीड़ी बनाने के अनेकों कारखाने बिहार में स्थित है। इनमें मुंगेर शहर के दिलावरपुर मोहल्ला में स्थित इम्पीरियल टुबैको कंपनी का सिगरेट का कारखाना सर्वप्रमुख है। बीड़ी बनाने के लिए केन्दु के पत्ते कैमूर की पहाड़ी और अन्य पठारी भाग में मिल जाते हैं। इन पर आधारित उद्योग लगभग हर शहर और बाजार में विकसित हो सकते है। इस प्रकार यह लघु उद्योग के रूप में विकसित होकर लोगों को रोजगार प्रदान कर सकता है तथा राज्य की आय में बढोत्तरी कर सकता है।

बिहार में टिस्सू कल्चर, वगी कल्चर तथा बायोपेस्टीसाइट, बायोफर्टिलाइजर आदि बड़े पैमाने पर उद्योग के रूप में बनाने की भी आवश्यकता है। जिससे कि अधिक-से-अधिक किसानों को समय पर ये मिल सके। जिससे कि कृषि को टिकाऊ बनाया जा सके एवं वायुमंडल को दूषित होने से बचाया जा सके।

अत: स्पष्ट है कि कृषि को बिहार में व्यवसायोन्मुख एवं उद्योगोन्मुखी बनाने की संभावनाएँ अधिक है तथा इस दिशा में बड़े पैमाने पर उद्योग की स्थापना की गुंजाइश है।

स्त्रोत:

- IEDB. Patna
- Modern Geography of Bihar- Dr. M. Ataullah
- Yojana
- Department of Industries Government of Bihar
- I L M.F S., Patna
- Bharat ka Bhoogol- M.Prasad

❄❄❄

नवादा जिला में पान की खेती: एक भौगोलिक अध्ययन

डॉ॰ संजय कुमार

सहायक प्राध्यापक सह विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग, राजेन्द्र महाविद्यालय, छपरा

परिचय

पान एक बहुवर्षीय, सदाबहार, लतरदार पौधा है। यह पौधा मलेशिया मूल का है। इसका वानस्पतिक नाम 'पाइपर बीटेल' है। पान के संबंध में सबसे पहला विवरण हिरोडोटस ने 340 ई॰ पू॰ में दिया था। पान को 'तांबुल' एवं 'नागरबेल' भी कहते हैं। भारतीय संस्कृति में पान का धार्मिक, मांगलिक एवं औषधीय महत्व के साथ व्यावसायिक महत्व भी है। हमारी संस्कृति में कोई भी धार्मिक कार्य पान की अनुपस्थिति में अपूर्ण मानी जाती है। काफी भारतीयों के दैनिक जीवन का अपरिहार्य अंग है पान चबाना। पान के विषय में मान्यता है कि इसके चबाने से तन एवं मन दोनों की शुद्धि होती है। पान प्राय: चूना, कत्था, सुपारी तथा कई तरह के सुगंधित मसाले के साथ खाया जाता है। प्रारंभ में धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त पान बाद में औषधीय उपयोग में आते-आते कब चबाने के रूप में स्वीकृत हो गया, इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह एक बड़ी आबादी के आदतों में शुमार, उसके शौकिनों का पान के प्रति आकर्षण ही पान उत्पादकों को अधिक उत्पादन के लिए प्रकारान्तर में प्रेरणा प्रदान करता है।

देश-विदेश के कई हिस्सों में पान की खेती की जाती है। भारत के विभिन्न हिस्सों में उपजाये जाने वाले पान आकार, बनावट, पत्ती के रंग, स्वाद एवं खुशबू के आधार पर विविधता भरी होती है। अनुमानत: भारत के लगभग 26,000 हेक्टेयर भूमि पर पान की खेती होती है। इसकी खेती करने वाले मुख्य राज्य हैं– कर्नाटक, प॰ बंगाल, तामिलनाडु, महाराष्ट्र, बिहार, उत्तर प्रदेश, असम एवं उड़ीसा। इन प्रदेशों में उपजायी जाने वाली पान की प्रमुख किस्म हैं– कलकत्तीया, बंगला (प॰ बंगाल), महोबा, मगही, सॉची, करकी, देशी (उ॰ भारत), कर्पूरी (उड़ीसा), पण्ढ़ेरी, विलची (महाराष्ट्र), कंबाला, कारीवाली, अम्बाड़ी, नागावल्ली, कैमीगालू (कर्नाटक) आदि।

बिहार के कई जिलों में पान की खेती होती है। उत्तर बिहार में उपजाये जाने वाले पान को देसी एवं बंगला कहते हैं। इस प्रकार के पान के मुख्य उत्पादक जिले हैं– वैशाली, सारण, मोतीहारी, मुजफ्फरपुर, समस्तीपुर, दरभंगा, मधुबनी, बेगूसराय, खगड़िया, मुंगेर, भागलपुर, कटिहार, किशनगंज, अररिया आदि। दक्षिण बिहार में उपजाये जाने वाले पान को 'मगही' कहते हैं। पान में सर्वश्रेष्ठता का

दर्जा मगही पान को ही प्राप्त है। मगही पान द० बिहार में ऐतिहासिक मगध क्षेत्र के नवादा, नालंदा, गया और औरंगाबाद जिले में उपजाया जाता है। स्थानीय लोकभाषा 'मगही' के नाम पर छोटी पत्तियों वाले पान के इस किस्म का नामाकरण हुआ है। अतीत में मगध साम्राज्य की सामरिक श्रेष्ठता का परचम लहराने वाला मगध क्षेत्र आज पान की श्रेष्ठ गुणवत्ता का पर्याय बना हुआ है।

पान के शौकिनों की नजर में सिरमौर 'मगही पान' अपने कुरमुरेपन तथा गजब के स्वाद की कशिश के कारण लोकप्रिय है। देश-विदेश में स्वाद, सुगंध एवं उम्दा जायके के लिए मशहूर खासकर नवादा जिले के मगही पान की माँग न केवल देश की प्रसिद्ध पान मण्डियों बनारस और दिल्ली तक है बल्कि सरहद पार पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल, द०-पूर्वी एशियाई देश, सूरीनाम, मॉरीशस, फीजी और अरब देशों में भी है।

अध्ययन क्षेत्र

प्रस्तुत शोध-पत्र का अध्ययन क्षेत्र बिहार के मध्य दक्षिण में अवस्थित नवादा जिला का है। इसका कुल भोगोलिक विस्तार 2494 वर्ग कि०मी० तथा भौगोलिक स्थिति 24°31' उत्तरी अक्षांश से 25° 6' उत्तरी अक्षांश एवं 85° 17' पूर्वी देशांतर से 86° 3' पूर्वी देशांतर तक विस्तार है। जिले के 45 प्रतिशत भाग पर खेती की जाती है। 25 प्रतिशत भाग पहाड़ी एवं जंगली है। शेष 30 प्रतिशत क्षेत्र गैर-कृषि कार्य में लगाई गई भूमि एवं कृषि योग्य बंजर भूमिवाला है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र में नवादा जिला में पान की खेती के भौगोलिक आधार, कृषि की तरीके, उत्पादन प्रक्रिया में आनेवाले किसानों के सामने मौलिक समस्याओं का अध्ययन किया गया है। सर्वोत्कृष्ठ पान उत्पादक इस क्षेत्र में सरकार किन सुविधाओं को बहालकर किसानों को मदद कर सकती है एवं किसान किन व्यवसायिक तरीकों को अपनाकर पान उत्पादन को अपने आर्थिक समृद्धि का माध्यम बना सकते हैं। इस प्रकार किसानों की समस्या, उनका समाधान ढूँढना एवं आर्थिक संभावनाओं की तलाश करना इस शोधपत्र का मूल उद्देश्य है।

अध्ययन विधि

प्रस्तुत आलेख में निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए विभिन्न तथ्यों, आकड़ों तथा सूचनाओं को आधार बनाया गया है। इन तथ्यों का आधार, प्रकाशित पुस्तकें, पत्रिकायें, अखबार, राजकीय सांख्यिकी श्रोत को बनाया गया है। आलेख से जुड़ी सामग्री को जुटाने में सबसे बड़ा सहयोग एक दर्जन पान किसानों एवं व्यवसायियों के साथ साक्षात्कार के बाद प्राप्त अनुभव का प्रयोग किया गया है। उत्पादन वृद्धि दिखाने हेतु सांख्यिकीय विधि का प्रयोग किया गया है।

जलवायु

पान की खेती उष्ण जलवायु में छायादार तथा नम स्थान में होती है। नवादा में इसकी खेती 2.5 मी० उँचे बाँस, झाड़-फूस की बनी 'बरेजा' मे की जाती है।

मिट्टी–पान की खेती उन सभी प्रकार की मिट्टी में की जा सकती है जिसमें पानी निकास का अच्छा प्रबंध हो। परन्तु दोमट, केवाल, काली मिट्टी जो जैविक पदार्थो से परिपूर्ण हो उपयुक्त होती है। नवादा जिले में काली एवं उजली केवाल मिट्टी में पान की खेती की जाती है।

कृषि पद्यति–पान की खेती गहरे समर्पण भाव, पवित्र मन एवं गहन कृषि पद्धति द्वारा की जाती है। एक छोटे से खेत में पूरा परिवार प्रत्येक दिन क्रियाशील रहता है। पान के खेत का निर्माण एवं कृषि पद्धति अत्यन्त रोचक एवं श्रमनिष्ठ सर्मपण का अद्भूत मिसाल है।

पान की कृषि हेतु भूमि की तैयारी फरवरी-मार्च माह से शुरू होती है। खेत से सबसे पहले घास साफ किया जाता है फिर खेत की सिंचाई की जाती है तत्पश्चात् खेत में बाँस गाड़ा जाता है। यह बाँस 6 फीट ऊँचाई तक एंव 4 फीट के अन्तराल पर गाड़ी जाती हैं। यह बाँस छोटे आकार एवं मजबूत नस्ल की होती है जो सिलीगुड़ी (असम), बेतिया एवं राजगीर के जंगलों से मंगाया जाता है। इसके ऊपरी हिस्से में बाँस को चीरकर पतले भाग जिसे 'बाती' कहते हैं चोप से बाँधकर ऊपर एक आधार बनाया जाता है। चोप असम एवं डाल्टेनगंज के जंगलों में 'महनार' के वृक्ष से प्राप्त किया जाता है। यह चोप सड़ता नहीं है। इसके ऊपर पुआल की एक पतली परत बाँधी जाती है। यह पुआलों का ढाँचा इस प्रकार बिछाया जाता है, जिससे पौधों को छाया भी मिले और थोड़ी धूप भी छनकर आये। फिर खेत के चारों ओर 7 फीट की ऊँचाई तक बाँस-बल्ली, अरहर के डण्ढल एवं पुआल से चारों ओर से आवृत एक घेरा का निर्माण होता है। यह आकृति झाड़-फूस, पुआल से निर्मित एक साफ-सुथरे बड़े घर सदृश्य होता है। एक खेत में एक या एक से अधिक साझेदार होते हैं। जितने साझेदार होते हैं आने जाने के लिए उतने ही दरवाजे होते हैं। पान की खेती प्रायः सहकारी तरीके से की जाती है। यह खेती किसानों के बीच पारस्परिक विश्वास पर होती है। पान की खेती में सहकारी प्रणाली पर एक कहावत प्रचलित है-

जिस खेत न हो आरी (मेढ़)
उस खेत का नाम है सहकारी।

बाहरी एवं ऊपरी ढाँचा जिसे 'बरेजा' कहते हैं कि निर्माण के पश्चात पुनः खेत को साफ कर सिंचाई की जाती है। इसके उपरान्त कुदाल से मिट्टी को भुरभुरी कर 30 सी॰एम॰ ऊँची, 50 सी॰एम॰ चौड़ी क्यारी बना ली जाती है जिसे 'पाती' या 'सेपरा' कहते हैं, दो 'सेपरा' के बीच 6 ईच की दूरी होती है और यह अन्तराल नाली के रूप में तथा किसान के आने जाने के लिए प्रयुक्त होता है।

इन तैयारियों के पश्चात पान का पौधा लगाने का कार्य प्रारंभ होता है। पौधा रोपने का कार्य मार्च-मई महीने तक होता है। पुराने पान के पौधों की पूरी लंबाई के लत्त को एक-एक फीट के आकार का काटा जाता है इसे 'बेल' कहते हैं। इसमें तीन बेल को एक साथ रोपा जाता है और बगल में प्रत्येक 6" के अन्तराल पौधों का क्रम लगाया जाता है। पौधा रोपने के पश्चात ऊपर से हल्का पुआल डाला जाता है, जिसे 'ओहार' कहते हैं यह धूप की उष्णता एवं सिचाई के दौरान पानी के धार की आघात को मंद करता है। साथ ही सिंचाई के बाद शीतलता को ज्यादा समय तक बरकरार रखता है। प्रारंभ में सिंचाई एक ऐसे घड़े से किया जाता है, जिसका मुँह संकीर्ण होता है इसे "लौटी" कहते हैं, किसान इसे कंधों पर रख कर आगे बढ़ता 'लौटी' का मुँह किसान की पीठ की ओर होता

है जिससे पानी की हल्की धार पान के पौधों पर गिरती जाती है। पौधा रोपने के शुरूआती दिनों में प्रतिदिन 6-10 बार सिंचाई की जाती है। पान के पौधों को कभी सूखा नहीं रहना चाहिए साथ ही जड़ में भी पानी इकट्ठा नहीं होना चाहिए। जल की आवश्यकता सूर्य की रोशनी की तीव्रता की समानुपाती होती है। पान के संबंध में क्षेत्र में कहावत प्रचलित है–

'धान और पान नित्य स्नान'

पौधा रोपने के बीस दिन बाद पौधों के उपर रखा पुआल 'ओहार' हटा लिया जाता है। पौधे जैसे-जैसे बढ़ते हैं सिंचाई क्रमशः घटती जाती है, सिंचाई के तरीके भी बदल जाते हैं। बरसात का पानी गिरने के पश्चात प्रायः सिंचाई बन्द हो जाती है। पौधा रोपने के 30 दिनों के पश्चात पौधों की लत्त को चढ़ाने के लिए एरकी (सरकी) को गाड़ा जाता है। यह अत्यन्त हल्का एवं पतला होता है। इसका आयात हाजीपुर से किया जाता है। एरकी गाड़ने के पश्चात इसे ऊपर छज्जे में बाँध दिया जाता है। पौधों को एरकी में बाँस से बाँधा जाता है और बाँधने का यह क्रम हर 15वें दिन दुहराया जाता है। ताकि पान का लत्त बिखरे नहीं। पौधा रोपने के 45वें दिन सरसों या राई की खल्ली के चूर्ण को खाद के रूप में पौधों के जड़ों के पास डाला जाता है यह क्रम भी हर 15वें दिन दुहराया जाता है। प्रत्येक 8वें दिन कीटनाशक दवाओं का छिड़काव भी होता है। आगामी दिनों में पौधों की लंबाई को नियंत्रित करने के लिए 'कमौनी' एवं 'गौलीऔनी' की क्रिया की जाती है। पुनः बरसात समाप्त होने पर प्रत्येक हफ्ते पौधों को पटाया जाता है। सिंचाई के दौरान सिंचाई इतनी हल्की होती है कि पौधों के पास वाली मिट्टी में विखराव न हो और पानी पौधों के पास ही सूख जाये।

पान अत्यन्त संवेदनशील पौधा है इसका प्रत्येक दिन अत्यन्त सतर्कता एवं पवित्र मन से निगरानी करने की आवश्यकता होती है। किसी पत्ते में कोई रोग लग जाये तो उसका तुरन्त निदान किया जाता है। इस फसल में थोड़ी सी असावधानी उसके किये सारे परिश्रम पर पानी फेर देता है। प्रत्येक एक वर्ष बाद खेत परिवर्तित कर लिया जाता है। एक वर्ष के अन्तराल के बाद पुनः उस खेत पर पान की खेती की जाती है।

पत्ती तोड़ना, वर्गीकरण एवं भण्डारण

पान की पत्तियाँ सालों भर तोड़ी जाती है। तोड़ने का काम श्रमिक द्वारा हाथ से किया जाता है। पत्तियों को डण्ठल सहित तोड़कर साफ करने के पश्चात उसे रंग, गठन, आकार, उसकी गुणवत्ता के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। पुनः इसे 200-200 पान के पत्ते को एक साथ बाँधा जाता है। 200 पान के पत्ते को एक 'ढोली' कहा जाता है। पान का व्यापार ढोली के आधार पर ही होता है। पान तोड़े जाने के बाद बिक्री के लिए मण्डियों में पहुँचा दिया जाता है। वैसे तो पान रोपे जाने के 30 दिन बाद ही बिकने लगती है। लेकिन पान की सबसे अच्छी कीमत फरवरी-अप्रैल तक मिलती है। नवम्बर-दिसम्बर में टूटे पत्ते एक-दो दिन में ही खराब हो जाते हैं जबकि फरवरी-मार्च में टूटे पत्ते लंबे समय तक सुरक्षित रहते हैं।

पान के पत्ते को तोड़कर उसे संरक्षित भी किया जाता है। पान का पत्ता, अपने पौधों से अलग होकर एक साल तक बगैर सूखे एवं बगैर सड़े रह सकता है, साथ ही उसकी गुणवत्ता भी बढ़ती है। यह दुर्लभ गुण शायद ही किसी पत्ते में हो। इसके संरक्षण के लिए सतत् निगरानी एवं गहरे

समर्पण की आवश्यकता होती है। इस कार्य को 'कमाना' या 'पत्ता फेरना' कहते हैं इसमें प्रायः प्रत्येक दिन पान के पत्ते को उलट-पुलटकर उनमें से सड़े अंशो को निकाल दिया जाता है। पान जितना पुराना होता है, उतना ही वह मृदुल एवं स्वादिष्ट भी होता है एवं अधिक कीमत वसूलता है। स्थानीय कहावत प्रचलित है–

'चावल खाओ गलाकर, पान खाओ सड़ाकर।'

टूटे पान के पत्ते की जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है। वह अपना रंग भी बदलता है। पान पहले हरा, फिर पीला पुनः उजला और तत्पश्चात हरे रंग में वापस आ जाता है।

उत्पादन

नवादा जिले में उपजाये जाने वाले मगही पान का क्षेत्रीय नाम 'करहंज' है। जो पान की सबसे अच्छी किस्म मानी जाती है। पान नवादा के चार प्रखण्डों के दो दर्जन से अधिक गाँवों में उपजाया जाता है। ये गाँव प्रखण्डवार निम्नलिखित है:-

हिसुआ - मंझवे, ढ़ीवरी, कैथीर, ढ़लपुरा, तुंगी, वेलदारी।

नारदीगंज - हड़िया, पचीया, नारदीगंज।

काशीचक - खखड़ो, भूईयाँथान, डेढ़गाँव।

पकरीबरावाँ - छतरवार, डोला, धेवधा, एटपकवा।

नवादा जिले में पान की खेती प्रारंभ होने के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। स्थानीय किसानों से संवाद के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ पान का उत्पादन कई वर्षो से हो रहा है। पान अपनी संवेदनशीलता के कारण शीघ्र ही रोगों एवं मौसमी विंद्रुताओं का शिकार हो जाता है। अच्छे मौसम रहने के कारण फसल अच्छी हो जाती है। पान के उत्पादन के अनुसार किसानों का हौसला टूटता-बनता रहता है। इसलिए पान उत्पादक किसान एवं उत्पादक क्षेत्र बदलते रहते हैं। हम 1974-75 और 2004-05 के पान उत्पादक क्षेत्रों के आंकड़े का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि इन 30 वर्षो में उत्पादन क्षेत्र में लगभग तीगुनी वृद्धि हुई। इन आकड़ों को हम निम्न तालिका में प्रदर्शित कर रहें हैं–

नवादा जिले के पान उत्पादक प्रखण्ड एवं उत्पादक क्षेत्र

उत्पादक क्षेत्र (हेक्टेयर में)

क्रमांक	*प्रखण्ड का नाम*	*वर्ष 1974-75*	*वर्ष 2004-05*
1	हिसुआ	18.70	46.66
2	नरदीगंज	06.13	20.19
3	काशीचक	03.46	10.14
4	पकरीबरावाँ	04.96	12.18
योग -		33.30	89.17

स्रोत:- जिला सांख्यिकी विभाग, नवादा

तीस वर्षो में लगभग तीन गुणी उत्पादन क्षेत्र में वृद्धि के कारण हैं - रोगों पर कुछ हद तक नियंत्रण, अत: संरचना सुविधाओं का थोड़ा विकास, थोड़ी राजकीय सहायता एवं बनारस की मंडियाँ तक पहुँच के कारण पान की थोड़ी अच्छी कीमत पाना। यहाँ ऊपजाये जाने वाले पान की एक बेमिसाल खुबी है कि पान के एक ही पौधो के पत्ते के बढ़ती उम्र के साथ 27 अलग-अलग किस्मों में वर्गीकृत किया जाता है, ये हैं– गरौटी, मकठी, ढ़ाड़ी, लोहटन, धासन, कट, हेरूआ, गात, रास, वरूआ, मोड़वार, लाकर, टप्परा आदि। यह किस्म रोपने के 30 से 365 दिन तक 27 नामों से पुकारे जाते हैं। इनमें सबसे स्वादिष्ट गरौटी होता है। एक पौधों में 27 किस्म के पत्ते संभवत: संपूर्ण पाद्प जगत में पान बिरला उदाहरण प्रस्तुत करता है।

समस्या

नवादा जिले में पान की खेती करने वाले किसान मुख्य रूप से बरई एवं तमोली जति के हैं, जो प्राय: गरीब एवं भूमिहीन हैं। पान की खेती के लिए ये भूमि पट्टे पर लेते हैं। पान की खेती में काफी श्रम एवं पूँजी की आवश्यकता होती है। आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण ये महाजनों के गिरफ्त में फँसे होते हैं। इस प्रकार दूसरों की ओठों पर लाली बिखरने वाले इन किसान भाईयों के खुद के ओंठ कर्ज के बोझ से पीले पड़ जाते हैं। फसल खराब होने की आशंका भी किसानों को लगातार सताते रहती है। पान उत्पादकों की समस्याओं को हम तीन रूपों में बाँट सकते हैं:–

1. उत्पादन संबंधी समस्या: पान अत्यन्त संवेदनशील पौधा है। यह सहज ही विभिन्न तरह के रोगों एवं मौसमी विद्रुपताओं का शिकार हो जाता है। खाद के रूप में पहले किसान सिर्फ सरसों की खल्ली का चूर्ण का इस्तेमाल करते थे। लेकिन हाल के वर्षो में रोगमुक्त फसल एवं अधिक उत्पादन के लिए कीटनाशकों एवं रासायनिक खादों का उपयोग बढ़ा है। लेकिन तभी से पान फसल में नई तरह के व्याधियों का प्रकोप बढ़ गया है। इन कृत्रिम उपायों से तोड़े जाने के बाद पान शीघ्र सड़ता है एवं इसके स्वाद की स्वाभाविकता भी कम होती है। पान में मौसमी प्रभावों से भी कई तरह के रोग लगते हैं जैसे - झुलसा रोग-तीव्र गर्मी के प्रभाव से सरका रोग - जड़ से सड़ने की बीमारी, सुखरा रोग - पौधों के सूखने की बीमारी। इसके अतिरिक्त रोग हैं पत्तियों का भुआ जाना, जड़ का काला हो जाना, पत्तो पर धब्बे आना आदि। पान अतिसंवेदनशीलता के कारण एक रोग पकड़ने के बाद इसका सुधार करना प्राय: मुश्किल होता है इसलिए रोग ग्रसित पान के पत्ते को तोड़ लिया एवं पौधों को उखाड़ दिया जाता है ताकि रोग दूसरे पौधों में न फैले। पान के लिए सर्दी-गर्मी, बरसात किसी की अधिकता घातक है। आँधी-तूफान, धूल भरी हवा, पाला, ओला, वृष्टि, मुसलाधार वर्षा से फसल को काफी हानि होती है। कभी-कभी बरेजा गिर जाता है और किसान इन मौसमी दुष्प्रभावों से बुरी तरह टूट जाता है। 1962, 1981 एवं 2003 में नवादा जिले के पान किसानों को मौसमी दुष्प्रभावों का शिकार होकर काफी हानि उठानी पड़ी थी।

2. निवेश संबंधी समस्या: पान की खेती के लिए प्रयुक्त लगभग हर वस्तु, खेत (पट्टे पर लेना), बाँस, एरकी, चोप, खल्ली, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक दवायें ये सारी वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं। पान किसानों की माली हालत ठीक नहीं होने के कारण ये महाजनों से उँचे ब्याज दर पर पैसे लेते हैं। अगर फसल खराब हुई तो महाजनों के पूरे पैसे नहीं चुकाये जाते हैं और अगली फसल के लिए पुन: कर्ज लेते हैं। इस तरह किसान कर्ज के जाल में निरंतर फँसते जाते हैं। इस प्रकार निवेश

के लिए पैसे की आवश्यकता किसानों के लिए सबसे बड़ी समस्या है। पान की फसल अपने ऊपर निवेश से कई गुणा अधिक मुनाफा प्रदान करती है। लेकिन यह तभी संभव है जब फसल बाधा रहित एवं सफलता पूर्वक उत्पादित हो और यह अवसर कुछ सालों के अन्तराल पर आता है क्योंकि फसल प्राय: रोगों एवं मौसमी दुष्प्रभाओं का शिकार होता रहता है। एक अच्छी फसल इनके कई वर्षो के तंगहाली से निजात दिला देता है। लेकिन मुनाफे का ये किसान पुरा लुफ्त नहीं उठा पाते। क्योंकि बड़ी रकम इन्हें महाजनों को देना होता है। फसल की नाकामी पर किसान बुरी तरह टूट जाता है और कभी-कभी आत्महत्या की घटनाएं सामने आती है या फिर किसान पान की खेती छोड़ने को बाध्य होता है।

3. व्यवसाय संबंधी समस्या: पान सिर्फ एक पौधा ही नहीं एक संपूर्ण व्यवसाय प्रणाली का केन्द्र बिन्दु है। इस व्यवसाय से जुड़े हैं; किसान, मजदुर, पान के पत्ते के आढ़ाती, पान के दुकान चलाने वाले, कसैली, कत्था एवं चूना के उत्पादक एवं पान में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न तरह के मसाले बनाने वाले उद्यमी। इस प्रकार पान का पत्ता वह धुरी है जिसके चारों ओर समाज के कई वर्ग आर्थिक रूप से जुड़े हैं और अपनी जीविका का निर्वाह कर रहे हैं। इन सारे आर्थिक कवायदों में पिछले पायदान पर किसान ही खड़ा नजर आता है। अजीब विडंबना है कि पान की दुकान पर जितने कीमत पर पान बिकती है उसका संभवत: एक फीसदी ही किसानों को मिल पाता है। इस प्रकार पान उत्पादक इस व्यवसाय के बहुत छोटे हिस्से का लाभार्थी है। खेत से किसान पान की ढोली बनाकर मंडी में ले जाता है और मंडी में बिचौलिये विक्रेता के सामने पान की बोली लगाते हैं और कीमत से संतुष्ट होने पर किसान अपने पान को बेचता है। बिचौलिये इस कार्य के एवज में स्थानीय मंडी में 6 प्रतिशत एवं बनारस की मंडी में 10 प्रतिशत कमीशन लेते हैं। बोली की कीमत का निर्धारण पान की प्रकृति, उस दिन मंडी में पान उपलब्धता, पान के मांग की स्थिति, पान की गुणवत्ता एवं पान के पुरानेपन पर निर्भर करती है। उपर्युक्त कारणों से पान की एक ढोली एक रुपया में बिक सकती है या फिर हजार रूपयें में भी। पान का बाजार काफी परिवर्तनशील होता है। घंटे भर में कीमत में उतार-चढ़ाव होता रहता है। अगर किसानों की माली हालत ठीक रहे तो वह पान को संरक्षित कर अधिक कीमत मिलने पर बेच सके, इसके लिए उसे आर्थिक सुरक्षा की आवश्यकता होती है। पान की बिक्री स्थानीय मंड़ी नवादा, गया, वारसलीगंज, नारदीगंज, देव, खुदागंज एवं सबसे बड़ी मंडी बनारस में होती है। स्थानीय मंडी प्राय: किराये के दुकान में चलती है। जहाँ नागरिक सुविधाओं एवं प्रशीतन व्यवस्थाओं का घोर अभाव है। रात में रूकने वाले किसानों को काफी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अच्छी कीमत की लालसा में बनारस जाने वाले किसानों को समय एवं पैसे की हानि होती है।

सुझाव

नवादा जिला बिहार के सर्वाधिक पिछड़े जिलों में से एक है। यहाँ की कुल आबादी का लगभग 90 प्रतिशत कृषि पर निर्भर है। कृषि उत्पादन में प्राय: परम्परागत तौर-तरीके अपनायें जाने, सिचाई के लिए थोड़ी वैकल्पिक साधनों के अतिरिक्त पुरी तरह वर्षा पर निर्भर रहने की वजह से यहाँ कृषि उत्पादकता जीवन निर्वाहक स्तर तक बनी हुई है। अधिक कृषि उत्पादकता की सीमित संभावनाओं के बीच अच्छे जीवन-स्तर हेतु पान की खेती आशा की कौंधती किरण के समान है। पान उन खास

फसलों में है जो अपनी फसलों का सर्वाधिक कीमत वसूल सकती है। पान की खेती में सरकार का पुरी तरह संरक्षण एवं पूर्ण व्यवसायिक नजरिये से किया गया पान का व्यापार यहाँ की किसान की माली हालत में काफी सुधार ला सकता है और प्रकारान्तर में जिले के अन्य लोग भी इस आर्थिक समृद्धि के लाभार्थी बन सकते हैं।

पान के किसानों की समस्या के मूल में है आर्थिक सुरक्षा का अभाव। इनकी समस्या के समाधान हेतु सबसे बड़ी पहल होगी सरकार द्वारा पान के फसल की आर्थिक सुरक्षा की गारंटी लेना। इसके लिए सबसे पहले सरकार पान को बागवानी के बदले कृषि का दर्जा प्रदान करे। इससे किसानों को कम ब्याज दर पर कृषि ऋण मिलेगा, कृषि बीमा योजना का लाभ मिलेगा, फसल बरबाद होने पर उचित मुआवजा मिलेगा। इस फसल में बाँस एवं चोप जैसी वन्य सामग्रीयों का उपयोग होता है। इसके दोहन पर सरकार द्वारा रोक लगी हुई है। सरकार पान के किसानों के लिए इसे कम कीमत पर उपलब्ध कराने का प्रबंध करें। सरकार से आर्थिक संबल प्राप्त ये किसान महाजनों के शोषक चंगुल से मुक्त रहेंगें। फसल के मौसमी दुष्प्रभाओं के शिकार होने पर भी किसान आत्महत्या एवं फसल बदलने की प्रवृति से बचेंगे एवं अगली फसल नये उत्साह से करने का हौसला रखेगे। सरकारी साहयता का प्रोत्साहन एवं अच्छी कीमत की लालसा में काफी किसान पान की खेती की ओर आकर्षित होंगे। जिससे उत्पादन में वृद्धि होगी और यहाँ के किसान मगही पान के भारी माँग को पुरा करने में कामयाब होंगे। पान के बड़े पैमाने पर बिक्री से काफी मात्र में धन की आमद होगी। हम समझते हैं कि इन अच्छी संभावनाओं के साथ संभवत: पान ही नवादा के आर्थिक विकास की सबसे बड़ी कुँजी साबित हो।

कोई भी फसल खराब होने पर शासकीय मुआवजा राशि 1600 रुपये प्रति एकड़ के हिसाब से मिल पाता है जबकि राष्ट्रीय सर्वेक्षण निर्देश पत्रिका के अनुसार 'एक ऐसी संरचना जो चारों ओर से बंद हो, ऊपर से छाया हो, बाहर से आने जाने की व्यवस्था हो चाहे वह घास-फूस का ही क्यों न बना हो, घर की श्रेणी में आता है। चूँकि घर के अन्दर व्यवसाय हो सकता है। इसी प्रकार की संरचना का निर्माण कर पान उत्पादक व्यवसाय कर रहे हैं, जिसकी लागत आती है 1.20 लाख रुपये। सरकार को मौसमी आपदाओं के शिकार पान उत्पादकों को उनके लागत के अनुसार मुआवजा राशि निर्धारित करनी चााहिए। नवादा जिले के मगही पान की वैश्विक लोकप्रियता के कारण भारी माँग है। लेकिन इस लोकप्रियता का पुरा लाभ किसान उठा नहीं पाते हैं। नवादा, गया-किऊल रेलमार्ग एवं राष्ट्रीय राजमार्ग सं॰ 31 पर अवस्थित है। इस प्रकार यह रेल एवं सड़क मार्ग से देश के दूसरे भागों से जुड़ा हुआ है। नवादा शहर में ही यदि संरचनात्मक सुविधाओं से युक्त सरकारी मदद से एक विश्व स्तरीय पान मंडी का विकास किया जाय जो अंतराष्ट्रीय स्तर पर मगही पान की आपूर्ति करे तो यह विदेशी मुद्रा के आगमन का एक बड़ा जरिया बन सकता है।

मेरा मानना है कि सरकारी स्तर पर मगही पान की व्यापक लोकप्रियता एवं व्यवसायिक महत्व को देखते हुए 'मगही पान विकास प्रकोष्ठ' का गठन किया जाय। यह प्रकोष्ठ किसानों के उत्पादन एवं व्यवसाय संबंधी तमाम समस्याओं को निपटाने हेतु समन्वित प्रयास करे।

मगही पान के विकास एवं अनुसंधान की आवश्यकता महसूस करते हुए 2005 ई॰ में ईस्लामपुर (नालंदा) में 5 एकड़ भूमि सरकारी स्तर पर मुहैया करा कर मगही पान अनुसंधान केन्द्र की स्थापना

की गई थी। अभी यह संस्थान पूरी क्षमता से काम प्रारंभ करना भी प्रारंभ नहीं किया था कि 2007 में स्थानीय जिलाधीश ने एक शासनादेश जारी कर उस जमीन को दूसरे कार्य के लिए आवंटित कर दिया। किसानों की गुहार सुनकर मुख्यमंत्री ने उस आदेश को रूकवा दिया। आवश्यकता इस बात की है कि यह संस्थान पूरी क्षमता के साथ काम करे एवं मगही पान के विकास एवं अनुसंधान से किसानों को लाभ पहुँचाये।

निष्कर्ष:

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नवादा जिला बिहार का अत्यंत पिछड़ा जिला है। जिले का अधिकांश भाग सुखे से प्रभावित रहता है। आर्थिक संपन्नता एवं स्वावलंबन के लिए इस जिले के 90 प्रतिशत लोगों का आधार कृषि ही है। पान एक नगदी फसल है। नवादा में पान की सबसे बेहतर किस्म पैदा होती है। जिसकी पान के कद्रदानों के बीच भारी माँग है। सरकार के ठोस एवं समन्वित प्रयास से किसानो को उत्पादन एवं व्यवसाय की आर्थिक, तकनीक एवं वैज्ञानिक सुविधा प्रदान कर दी जाय तो वह न सिर्फ इस क्षेत्र के आर्थिक विकास की नई गाथा लिख सकती है, बल्कि नवादा को एक नई पहचान एवं गौरव भी प्रदान कर सकती है।

शोध-संदर्भ:

1. B.P. Pandey : Economic Botany, S. Chand , Page – 276 & 277
2. Dr. K.S. Chauhan : Systematic Botany Taxonomy Economic Botany and Geography Page -262 & 263
3. Albert F. Hill : Economic Botany, Page – 275 & 276
4. आधुनिक किसान डायरी , 2005 राजेन्द्र कृषि वि॰ विद्यालय पूसा (समस्तीपुर) बिहार
5. अखिल भारतीय चौरसिया संदेश (पत्रिका) अगस्त 2007
6. राष्ट्रीय सहारा, (दैनिक समाचार पत्र) 28 अगस्त 2007 पृष्ठ-09

❄❄❄

भूगोल

उत्तर एवं दक्षिण बिहार की प्रादेशिक विषमताओं का तुलनात्मक भौगोलिक अध्ययन

सुशील कुमार सिंह

शोध छात्र, भूगोल विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

आदिकाल से ही मैदानी प्रदेश मानव सभ्यता के विकास का केन्द्र स्थल रहा है। ज्यामितीय आकार की दृष्टि से लगभग समचतुर्भुजाकार का बिहार राज्य की भौगोलिक स्थिति उत्तर भारत में मध्यवर्त्ती गंगा के मैदानी क्षेत्र का उत्तर-पूर्वी भाग है जो "भारत का हृदयस्थल" कहलाता है। यह अपनी भौतिक विशेषताओं, सांस्कृतिक विरासत, जन-संकुलन तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक एवं सामाजिक विशिष्टता के कारण अपनी अलग पहचान रखता है।

यह ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का प्रमुख क्षेत्र है जहाँ पूर्व ऐतिहासिक काल से लेकर वर्त्तमान काल तक निरंतर मानव बसाव के केंद्र होने के प्रमाण मिलते हैं। उल्लेखनीय है कि नील नदी के बाद गंगा का मध्यवर्ती मैदानी प्रदेश विश्व का दूसरा सर्वाधिक उपजाऊ मिट्टी वाला प्रदेश है क्योंकि गंगा एवं इसकी सहायक नदियाँ यहाँ 'खादर' जैसी उपजाऊ मिट्टी का निर्माण कर इसे कृषि प्रधान प्रदेश बनाती है। यही कारण है कि यह प्रदेश जीवन-निर्वाह कृषि एवं सघन अधिवास के लिए आदर्श होने के कारण कालांतर में जनाधिक्य प्रदेश के रूप में विकसित हो गया।

बिहार राज्य के मध्य से हो कर उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर झुकाव युक्त प्रवाहित होने वाली गंगा नदी इस राज्य को स्पष्टत: दो भागों में विभाजित करती है - उत्तर बिहार एवं दक्षिण बिहार जिसमें अनेक प्रादेशिक विषमताएँ देखने को मिलती हैं क्योंकि उत्तर बिहार नदियों के विशिष्ट लक्षणों से प्रभावित है जबकि दक्षिण बिहार छोटा नागपुर के पठार का प्रक्षेपित पहाड़ी भागों द्वारा उच्चावचयुक्त स्थलाकृतियों से प्रभावित एवं नियंत्रित है। इस प्रकार यहाँ जनसंख्या आकार, जनसंख्या वृद्धि दर, जनसंख्या घनत्व, लिंगानुपात, साक्षरता दर, प्रति व्यक्ति आय, गरीबी अनुपात, नगरीकरण स्तर एवं स्वास्थ्य संबंधी संकेतकों में काफी अधिक प्रादेशिक विषमताएँ पाई जाती हैं जैसा कि निम्न तालिकाओं से स्पष्ट होता है:-

तालिका - 1

क्रम सं॰	*भौगोलिक इकाई*	*जिलों की संख्या*	*जिलों के नाम*
1	उत्तर बिहार	21	सारण, सीवान, गोपालगंज, प॰ चंपारण, पू॰ चंपारण, मुजफ्फरपुर, सीतामढ़ी, शिवहर, वैशाली, दरभंगा, मधुबनी, समस्तीपुर, बेगूसराय, खगड़िया, सहरसा, सुपौल, मधेपुरा, पूर्णिया, किशनगंज, अररिया, कटिहार।
2	दक्षिण बिहार	17	पटना, नालंदा, भोजपुर, बक्सर, रोहतास, कैमूर, गया, जहानाबाद, अरवल, नवादा, औरंगाबाद, मूँगेर, शेखपुरा, लखीसराय, जमुई, भागलपुर, बाँका।

तालिका - 2

क्रम सं॰	*प्रादेशिक विषमताओं के संकेतक*	*उत्तर बिहार*	*दक्षिण बिहार*	*समग्र बिहार*
1	भौगोलिक क्षेत्रफल (वर्ग कि॰मी॰)	52925.44	41234.68	94160.12
2	जनसंख्या, 2011 (लाख में)	654.0	384.0	1038.0
3	जनसंख्या वृद्धि दर, 2001-2011 (प्रतिशत)	26.1	23.1	25.1
4	जनसंख्या घनत्व, 2011 (प्रति वर्ग कि॰मी॰)	1235	931	1102
5	लिंगानुपात, 2011 (प्रति हजार पुरूषों पर स्त्रियाँ)	919	910	916
6	स्त्री साक्षरता दर, 2011 (प्रतिशत)	49.80	57.40	53.33
7	पुरूष साक्षरता दर, 2011 (प्रतिशत)	69.68	78.09	73.39
8	कुल साक्षरता दर, 2011 (प्रतिशत)	60.16	68.23	63.82
9	शुद्ध जिला घरेलू उत्पाद, 2007-08 (करोड़ रू॰)	40630.1	48870.0	89500.1
10	गरीबी का प्रतिशत, 2011	60.1	52.75	56.76
11	नगरीकरण का प्रतिशत, 2011	7.5	14.3	11.3
12	शिशु मृत्यु दर, 2010 (प्रति हजार सजीव जन्म पर)	58	52	55
13	प्रति स्वास्थ्य केन्द्र पर जनसंख्या भार, 2011	10280	9246	9628

***स्रोत:** आर्थिक सर्वेक्षण 2011-12, बिहार सरकार; जनगणना प्रतिवेदन, 2011*

उत्तर बिहार का भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग 52925.44 वर्ग कि॰मी॰ है जो राज्य का लगभग 56.20 प्रतिशत भू-भाग है जबकि दक्षिण बिहार का भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग 41234.68 वर्ग कि॰मी॰ है जो राज्य का लगभग 43.80 प्रतिशत भू-भाग है। जनगणना 2011 के अनुसार उत्तर बिहार की जनसंख्या लगभग 654.0 लाख है जो राज्य की कुल जनसंख्या का लगभग 63 प्रतिशत भाग है तो वहीं दूसरी ओर दक्षिण बिहार में लगभग 384.0 लाख जनसंख्या निवास करती है जो राज्य की कुल जनसंख्या का लगभग 37 प्रतिशत भाग है। 2001-2011 के दौरान उत्तर बिहार की जनसंख्या वृद्धि दर 26.1 प्रतिशत है जबकि दक्षिण बिहार की जनसंख्या वृद्धि दर 23.1 प्रतिशत है।

जनसंख्या घनत्व किसी प्रदेश में मानव अधिवास के संकेन्द्रन को प्रदर्शित करता है जहाँ उत्तर बिहार के 21 जिलों में से 12 जिलों में 1000 से अधिक तथा 5 जिलों में 1500 से अधिक व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० निवास करते हैं तो वहीं दूसरी ओर दक्षिण बिहार के 17 जिलों में से मात्र 6 जिलों में जनसंख्या घनत्व 1000 से अधिक व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० है तथा एकमात्र पटना जिला में 1800 से अधिक व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० निवास करते हैं। इस प्रकार राज्य के औसत 1102 व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० की तुलना में उत्तर बिहार में यह घनत्व 1235 व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० जबकि दक्षिण बिहार में 931 व्यक्ति प्रति वर्ग कि०मी० निवास करते हैं।

लिंगानुपात के संदर्भ में एकमात्र गोपालगंज जिला 1015 स्त्रियाँ प्रति हजार पुरूषों पर दर्ज है। 950-1000 तक लिंगानुपात वाला जिला उत्तर बिहार में एक तथा दक्षिण बिहार में कोई नहीं है। 900-950 तक लिंगानुपात वाले जिलों की संख्या उत्तर बिहार में 13 तथा दक्षिण बिहार में 14 है। 900 से कम लिंगानुपात वाले जिलों की संख्या उत्तर बिहार में 6 तथा दक्षिण बिहार में 3 है। इस प्रकार से उत्तर बिहार में लिंगानुपात 919 तथा दक्षिण बिहार में 910 जबकि समग्र बिहार में 916 स्त्रियाँ प्रति हजार पुरुष हैं।

स्त्री साक्षरता दर में उत्तर बिहार के 21 जिलों में से मात्र 7 जिले राज्य औसत 53.33 प्रतिशत से अधिक है जबकि दक्षिण बिहार के 17 जिलों में से मात्र 3 जिलों में यह आँकड़ा राज्य औसत से कम है। इस तरह से उत्तर बिहार में स्त्री साक्षरता दर 49.80 प्रतिशत तथा दक्षिण बिहार में यह दर 57.40 प्रतिशत है। वहीं दूसरी ओर पुरुष साक्षरता दर में भी उत्तर बिहार के 21 जिलों में से मात्र 6 जिले राज्य औसत 73.39 प्रतिशत से अधिक है जबकि दक्षिण बिहार के 17 जिलों में से मात्र 3 जिलों मे यह आँकड़ा राज्य औसत से कम है। इस तरह से उत्तर बिहार में पुरूष साक्षरता दर 69.68 तथा दक्षिण बिहार में यह दर 78.09 प्रतिशत है। संभवत: यही कारण है कि कुल साक्षरता दर में उत्तर बिहार के 21 जिलों में से मात्र 7 जिले राज्य औसत 63.82 तक पहुँच सके हैं जबकि दक्षिण बिहार के 17 जिलों में से 3 जिले राज्य औसत से पीछे हैं क्योंकि कुल साक्षरता दर उत्तर बिहार में 60.16 प्रतिशत तथा दक्षिण बिहार में 68.23 प्रतिशत है।

प्रादेशिक आर्थिक विकास की गणना के लिए कुल जिला घरेलू उत्पाद की तुलना में शुद्ध जिला घरेलू उत्पाद को अधिक उत्तम आधार माना जाता है क्योंकि कुल जिला घरेलू उत्पाद में से पूँजीगत वस्तुओं की घिसावट अथवा मूल्य ह्रास को घटा कर शुद्ध जिला घरेलू उत्पाद निकाला जाता है। इस संदर्भ में राज्य की अर्थव्यवस्था में उत्तर बिहार का शुद्ध जिला घरेलू उत्पाद में योगदान लगभग 40630.1 करोड़ रु० है जबकि दक्षिण बिहार का योगदान लगभग 48870.0 करोड़ रु० है। दूसरी ओर वर्ष 2004-2005 में गठित सुरेश तेंदुलकर कमिटी जिन्होंने लोगों द्वारा भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, विद्युत, वस्त्र तथा पैर के पहनावे पर किए जाने वाले खर्च को आधार मानकर उपभोग आधारित मूल्य सूचकांक के द्वारा निर्धनता की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या का आँकलन किया है, के अनुसार उत्तर बिहार में इसकी संख्या 60.01 प्रतिशत तथा दक्षिण बिहार में 52.75 प्रतिशत है जबकि समग्र बिहार में यह आँकड़ा 56.76 प्रतिशत अनुमानित है।

किसी भी प्रदेश में किए जाने वाले आर्थिक क्रिया कलापों की पहचान उस प्रदेश के नगरीकरण के स्तर से लगाया जाता है और यही कारण है कि बिहार एक कृषि प्रधान प्रदेश होने के कारण यहाँ

मात्र 11.3 प्रतिशत नगरीकरण पाया जाता है तथापि उत्तर बिहार में यह केवल 7.5 प्रतिशत जबकि दक्षिण बिहार में यह 14.3 प्रतिशत तक है जो यहाँ के प्रादेशिक विषमता को दर्शाता है। इसके अतिरिक्त राज्य औसत से अधिक नगरीकरण का प्रतिशत उत्तर बिहार के 21 जिलों में से एकमात्र बेगूसराय में देखने को मिलता है जबकि दक्षिण बिहार के 17 जिलों में से 10 जिलों में इसका प्रतिशत राज्य औसत से अधिक है।

स्वास्थ्य संबंधित संकेतकों में शिशु मृत्यु दर को प्रमुख आधार माना जाता है जिसमें किसी एक वर्ष के दौरान सजीव जन्मों की कुल संख्या के प्रति हजार पर उसी वर्ष के दौरान एक वर्ष से कम आयु वाले शिशुओं की मृत्युओं की संख्या ज्ञात की जाती है। इस संदर्भ में उत्तर बिहार का औसत 58 प्रति हजार तथा दक्षिण बिहार का औसत 52 प्रति हजार है जबकि समग्र बिहार का औसत 55 प्रति हजार है। स्वास्थ्य सेवाओं के अंतर्गत प्रति स्वास्थ्य केन्द्रों पर जनसंख्या भार की दृष्टि से उत्तर बिहार में प्रति स्वास्थ्य केन्द्र पर 10280 व्यक्ति निर्भर हैं जबकि दक्षिण बिहार में इसकी संख्या 9246 व्यक्ति ही है इस प्रकार लगभग 1034 व्यक्तियों की विषमता प्रति स्वास्थ्य केन्द्रों पर देखा जा सकता है।

निष्कर्ष:

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त दोनों भौगोलिक ईकाइयों उत्तर बिहार एवं दक्षिण बिहार में काफी अधिक प्रादेशिक विषमताएँ देखने को मिलती है। लिंगानुपात को छोड़कर शेष सभी संकेतकों में दक्षिण बिहार अग्रिम पंक्ति में खड़ा दिखाई देता है क्योंकि यहाँ अपेक्षाकृत कम जनसंख्या, आर्थिक विकास तथा भौगोलिक स्थिति इसके विकास में सहायक हैं तो वहीं दूसरी ओर उत्तर बिहार अत्यधिक जनसंख्या, प्राकृतिक आपदा (बाढ़ एवं सूखा) तथा आधारभूत संरचनाओं का अभाव इसके विकास को अवरूद्ध करते हैं। अत: बिहार के सर्वांगिक विकास हेतु नीति-निर्माताओं से उत्तर बिहार के लिए विशेष योजनाएँ अपेक्षित हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. बिहार का भौगोलिक स्वरूप - बी॰ पी॰ राव एवं आर॰ बी॰ पी॰ सिंह
2. मोनोग्राफ ऑफ बिहार: ए ज्योग्राफिकल स्टडी - आर॰ पी॰ सिंह एवं अनिल कुमार
3. बिहार का भूगोल - अनिल कुमार
4. जनसंख्या भूगोल - आर॰ सी॰ चान्दना
5. जनगणना, 2011, भारत सरकार
6. आर्थिक सर्वेक्षण, 2011-12, बिहार सरकार

❋❋❋

अर्थशास्त्र

आर्थिक मानवाधिकार और विकास

डॉ. शंकर साह

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

भूमिका

मानव के गरिमामयी जीवन जीने के लिए एवं उसके मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए मानवाधिकारों की जरूरत पड़ती है। तीव्र प्रतिस्पर्धा, भौतिकवादी जीवन, संसाधनों की सीमितता, नैतिक मूल्यों का ह्रास, भ्रष्टाचार, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी आदि समस्याएँ, लैंगिक एवं जातिगत भेदभाव, आर्थिक विषमता, हकमारी गरीबों का शोषण आदि के विषाक्त परिवेश में मनुष्य को आर्थिक रूप से सशक्त और सुरक्षित करके ही हम राष्ट्र के विकास को सुनिश्चित कर सकते हैं।

मानवाधिकार

मानव अधिकारों से अभिप्राय, मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता से है, जिसके सभी मानव प्राणी हकदार है। अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं के उदाहरण के रूप में जिनकी गणना की जाती है, उनमें नागरिक और राजनीतिक अधिकार सम्मिलित है, जैसे - जीवन और आजाद रहने का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कानून के सामने समानता एवं आर्थिक, समाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के साथ ही साथ सांस्कृतिक गतिविधियाँ में भाग लेने का अधिकार, भोजन का अधिकार, काम करने का अधिकार एवं शिक्षा का अधिकार शामिल है।

मानवाधिकार के विभिन्न रूपः-

सांस्कृतिक मा0

राजनीतिक मा0 शैक्षिक मा0

धार्मिक मा0 स्वास्थ्य मा0

आर्थिक मा0 **मानवाधिकार** सामाजिक मा0

महिला मा0 पर्यावरणीय मा0

श्रमिक मा0

आर्थिक मानवाधिकार

मानवाधिकारों के सभी रूपों में आर्थिक मानवाधिकार विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि भूखे व्यक्ति के लिए विकास, आजादी और अधिकार का कोई मतलब नहीं है। भूखा व्यक्ति अपने तथा

परिवार का पेट भरने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है, राष्ट्र को नुकसान पहुँचा सकता है, अत: गरीबों के लिए आजिविका, उचित मजदूरी, गरिमामयी माहौल, खाद्य सुरक्षा, आर्थिक सुरक्षा आदि की पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिए।

राजनीतिक मानवाधिकार

व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र बनता है। कोई भी राष्ट्र सशक्त तभी होगा जब वहां के नागरिक राजनीतिक रूप से शिक्षित, प्रशिक्षित और जागरूक होगें तथा उन्हें राजनीतिक अधिकार यथा - जीवित रहने और आजाद रहने का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कानून के सामने समानता, मताधिकार राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने, निर्णय लेने आदि का अधिकार दिये जाएगें। इस तरह राजनीतिक मानवाधिकार राष्ट्र के विकास की गारंटी है।

सामाजिक अधिकार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता-बढ़ता है और अंतिम सांस समाज में ही लेता है। अत: उसे समाज में विचरण करने, क्रियाशील रहने और सभी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करने के लिए सामाजिक अधिकारों की आवश्यकता पड़ती है।

धार्मिक मानवाधिकार

धार्मिक मानवाधिकार से तात्पर्य व्यक्ति विशेष को अपने धर्म के मान्यताओं के प्रति आस्था रखने की छूट देने से है। सभी व्यक्ति को अपनी पसंद, आस्था, विश्वास, रूचि के अनुसार धर्म अपनाने और मानने की छूट होनी चाहिए। उस पर कोई विशेष धर्म, सम्प्रदाय थोपा न जाए अथवा अपनाने को मजबूर न किया जाए।

सांस्कृतिक मानवाधिकार

सभी जाति, धर्म, सम्प्रदाय के लोगों की अपनी अलग-अलग रहन-सहन, वेशभूषा, आचार-विचार, खान-पान, मान्यताएं एवं आस्थाएं होती है। यही उनकी पहचान होती है, जो इन्हें दुसरों से अलग और श्रेष्ठ बनाती है। अत: विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मो में परस्पर वैमनस्य, प्रतिस्पर्धा, घृणा न होकर सामंजस्य, सहयोग, प्रेम, आदर और सम्मान होना चाहिए। सरकार को इस बात को पूर्ण रूप से सुनिश्चित करना चाहिए की सभी वर्गों की सांस्कृतिक विशिष्टता बनी रही और अन्य द्वारा अतिक्रमण, नुकसान अथवा क्षरण न किया जा सके।

शैक्षिक मानवाधिकार

अशिक्षित मनुष्य पशु के समान है। शिक्षा ही मनुष्य को पशु से अलग करती है और बुद्धि, विवेक, तार्किक, क्षमता, गलत-सही की पहचान क्षमता और विपरित परिस्थितियों में सामंजस्य बिठाने की क्षमता प्रदान करती है। अत: इस बात को सुनिश्चित किया जाना चाहिए की कोई भी व्यक्ति जो आचार-विचार व्यापार के काम आ सके, की व्यवस्था की जानी चाहिए। वर्तमान में 14 वर्ष की आयु तक की शिक्षा के अधिकार कानून के तहत मुफ्त और अनिवार्य बनाया गया है। इसे 18 वर्ष की आयु तक यानी उच्चतर माध्यमिक तक बढ़ाने की जरूरत है।

स्वास्थ्य मानवाधिकार

स्वस्थ्य शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। जब शरीर अस्वस्थ होगा तो मस्तिष्क कार्य नहीं करेंगा। फलतः राष्ट्र का विकास अवरूद्ध होगा। अतः अंतिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति के पास तक स्वस्थ्य सुविधा पहुंचाना प्रत्येक सरकार की प्राथमिकता होनी चाहिए। स्वास्थ्य सुविधा के अभाव में कार्यक्षमता का ह्रास, निम्न जीवन प्रत्याशा, मानव संसाधन की कमी, क्रय शक्ति में ह्रास, आर्थिक प्रगति में बाधा आद समस्याए पैदा होती है जिससे राष्ट्र कमजोर होता है।

महिला मानवाधिकार

आधी आबादी के साथ भेदभाव, उपेक्षा और दोहरी नीति अपना कर हम विकास के शिखर को नहीं छू सकते। विकास का रथ तभी दौड़ेगा जब उसका दोनों पहिया मजबूत हो, महिलाओं के हितों की रक्षा को हमें पूर्णरूप से सुनिश्चित करना होगा। महिलाओं लैगिक भेदभाव, अवसरों में भेदभाव, मजदूरी में भेदभाव आदि से मुक्त करना होगा। इनके प्रति हिंसा, शोषण आदि को समाप्त करना होगा। इन्हें आर्थिक रूप से सशक्त करना होगा। इसके लिए हमें सोच-विचार को बदलना होगा। बदलते परिवेश में सम्यक् दृष्टिकोण अपनाना होगा। इनके मान-सम्मान एवं अस्मिता की रक्षा सुनिश्चित करके, सभी को शिक्षण-प्रशिक्षण स्वास्थ्य एवं सुरक्षा प्रदान करके हम इन्हें आत्म निर्भर कर राष्ट्र विकास में पूर्ण सहयोग ले सकते हैं।

श्रमिक मानवाधिकार

राष्ट्र निर्माण में श्रमिकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। श्रमिक ही उत्पादन कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेकर विकास की गति को सुनिश्चित करते है। अतः श्रमिकों के हितों की रक्षा को सुनिश्चित करना अति आवश्यक है। इन्हें उचित मजदूरी, अनुकूल माहौल, रोजगार की सुरक्षा कार्य के घण्टे, सवेतन अवकाश, विश्राम आदि उपलब्ध कराकर ही हम इनका सर्वश्रेष्ठ योगदान ले सकते है। उससे उत्पादन में वृद्धि होगा, तो राष्ट्र का विकास सुनिश्चित करेगा।

पर्यावरणीय मानवाधिकार

जीवन और पर्यावरण में घनिष्ठ संबंध है। बिना पर्यावरण के जीवन और प्रगति की कल्पना तक नहीं की जा सकती पर्यावरण को नुकसान पहुँचाकर मानव अपने अस्तित्व को चुनौती दे रहा है। एक निश्चित अनुपात में जल जंगल, जमीन और शुद्ध वायु का होना सभी सजीव प्राणी के रक्षा के लिए अनिवार्य शर्त है। हमें भविष्य की चुनौतियों के मद्देनजर सतत् विकास की अवधारणा को अपनाना होगा। अंधाधुन्ध पेड़ों की कटाई, जल-थल-वायु ध्वनि प्रदुषण, जनसंख्या वृद्धि, प्राकृतिक संसाधनों का अकुशल विदोहन, परिस्थितिकी असंतुलन, ओजोन क्षरण आदि पर नियंत्रण करना होगा।

इस तरह, मानवाधिकार के उपरोक्त सभी रूप समग्र रूप से मानव अस्तित्व और उसके विकास के लिए परम आवश्यक है। सभी का अपना-अपना महत्व है।

संविधान में मानवाधिकारों की व्यवस्था

हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान बनाते समय मानवाधिकार का विशेष ध्यान रखा है प्रस्तावना में ही इसकी झलक दिखाई पड़ती है। हमारा संविधान इस देश के समस्त नागरिकों को

समाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय देने का वचन देता है। साथ ही, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता देते हुए प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्रदान कर व्यक्ति की गरिमा बढ़ाने का संकल्प लेता है।

संविधान के भाग तीन में अनुच्छेद 12 से 35 तक मैलिक अधिकारों की व्यवस्था करके मनुष्य को गरिमामयी जीवन उपलब्ध कराने की व्यवस्था करता है।

प्रमुख अनुच्छेद और उसमें उल्लेखित तथ्य निम्नलिखित है -

14 से 18	समता या समानता का अधिकार -
14	सभी व्यक्ति विधि के समक्ष समान होगें। सबके लिए एक कानून होगा और सब पर एक समान लागू होगा।
15	राज्य के द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग एवं जन्म स्थान के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी भी क्षेत्र में भेद-भाव का निषेध।
16	लोक नियोजन के विषय में कुछ अपवादों को छोड़कर अवसर की समानता होगी।
17	अस्पृश्यता के उन्मूलन हेतु इसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।
18	उपाधियों का अंत। राज्य द्वारा केवल सेना या विद्या संबंधी उपाधि हीं दी जायेगी।
19 से 22	स्वतंत्रता का अधिकार -
19	वर्तमान में छः मूल अधिकार है -
19 (अ)	बोलने की स्वतंत्रता
19 (ब)	शांतिपूर्वक बिना हथियारों के एकत्रित होने और सभा करने की स्वतंत्रता।
19 (स)	संघ बनाने की स्वतंत्रता।
19 (द)	देश के किसी भी क्षेत्र में आवागमन की स्वतंत्रता।
19 (य)	देश के किसी भी क्षेत्र में निवास करने और बसने की स्वतंत्रता। (अपवाद जम्मू-काश्मीर)
19 (र)	कोई भी व्यापार या जीविका चलाने की स्वतंत्रता।
20	अपराधों को दोष सिद्धि के संबंध में संरक्षण।
21	प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण - व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त उसके जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।
21 (अ)	राज्य 6 से 14 वर्ष तक के समस्त बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था।
22	कुछ दशाओं में गिरफ्तारी और निरोध में संरक्षण।
23 से 24	शोषण के विरूद्ध अधिकारः-

23	मानव के दुर्व्यापार और बलात् श्रम को निषिद्ध ठहराया गया है।
24	14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों, या जोखिम भरे कार्यो में नियोजन पर प्रतिबंध लगाया गया है।
25 से 28	धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार:-
25	अंत:करण और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता।
26	धार्मिक कार्यो के प्रबंध की स्वतंत्रता।
27	राज्य उस आय से कर देने के लिए व्यक्ति को बाध्य नहीं कर सकता जो किसी धर्म विशेष की उन्नति हेतु निश्चित कर दी गई है।
28	राज्य विधि से पूर्णत: पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं देगा।
29 से 30	सांस्कृतिक एवं शिक्षा संबंधि अधिकार:-
29	अल्पसंख्यक वर्गो के हितो का संरक्षण - वह अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित रख सकता है और इस आधार पर उसे किसी भी सरकारी शैक्षिक संस्था में प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता।
30	अपनी पसंद की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार प्राप्त है। सरकार इसे अनुदान देने में किसी भी तरह का भेदभाव नहीं करेगी।
32	संवैधानिक उपचारों का अधिकार - इसके अंतर्गत मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए समुचित कार्वाईयों द्वारा उच्चतम न्यायालय में आवेदन करने का अधिकार प्रदान किया जाए। इस संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय को पांच तरह के रिट निकालने की शक्ति प्रदान की गई है- 1. बंदी प्रत्यक्षीरण 2. परमादेश 3. प्रतिषेध-लेख 4. उत्प्रेषण और 5. अधिकार - पृच्छा-लेख

संविधान के भाग 4 में राज्यों के लिए नीति-निर्देशक सिद्धांतों का वर्णन किया गया है - जिसमें मानवाधिकारों की रक्षा को सुनिश्चित किया गया है-

अनुच्छेद	*वर्णित विषय*
38	राज्य लोक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए सामाजिक व्यवस्था बनाएगा, जिससे नागरिकों को समाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय मिलेगा।

39	सार्वजनिक धन के स्वामित्व और नियंत्रण में सार्वजनिक हित को ध्यान में रखा जाएगा।
39 (ग)	धन का समान वितरण किया जायगा।
40	ग्राम पंचायतों का गठन किया जाएगा।
41	कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार।
42	काम की न्याय-संगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबंध।
43	कर्मकारों के लिए निर्वाचन मजदूरी और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन।
44	नागरिको के लिए एक समान सिविल संहिता।
46	अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के लिए शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की अभिवृद्धि।
47	पोशाहार स्तर, जीवन स्तर को ऊँचा करने और लोक स्वास्थ्य को सुधार करने का राज्य का कर्तव्य।
48	कृषि तथा पशुपालन का संगठन।

इस तरह संविधान में मानवाधिकारों की समुचित व्यवस्था की गई है। मानव जीवन के प्रत्येक पहलु-भोजन, आवास, स्वास्थ्य, रोजगार, मजदूरी शिक्षा आदि को विशेष रूप से उपबंधित करके प्रत्येक नागरिक की सुरक्षा और उन्नति को सुनिश्चित किया गया है।

आर्थिक मानवाधिकार

आर्थिक मानवाधिकार मनुष्य को जीवित रहने, जीवन-यापन करने, आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। मनुष्य की पहली आवश्यकता और समस्या रोटी की है। वह तब तक विकास प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकता जब तक उसके भोजन का प्रबंध सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। जिन्दा रहने के लिए आर्थिक पक्ष मजबुत होना अति आवश्यक है। आर्थिक-मानवाधिकार के अन्तर्गत निम्न तत्व आते हैं:

1. *शिक्षा:* व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। कहा भी गया है कि शिक्षा के बिना मनुष्य पशु के समान है। शिक्षा, मानव को कौशल प्रदान कर पुननिर्माण करती है। एक शिक्षित और प्रशिक्षित व्यक्ति, अशिक्षित के वनिस्पत अर्थव्यवस्था में अपना अधिक योगदान दे सकता है। शिक्षण-प्रशिक्षण से ही व्यक्ति में दक्षता, निपुर्णता और विषय-विषेशज्ञता आती है जिससे उसकी कार्यक्षमता और उत्पादकता बढ़ जाती है और जिसका उपयोग वह उच्च्व उत्पादन में करता है, जो आगे चल कर गुणक रूप में राष्ट्र का विकास सुनिश्चित करता है।
2. *भोजन अथवा खाद्य-सुरक्षा:* सरकार को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए की उसका कोई नागरिक भूख अथवा गरीबी से न मरें। उसे इतना खाद्यान्न जरूर उपलब्ध हो जाना चाहिए, जिससे उसका स्वास्थ्य एवं कार्यक्षमता बनी रहे। खाद्य असुरक्षित होने पर वह

गलत कार्यो में लिप्त हो सकता है। जिससे राष्ट्र को नुकसान होगा। कार्यक्षमता गिरने पर उत्पादन प्रभावित होगा फलत: विकास प्रक्रिया थमेगी। अत: खाद्य सुरक्षा को गंभीरता से लागू करके इसका प्रभावी क्रियान्वयन करना होगा।

3. *आवास का प्रबंध:* लोगों को विशेष कर अंतिम पंक्ति के लोगों हेतु आवास का प्रबंध करना सरकार की नैतिक जिम्मेदारी है। ताकि वे सुरक्षित और विभिन्न गंभीर बिमारियों से मुक्त रह कर राष्ट्र निर्माण में अपना सर्वोच्च योगदान दे सकें।
4. *अवसर की उपलब्धता एवं समानता:* सभी नागरीको को बिना किसी भेद-भाव के उनकी क्षमता अनुसार अवसरों की उपलब्धता होनी चाहिए, ताकि वे जीवन यापन कर सकें और अपना तथा देश का विकास कर सकें। अवसर उपलब्ध नहीं होने पर मानव संसाधन का सदुपयोग नहीं होता और अनेक समस्याएं पैदा होने लगती है। स्वयं को साबित करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को बिना भेदभाव के अवसर उपलब्ध होने चाहिए।
5. *रोजगार की उपलब्धता:* देश में जनसंख्या के अनुपात में रोजगार उपलब्ध होने चाहिए ताकि श्रम का नाश न हो और समाज में गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण आदि समस्याएं जन्म न ले सकें। इसके लिए आधारभुत संरचना का विकास, प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों का विकास, औद्योगीकरण आदि पर बल देना होगा। कुटीर एवं लघु उद्योग-धंधो का विकास एवं प्रसार आदि पर विशेष कार्य करना होगा।
6. *लैगिंक भेदभाव का निषेध:* महिलाओं को पुरूषों के समान अवसर एवं सुविधा प्रदान करने होंगें। उनके साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव वर्जित करना होगा। वे भी अपनी योग्यता एवं क्षमता का सदुपयोग देश के विकास में कर सकती है।
7. *उचित एवं न्यायपूर्ण मजदूरी:* प्रत्येक व्यक्ति को कार्य के बदले न्यूनतम, सम्मानपूर्ण जीवन जीने लायक, उसकी बुनीयादी आवश्यकताओं का पुरा करने वाला, उसके योग्यता, क्षमता और दुर्लभता को ध्यान में रखते हुए मजदूरी दी जानी चाहिए, जिससे उसे कार्य करने की प्रेरणा मिले एवं गरिमा की अनुभूति हो। न्यायपूर्ण एवं उचित मजदूरी रहने से वह रूचि, पूर्णक्षमता और योग्यता का सर्वोत्तम दे सकता है। अपने परिवार को सम्मानपूर्ण ढ़ंग से रख सकता है।
8. *कार्य करने का अनुकुल एवं मानवोचित माहौल:* सभी श्रमिकों को कार्यस्थल पर आवश्यक एवं मानवोचित सुविधा और माहौल दिया जाना चाहिए। उनसे दुर्व्यवहार, जबरदस्ती न हो और उनको मानसिक, शारीरिक, प्रताड़ना एवं शोषण से सुरक्षा प्राप्त हो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। कार्य के घंटे, विश्राम का समय, सवेतन-छुटी, स्वास्थ्य एवं पेयजल, सुविधा व अन्य सुविधाओं की व्यवस्था रहनी चाहिए उनके साथ सम्मानपूर्ण ढ़ंग से पेश आया जाय। जब तक श्रमिक कार्य में रूचि नहीं लेगें तब तक परिणाम संतोषजनक प्राप्त नहीं होगा। अत: इस बात को विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए।

9. *कोई भी पेशा अपनाने की छूट:* कामगारों की अपनी रूचि, योग्यता, क्षमता, पसंद के अनुरूप बिना किसी दबाव के अपनी जीविका चुनने की पूरी छुट होनी चाहिए। उनपर किसी प्रकार की बाध्यता या शर्ते न थोपी जाएं। तभी वे पूर्ण रूप से क्रियाशील होगें और उत्पादन कार्य सम्पादित हो सकेंगें।

10. *आर्थिक समानता:* सरकार को अपने प्रयासों से आर्थिक समानता का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। आर्थिक असमानता समाज में अनेक समस्याओं वर्गवाद, संघर्ष, शोषण, नैतिकपतन आदि को जन्म देती है। संसाधनों का संकेन्द्रण होने लगता है और सारी शक्ति कुछ कुपोषण, निम्न जीवन-स्तर आदि बढ़ने लगता है। सरकार को उनपर भारी धनराशि व्यय करनी पड़ती है और विकास अवरूद्ध होता है। समाज में अशांति हिंसा आदि पनपने लगता है। अत: आर्थिक समानता के लिए प्रयासरत् रहना सरकार का कर्तव्य है।

11. *उत्पादों का उचित मूल्य:* ऐसी प्रणाली का विकास होना चाहिए जिससे किसानों को उनके उत्पादों का उचित मूल्य प्राप्त हो सके। उन्हें दलाल एवं बिचौलियों से बचाने की ठोस रणनीति बनानी होगी। उत्पाद का उचित मूल्य प्राप्त नहीं होने से उनमें और अरूची, निराशा आती है। जिससे उत्पादन कार्य प्रभावित होते हैं और उनकी समस्याएं फलीभूत होती है। उत्पाद का उचित मूल्य प्राप्त होने से ये अपना जीवन-स्तर उठा सकते हैं। इनकी कार्य क्षमता और उत्पादकता बढ़ जाती है। जो विदेशी द्वारा मुद्रा लाता है और राष्ट्र का विकास होता है। अत: इस ओर पूरी गंभीरता से ध्यान देने की आवश्यकता है।

12. *उपभोक्ता की सुरक्षा:* उपभोक्ताओं को वस्तुए गुणवत्तायुक्त और सस्ती प्राप्त हो इसका ध्यान रखना होगा। वस्तु में मिलावट न हो मात्रा और मूल्य उचित हो, उपभोक्ता का शोषण न हो, सही सेवा प्राप्त हो आदि बातों पर दृष्टि रख कर हम उपभोक्ता हितों की रक्षा कर सकते हैं। भारत में उपभोक्ता के अधिकरों की रक्षा हेतु अधिनियम बनाया गया है। लेकिन अशिक्षा, ग्रामीण आबादी, गरीबी और जागरूकता के अभाव में यह प्रभावी नहीं हो पाया है। इसका दायरा बहुत ही सीमित है, इसे बढ़ाना होगा।

इस प्रकार, उपरोक्त सभी तत्व मिलकर आर्थिक मानवाधिकार को पूर्ण करते हैं। मनुष्य के आर्थिक पक्ष को मजबूत करते ही हम विकास के लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। उपरोक्त एक-एक बिन्दुओं पर राज्य को गंभीरता से समीक्षात्मक नजर रखनी होगी। तभी आर्थिक मानवाधिकार का यर्थाथ रूप प्राप्त होगा।

आर्थिक मानवाधिकार और विकास

आर्थिक मानवाधिकार और विकास में घनिष्ठ संबंध है। बिना आर्थिक पक्ष मजबूत किए विकास की बात करना बेमानी है। आर्थिक रूप से सशक्त होने के बाद ही लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ़ती है, जिसमें मांग बढ़ता है। फलत: उत्पादन बढ़ता है और राष्ट्र का विकास होता है। आर्थिक मांग और विकास के आपसी संबंध को निम्नलिखित शब्द-चित्रों द्वारा देखा जा सकता है।

vkfFkd ekuokf/kdkj ds rRo	iHkko
f'k{kk	ekuo lalk/ku dk fodkl & Je dk lnqi;ksx & mRikndrk esa of)A
[kk|&lqj{kk	iks"k.k ,oa fcekfj;ksa ls futkr &
LokLF;&lqfo/kk	dqiks"k.k ,oa fcekfj;ksa ls futkr & dk;Z{kerk esa of) & thou&iR;k'kk esa of)A
volj dh miyC/krk ,oa lekurk	nqyZHk Je ,oa ;kX;rk dh iwfrZA
jkstxkj dh miyC/krk	Ø;'kfDr esa of) & ekax ,oa fuos'k esa of)A
ySafxd Hksn&Hkko dk fu"ks/k	vk/kh vkcknh dh {kerk ,oa ;kX;rk dk lnqi;ksxA
mfpr ,oa U;k;iw.kZ etnwjh	dk;Z djus dh izsj.kk ,oa :fp & iw.kZ {kerk dk mi;ksxA
dk;Z djus dk vuqdwy ,oa ekuokspfr ekgkSy	dk;Z{kerk ,oa mRikndrk esa of)
dkbZ Hkh is'kk&thfodk viukus dh NwV	:fp ls dk;Z & iw.kZ {kerk dk fonksguA
vkfFkd lekurk	vkfFkd l'kfDrdj.k esa of) & thou Lrj esa lq/kkj & ekax] vk; ,oa jkstxkj esa of)A
mRiknksa dk mfpr eY;	mRiknu dk;Z esa :fp vkSj dk;Z {kerk dk iw.kZ mi;ksx & mRiknu esa of)A
mfpr eY;	ekax esa of)A
vk/kkjHkwr lajpuk dk fodkl	mPp fuos'k dks c<kok & vks|kfxdj.k dks c<kokA

vf/kd jkstxkj
vf/kd mRiknu &,oa vk; dk
& fodkl dk lwtu xfr

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि-

1. आर्थिक पक्ष मजबुत होने से - क्रयशक्ति में वृद्धि - माँग और निवेश में वृद्धि - उत्पादन में वृद्धि - रोजगार और आय में वृद्धि - जी.डी.पी. में वृद्धि - विकास का लक्ष्य प्राप्त।
2. आर्थिक पक्ष कमजोर होने से - क्रयशक्ति में कमी - माँग और निवेश में कमी - उत्पादन में कमी - रोजगार और अन्य में कमी - जी.डी.पी. में कमी - विकास प्रक्रिया बाधित।

आर्थिक मानवाधिकार के राह के रोड़े :-

सरकार ने संविधान की निर्दिष्ट प्रावधानों के मद्देनजर आर्थिक मानवाधिकार के रक्षा हेतु अनेक कदम उठाए है। इसमें काम का अधिकार, बिना भेदभाव के रोजगार एवं अवसरों की उपलब्धता एवं समानता, लैगिंक भेदभाव का निषेध, न्यूनतम मजदूरी एक्ट - 1948, उपभोक्ता के हितों की रक्षा हेतु कानून - 1986, न्यूनतम समर्थन मूल्य नीति, कार्य के घंटे व अन्य देय सुविधाएं खाद्य-सुरक्षा, शिक्षा का अधिकार आदि शामिल हैं। फिर भी मानवाधिकारों का हनन अनेक कारणों से हो रहा है, जो निम्न है:-

1. नख से शिख तक व्याप्त भ्रष्टाचार।
2. तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या।

3. अशिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी।
4. राजनीतिक स्वार्थ एवं इच्छाशक्ति की कमी।
5. आधारभूत संरचना का अपूर्ण विकास।
6. प्रशिक्षण एवं कौशल परक कार्यक्रमों का आभाव।
7. शिक्षित वर्ग का श्रम से घृणा।
8. अगुणतापूर्ण एवं संस्कार-विहीन शिक्षा।
9. संसाधनों का अपूर्ण, अविवेकी विदोहन और सीमितता।

हम उपरोक्त अवरोधों को दूर करके ही आर्थिक मानवाधिकार को मूर्त रूप दे सकते है और विकास मार्ग को प्रशस्त कर सकते है। हालांकि सरकार ने राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर मानवाधिकारों की रक्षा के लिए आयोग का गठन किया हुआ है, लेकिन ये नागरीक अधिकारों को ही विशेष रूप से देखते है, जबकि आर्थिक मानवाधिकार प्राथमिक मुद्दा है। इस ओर यथाशीघ्र सरकार समाज और बुद्धिजीवी वर्ग को कार्य करना होगा। एक बार जब हम इन अवरोधों पर विजय प्राप्त कर लेगें तो हमें आर्थिक महाशक्ति बनने से कोई नहीं रोक सकता।

संदर्भ सूचीः

1. शर्मा सुभाषः भारत में मानवाधिकार नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
2. ह्यूमनस्कोप सितम्बर 2001, मुम्बई आवरण।
3. कश्यप, सुभाष हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
4. अमर्त्यसेनः गरीबी और अकाल (आर्थिक परिपेक्ष्य) द्वितीय संस्करण - 2002
5. एस0 कौशिकः मानवाधिकार और आर्थिक विकास नवनिर्माण प्रकाशन, उज्जैन।

❄❄❄

अर्थशास्त्र

पर्यावरणीय प्रदूषण और महात्मा गाँधी

डॉ. गोखुला प्रसाद सिंह

अर्थशास्त्र विभाग, स्नातकोत्तर अध्ययन केन्द्र, एम॰ जे॰ के॰ कॉलेज, बेतिया

पर्यावरण प्रदूषण वर्तमान युग की सबसे विकट और सम्भावित समस्या है जिससे मानवीय अस्तित्व खतरनाक स्थिति से गुजरने को बाध्य हो रहा है। हवा, पानी व मिट्टी अपने आप में प्रकृति की ओर से शुद्ध व ग्रहण करने योग्य है और जीवन के निर्वाध संवाहक है। ये सभी तत्व अपनी प्राकृतिक अवस्था में रंगहीन, गन्धहीन, स्वादहीन होते है। जब इसमें कोई पदार्थ इस सीमा तक मिल जाता है कि उसके नैसर्गिक गुणों का ह्रास होने लगता है तथा उसके भौतिक, रासायनिक और जैविक गुण बदल जाते हैं। इन विजातीय पदार्थों की वजह से अपनी प्राकृतिक गुणवत्ता को छोड़ देते है जिससे जीवों को क्षति होने लगती है अथवा जब पर्यावरणीय संसाधनों में नकारात्मक परिवर्तन अथवा ह्रास होने लगता है तो इसे प्रदूषण कहा जाता है।

अमेरिकी राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अनुसार-"प्रदूषण जल, वायु या भूमि के भौतिक, रासायनिक या जैविक गुणों में होने वाला कोई भी अवांछनीय परिवर्तन है जिससे मनुष्य, अन्य जीवों, औद्योगिक प्रक्रियाओं या सांस्कृतिक तत्वों तथा प्राकृतिक संसाधनों को कोई हानि हो या होने की आशंका हो अर्थात प्रकृति की अवयवों में कोई भी विजातीय पदार्थों का मिलना जो जीव सम्पदा को क्षति पहुँचाऐं, प्रदूषण के अन्तर्गत आते हैं।"

एम0 वाल्टर के अनुसार, "प्रदूषण पर्यावरण में पायी जानेवाली अवांछित अद्रव्यताएँ (Unwanted impurifiers) है। इन्हें प्रकृति स्वयं शुद्ध नही कर पाती है इसलिए ये प्रदूषण के अन्तर्गत आती है।

पर्यावरणीय प्रदूषण वर्तमान समय की भयावह समस्या है। आज जितने जहरीले रसायनों का उत्पादन एवं उत्सर्जन हो रहा है उतना विगत किसी भी संस्कृति और सम्यता में नही हुआ है। परिणामस्वरूप जीवनदायक तत्व जल, हवा, मिटी में प्रदुषण से समस्त पारिस्थितिक तन्त्र कुप्रभावित हुआ है। जल, वायु तथा मिट्टी प्रदूषण से जैव विविधता में ह्रांस परिलक्षित होता है। प्रदूषण और संसाधन ह्रांस के दुष्चक्र (Vicious Circle) का दायरा बढ़ता जा रहा है। क्लोरोफ्लोरो कार्बन (CFC) का एक अणु ओजोन परत के एक लाख अणुओं को नष्ट कर देता है और ओजोन परत में एक प्रतिशत की कमी से पृथ्वी पर 2 प्रतिशत त्वचा कैंसर (Malignant Cencer) की वृद्धि हो जाती है।

हरित प्रभाव, प्रदूषण एवं अन्य भौतिक परिवर्तनों से पृथ्वी की जलवायु में परिवर्तन उल्लेखनीय मात्र में हो रहे हैं। पृथ्वी की जलवायु में परिवर्तन का बहुत बड़ा कारण ग्रीन हाउस गैस (कार्बन डाई-ऑक्साइड, जलवाष्प, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड) की निरन्तर बृद्धि से बहुत ही जल्द भारतीय

उपमहाद्वीप की लाखों एकड़ जमीन पानी में समा जायेगी। अकेले बंगलादेश की ही 13 मिलियन आबादी प्रभावित होगी। चावल उत्पादन में 16 प्रतिशत की कमी आ जायेगी। अलनिनो प्रभाव-प्रशान्त महासागर में पैदा होनेवाली गर्म जल धाराओं का प्रभाव है जो पूरी दुनिया में उथल-पुथल मचा सकता है। अलनिनो के कारण इण्डोनेशिया में सूखा पड़ा। भारत में भी यह मॉनसून में अस्थिरता का प्रमुख कारण है। मौसम वैज्ञानिकों के हाल के अध्ययन से यह निष्कर्ष आया है कि 'ग्लोबल वार्मिंग' के कारण गरीब और विकासशील देशों की फसलों की पैदावार के उपर इसके नकारात्मक प्रभाव देखने को मिलेंगे, वहीं कुछ विकसित देशों की फसलों की पैदावार में इससे वृद्धि होने की सम्भावना है। वैज्ञानिक ग्लोबल वार्मिंग के नये खतरों में धरती पर बढ़ते रेगिस्तान को भी जोड़ रहें हैं। मरूस्थलीकरण का विस्तार इतनी तेजी से हो रहा है कि दुनिया के 110 देशों में रेगिस्तान पाँव फैला चुका है। ओस्लो के अर्न्तराष्ट्रीय सम्मेलन में वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि वैश्विक तापमान वृद्धि के कारण दुनिया भर के ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं। इससे बंगलादेश और नीदरलैण्ड सहित विश्व के अनेक देशों के तटीय इलाकों के डूबने का खतरा बन गया है। अंटार्कटिका की तीन बर्फीली परतें-दक्षिणवर्ती, दक्षिण लार्सेन और प्रिंस गुस्तव तो पूरी तरह पिघलकर गायब हो चुकी है।

प्रत्येक वर्ष 110 अरब टन कार्बडाई-ऑक्साइड धरती से होनेवाले तमाम जैविक प्रक्रियाओं द्वारा वायुमण्डल में पहुँचती है। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम के अनुसार उद्योगों, मोटर वाहनों, घरेलू उपयोग आदि की उर्जा आवश्यकता को पूरा करने के लिए जलाये जा रहे कोयले या पेट्रोल आदि से प्रत्येक वर्ष 5.7 अरब टन कार्बनडाई-ऑक्साइड पर्यावरण में पहुँच रही है। इसके अलावा प्रत्येक वर्ष 2 अरब टन से ज्यादा कार्बनडाई-ऑक्साइड उष्णकटीबनधीय जंगलों के विनाश (जलने) से वायुमण्डल में पहुँच रही है। औद्योगिकरण के पूर्व में वायुमण्डल में कार्बनडाई-ऑक्साइड की मात्रा 290 पी0 पी0 एम0 या 0.029 प्रतिशत थी जो आज यह बढ़कर 0.38 प्रतिशत हो गयी है। इस प्रकार इसमें 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

नाइट्रस ऑक्साइड कृषि में उर्वरकों के प्रयोग और कृषि कार्यो में उत्पन्न चीजों के सड़ने-गलने से निकलती है। नाइट्रस ऑक्साइड भी प्रतिवर्ष 0.25 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। इसका प्रत्येक अणु कार्बनडाई-ऑक्साइड की तुलना में 250 गुणा अधिक ताप पैदा करता है। मीथेन गैस ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने वाली गैसो में एक प्रमुख गैस है। यह धान के खेतों, नम भूमि, दलहन भूमि, खनन कार्य, गैस ड्रिलिंग, जैविक पदार्थों के सड़ने आदि से उत्पन्न होती है। इसके अलावा गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, सुअर, गदहा आदि पशुओं और लकड़ी खानेवाले कीड़ों से जैसे दीमक आदि भी इसके स्त्रोत है। यह पिछले कुछ दशकों में 0.9 प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ रही हैं। समूचे विश्व से वर्तमान में लगभग 52.5 करोड़ टन मीथेन वायुमण्डल में पहुँच रही है। तापमान बढ़ाने में इसका प्रत्येक अणु कार्बनडाई-ऑक्साइड की तुलना में 25 गुणा अधिक प्रभावी है।

क्लोरोफ्लोरो कार्बन सिंथैटिक यौगिकों का समूह है। यह यौगिक एयरकण्डीशनरों तथा रेफ्रीजरेटरों में ठण्डा करने, छिड़काव करनेवाले यन्त्रों में प्रणोदक के रूप में झाग को फैलाने और इलेक्ट्रॉनों की घटकों की सफाई और आग बुझाने के आधुनिक यन्त्रों में इस्तेमाल होते है। वर्तमान में इसकी खपत में अत्यधिक वृद्धि हुई है और यह 4 प्रतिशत की दर से वायुमण्डल में बढ़ रही है।

ओजोन पाराबैंगनी विकिरण को सोखकर धरती के जीव-जन्तुओं की रक्षा करती है परन्तु नीचले वायुमण्डल में इसका जमाव गर्मी बढ़ाने का कार्य करती है। यह नाइट्रोजन के ऑक्साइड, मीथेन हाइड्रोकार्बन और अन्य कार्बनिक यौगिकों के आपसी क्रिया से बनी है। इन गैसों एवं यौगिकों की बढ़ती मात्रा के कारण ओजोन का क्षय हो रहा है जिससे पृथ्वी के ताप में वृद्धि हो रही है। विश्व मौसम विज्ञान संगठन के अनुसार ओजोन मण्डल के सुराख का क्षेत्रफल लगभग एक करोड़ वर्ग किलोमीटर अर्थात यूरोप महाद्वीप के क्षेत्रफल के लगभग बराबर है और इसमें लगातार वृद्धि हो रही है। यह छिद्र अंटार्कटिका क्षेत्र के ऊपर स्थित है। ओजोन परत का यह छिद्र सन् 1985 से चिन्ता का विषय बना हुआ है। नवीनतम शोधों के अनुसार यह छिद्र और बड़ा होता जा रहा है, साथ ही कनाडा, पश्चिमी यूरोप, रूस, न्यू इंगलैण्ड के उत्तरी भाग स्केन्डिनेविया, नार्वे और स्वीडन के ऊपर भी विशाल क्षेत्र बनने की आशंका पैदा हो गयी है।

ओजोन परत को नष्ट करने वाले क्लोरोफ्लोरो कार्बन का उपयोग औद्योगिक क्षेत्रों में सबसे अधिक किया जाता है। रेफ्रिजरेटर, एयरकण्डीशनर, हेयरडाई, सुगन्ध का छिड़काव, पेन्ट, उर्बरकों के निर्माण, प्लास्टिक पेन तैयार करने, एयरोस्पेस, इलेक्ट्रॉनिक, ऑप्टीकल तथा फार्मेसी उद्योगों से यह अधिक मात्रा में निकलते है। अणु बम का विस्फोट भी ओजोन परत के लिए घातक है।

ओजोन परत में छिद्र होने से मेलोनोमा, कैंसर रोग, आँखों में मोतियाबिन्द व अन्य असाध्य दृष्टिदोष, प्रतिरोधक क्षमता में ह्रांस, फसलों के उत्पादन में कमी, मछलियों एवं अन्य समुद्री जीवों के वृद्धि में ह्रांस, अस्थमा एवं अन्य फेफड़े से सम्बन्धी रोगों में वृद्धि हो रही है जो ज्यादा घातक है।

इस प्रकार पर्यावरणीय प्रदुषण जो अंधाधुंध औद्योगीकरण, जनसंख्या में वृद्धि और गलाकाट प्रतियोगिता का परिणाम है जो मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के लिए घातक बनता जा रहा है।

ऐसी विपरीत परिस्थितियों में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के बताये सिद्धान्त की महत्ता बढ़ जाती है। गाँधी जी के जीवन का आदर्श "सरल जीवन तथा उच्च विचार" है। एक व्यवहारिक आदर्शवादी होने के नाते उनको यह ज्ञात हुआ कि इसी दर्शन में आधुनिक सभ्यता के दोषों के उपचार छुपे हुए है। गाँधी जी ने कहा कि सुख और सन्तुष्टि दो मानसिक परिस्थितियाँ है और आवश्यकताओं की वृद्धि की कोई सीमा नही है। गाँधी जी ने लिखा है कि "हम देखते हैं कि मस्तिष्क एक व्याकुल पक्षी है, जितना अधिक इसे मिलता है उतना ही अधिक यह चाहता है और फिर भी यह असन्तुष्ट रहता है।" वे आगे कहते हैं कि "इसलिए हमारे पूर्वजों ने हमारे विचारों को सीमित करने की चेष्टा की थी।" आधुनिक उद्योगवाद मानवीय मान्यताओं को त्यागकर मनुष्य में आवश्यकताओं को बढ़ाने तथा भौतिक धन प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न करता है। गाँधी जी आधुनिक पूँजीवाद के विरूद्ध थे क्योंकि यह मानव श्रम के शोषण पर आधारित है जिसे गाँधी जी हिंसात्मक समझते हैं। वे वृहत मशीनों के उपयोग के पक्ष में भी नही है क्योंकि इनसे बेकारी उत्पन्न होने के साथ पर्यावरणीय प्रदूषण, जिससे आज विश्व आक्रांत है, भी बढ़ते है जो मानव के साथ सम्पूर्ण जीव को नष्ट कर देगा और इसमें कुछ थोड़े हाथों में धान का संकेन्द्रण होता है। इसलिए वे आर्थिक विकेन्द्रीकरण को महत्व देते है।

गाँधी जी बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के कट्टर विरोधी है। मशीनों के उपयोग से मनुष्य आलसी हो जाता है और उसको अपने परिश्रम में कोई रूचि नही रहती है। इसका तात्पर्य यह कतई नही है कि गाँधी जी मशीनों के उपयोग के विरूद्ध है। उन्होंने स्वयं ही कहा है कि "वह मशीनों के विरूद्ध नही है क्योंकि वह जानते है कि मनुष्य का शरीर और चरखा भी मशीन है और इस दृष्टि से दाँतों को कुरदने की तिली भी एक मशीन है।" गाँधी जी केवल उस मशीन के विरोधी हैं जिससे परिश्रम को बचाने की चेष्टा की जाती है और प्रदूषण फैलाते है। उन्होंने विकेन्द्रीत अर्थव्यवस्था तथा घरेलू एवं कुटीर उद्योगों को स्थापित करने और उसके विकास का समर्थन किया है। इससे एक ओर जहाँ कोई बेरोजगार नही होगा, न आर्थिक संकेन्द्रण होगा और न उद्योगों की चिमनीयों से कार्बनडाई-ऑक्साइड, मिथेन, नाइट्रस ऑक्साइड, क्लोरोफ्लोरो कार्बन गैसों में बेतहाशा वृद्धि होगी, और न दूसरी ओर ओजोन परत में छिद्र होगा, न अम्ल वर्षा होगी और न हरित प्रभाव पड़ेगा। गाँधी जी के उद्योग हाथों द्वारा चलाने वाले श्रम प्रधान उद्योग होंगे।

इस प्रकार गाँधी जी के आर्थिक विकेन्द्रीकरण की नीति तथा छोटे-छोटे उद्योगों की स्थापना एवं विकास के सिद्धान्त को अपनाकर मानव सभ्यता पर मडराने वाले प्रदूषण के संकट, जो मनुष्य द्वारा उत्पादित संकट है, से निश्चित रूप से विश्व को निजात दिलाया जा सकता है। इस विद्यमान पर्यावरणीय प्रदूषण के बढ़ते खतरे से बचाने के लिए गाँधी जी के सिद्धान्त, नीति एवं विचारों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

संदर्भ सूचीः

1. पर्यावरणीय अध्ययन
2. कुरुक्षेत्र
3. आर्थिक विचारों का इतिहास
4. योजना

❄❄❄

अर्थशास्त्र

भारत में महिला – केन्द्रित ग्रामीण आर्थिक विकास की आवश्यकता

डॉ॰ मोहन कुमार लाल

सहायक प्रोफेसर, कमला राय कॉलेज, गोपालगंज

डॉ॰ गगनदेव प्रसाद यादव

रीडर, स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग, बी॰ आर॰ ए॰ बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

विकास प्रकिया में अगर गरीब और ग्रामीण महिलाओं को केन्द्रबिन्दु न बनाया गया तो, न तो उसमें तेजी आएगी और न ही वह संपूर्ण होगी। ग्रामीण महिलाएँ ग्रामीण जीवन की मेरुदंड है, उनकी वास्तविकता यह है कि दुनिया भर के विकास कार्यो में तकनीकी प्रगति एवं करोड़ों – अरबों रुपये की असंख्य योजनाओं के बावजूद इन महिलाओं के कष्टों में कोई विशेष कमी नहीं आई है। शहरी क्षेत्रों में महिलाएँ विकास की मुख्यधारा में जुड़ने लगी है। लेकिन सुदूरवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं की स्थिति असंतोषजनक है। ग्रामीण महिलाएँ शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, पेयजल, विद्युत आदि बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मोहताज है। महिलाओं की भूमिका के संबंध में पारस्परिक विश्वासों, सामाजिक और सांस्कृतिक बंधनों तथा निर्णयों में सीमित सहभागिता में महिलाओं को घर और कृषि कार्यो तक ही सीमित कर दिया है। महिलाओं के विवेक और ज्ञान को समाज द्वारा आज भी कोई विशेष महत्व नही दिया जाता।

देश का तीव्र किन्तु संतुलित विकास मुख्य रूप से मानव संसाधनों पर निर्भर करता हैं। देश के लोग जितने अधिक प्रशिक्षित, परिश्रमी, बुद्धिजीवी होंगे, विकास की गति उतना ही अधिक होगा। अत: किसी भी क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उत्थान में वहाँ की श्रम-शक्ति का आकार, कार्य का गुणात्मक स्वरूप तथा कार्य में नियमितता का बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान होता है। लेकिन किसी भी देश या क्षेत्र का सर्वागीण विकास तभी संभव है जब महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार एवं समानता प्राप्त हो। जनगणना आँकडें बतलाते है कि बच्ची भ्रूण हत्या के बाद भी समाज की आधी आबादी महिलाओं की है जिन्हे विकास की मुख्यधारा में जोड़े बिना किसी भी क्षेत्र, राज्य या देश के आर्थिक समाजिक, पर्यावरणीय एवं राजनीतिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् महिलाओं के उत्थान एवं विकास के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए गए। कानून एवं अधिनियम बनाए गए तथा संसद एवं विधान सभाओं में महिलाओं को समान प्रतिनिधित्व

देने के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण का विधेयक संसद में विचाराधीन है। भारतीय संविधान भाग 3, अनुच्छेद 15, नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान करते हुए लिंग, जाति, धर्म, भाषा, नस्ल, क्षेत्र आदि के आधार पर भेदभाव को नकारता है और सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से पिछड़े वर्गो विशेषत: महिलाओं, बच्चों तथा श्रमिकों को समुचित संरक्षण प्रदान करने का निर्देश देता है। लेकिन दुर्भाग्यवश आजादी के 65 वर्षो बाद भी हम समाज में इस भेदभाव को मिटाकर समानता लाने में असफल रहें हैं।

नोबल पुरस्कार विजेता बंगलादेश के मोहम्मद यूनुस ने साबित कर दिया है कि आर्थिक विकास में गरीब महिलाओं की उल्लेखनीय भागीदारी हो सकती है। ग्रामीण बैंक के शुरुआत में पुरुष द्वारा लिए गए ऋणो को चुकाने का औसत काफी कम था। फलत: ग्रामीण बैंक का विकास रुक गया। लेकिन महिलाएँ कर्ज लेकर वापस करने में पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा सतर्क हैं। अत: उन्होंने महिलाओं को प्राथमिकता देना शुरु कर दिया। वर्ष 2006 में बंगलादेश के ग्रमीण बैंक से लाभ उठाने वालों में से 97 प्रतिशत महिलाएँ थी। साथ ही, अन्य कार्यो दूरसंचार, हैंडलूम और उर्जा उत्पादन में भी महिलाएँ आगे है।

यह हमारे देश के लिए भी एक सबक है। 12वीं योजना के लक्ष्य की प्राप्ति तथा तीव्र विकास करने एवं विकास प्रक्रिया में सबको शामिल करने के लिए आवश्यक है कि ग्रामीण महिलाओं की कार्यक्षमता को पहचाना जाय। करोड़ों गरीब काम काजी महिलाएँ है जिनमें उद्यमिता एवं क्षमता है और जो देश की गरीबी से मुक्त कराने में मददगार हो सकती है, लेकिन नीति निर्धारक उन्हें आगे बढ़ने का मौका देते डरते हैं। भारत के विकास की नीतियाँ तैयार करते समय जो भी वाद-विवाद, बहस और संवाद होते है उनमें महिलाओं की आवाज बुलंद नहीं होती है। हमारी अर्थव्यवस्था दो असमान पहियों पर चलाई जा रही हैं। एक आधुनिकतम जेट विमान का है और दूसरा बैलगाड़ी का। इन पहियों पर अर्थव्यवस्था तो आगे बढ़ती है, लेकिन इन पर की जाने वाली यात्रा कैसी होगी? ग्रामिण विकास एवं महिलाओं के उत्थान करने से भारत की अर्थवयवस्था में समान पहिए लग जायेंगे और विकास यात्रा जल्दी पूरी हो सकेगी।

गरीब एवं महिलाएँ और खासतौर से गामीण महिलाएँ भारत की तेज और सतत् विकास प्रक्रिया के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। यदि हम महिलाओं एवं उसके गरीबी से उबरने के लिए पूँजी लगाते हैं असल में तो हम उनके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास में निवेश कर रहे होते हैं, उनकी नागरिकों के रुप में परिपक्वता और सशक्तीकरण में निवेश करते हैं। इस विकेन्द्रीकृत मगर सच्चे सशक्तिकरण से अर्थवयवस्था और लोकतंत्र दोनों तेजी से बढ़ते है।

इस प्रकार महिलाओं में पूँजी निवेश से न केवल आर्थिक विकास को समन्वित किया जाएगा बल्कि उनके परिवार और भविष्य के लिए आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन के उद्येश्यों में सफल होगें। साथ ही महिला विकास के लिए किया गया निवेश अधिक लाभदायक और कम जोखिम वाला है, यह किसी राष्ट्र द्वारा किया जाने वाला आदर्श निवेश है। यह अधिक लाभदायक इसलिए है क्योंकि यह दीर्घावधि के लिए तेजी से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लाभ सुनिश्चित करता है।

आज भारत विश्व में मजबूत आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा है। विश्व बैंक की एक रिपोर्ट के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की चौथी बड़ी अर्थव्यवस्था हो गई है। भारत में बीमा, बैंकिग, आयात-निर्यात वृद्धि दर औद्योगिक उत्पादन दर तथा आर्थिक विकास दर औसतन बढ़ा है। वर्ष 2006-07 में आर्थिक विकास दर 9 प्रतिशत रही जबकि आई॰ टी॰ एवं सेवा क्षेत्र में 11 प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि दर दर्ज की गई। हाल के वर्षो में यू॰ एस॰ ए॰ एवं यूरोपीय देशों में मंदी के कारण भारत के विकास दर में गिरावट आई है। इसके बावजूद आज भारत तीव्र विकास की ओर बढ़ रही है। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों की बदहाली देश के संतुलन आर्थिक विकास की राह में कांटा बनी हुई है। देश के नियोजन काल में ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी निवारण के अनेक प्रयत्न किये गए, परन्तु गामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी और गरीबी की समस्या निरंतर बढ़ती जा रही है।

गाँवों का वर्तमान स्वरुप

ग्रामीण अर्थव्यवस्था की समस्याओं पर समुचित ध्यान दिए बिना सम्पूर्ण भारत के विकास की कल्पना नही की जा सकती है। भूमंडलीकरण उदारीकरण और औद्योगीकरण के इस उन्नत आधुनिक दौर में भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि है। देश की ग्रामीण अर्थवयवस्था मुख्य रूप से कृषि आधारित है। कृषि एवं कृषि आधारित छोटे-छोटे उद्योगों, कुटीर उद्योग हस्तशिल्प उद्योग, दुग्ध उद्योग आदि आजीविका का प्रमुख साधन है। वर्तमान समय में 56.5 प्रतिशत लोग कृषि कार्य में लगे हुए है। गाँवो में 70 प्रतिशत से भी अधिक लोग निवास करते है। राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान 40 प्रतिशत से घटकर मात्र 18.5 प्रतिशत रह गया है। वर्ष 2006-07 में कृषि एवं सहयोगी क्षेत्र की विकास दर मात्र 2.7 प्रतिशत रही जिसे 11 वीं (2007-12) पंचवर्षीय योजना में 4.1 प्रतिशत करने का मुख्य लक्ष्य रखा गया है। वर्ष 2006-07 में 216 मिलियन टन कुल खाद्यान्न का उत्पादन हुआ। कृषि क्षेत्र का देश के कुल निर्यात मूल्यों में वर्ष 2005-06 में 10.2 प्रतिशत योगदान था।

अखिल भारतीय स्तर पर निवेश दर बाजार मूल्यों पर जी॰डी॰पी॰ का 37 प्रतिशत है। जब कि कृषि क्षेत्र में यह दर मात्र 1.9 प्रतिशत है। अत: राष्ट्रीय अनुपात की दृष्टि से निवेश दर 6 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में किया जाना चाहिए। अर्थात 4 प्रतिशत निवेश दर कृषि क्षेत्र में वृद्धि करने की आवश्यकता है। स्पस्ट है कि एकतरफ कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता 56 प्रतिशत से अधिक है। लेकिन राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान क्रमश: घट रही है। कृषि विकास दर 3 प्रतिशत से भी कम है। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण लोगो की आय, उपभोग एवं जीवन स्तर घट रही है, जो गंभीर ग्रामीण समस्या को दर्शाता है।

अत: यदि जनसंख्या वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत को ध्यान में रखते हुए कृषि में पर्याप्त सुधार नही किया गया तो देश में खाद्य संकट की स्थिती उत्पन्न होगी। इस प्रकार अर्थशास्त्री प्रधानमंत्री डॉ॰ मनमोहन सिंह द्वारा द्वितीय हरित क्रान्ति पर विशिष्ट बल देना अत्यन्त स्वाभाविक है। कृषि पर समुचित ध्यान दिये बिना 12 वीं योजना के लक्ष्य को पूरा नहीं किया जा सकता है तथा गाँव का सर्वागीण विकास प्राप्त करना भी मुश्किल होगा। गाँव के गरीब किसान सम्पति बनाने, रोजगार पाने, अपनी आय बढाने या जीवन की गुणवता सुधारने में किल रहे है। आज गाँव में खुशहाली, हरियाली और समृद्धि लाने के लिए गाँवों को आधुनिक विश्व बाजार से जोड़कर ही सफलता पायी जा सकती है।

ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों की आय का मुख्य स्त्रोत कृषि है। परन्तु कृषि तो अपने स्वरुप में ही मौसमी व्यवस्था है। इसलिए कृषि तथा इस पर आधारित उद्योगों में मौसमी बेरोजगारी पाया जाना स्वाभाविक है। एक सही अनुमान के मुताबिक उत्तरी भारत में औसत किसान वर्ष के 150 दिन बेकार रहता है। मौसमी बेरोजगारी में वृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण कारण ग्रामीण शिल्प उद्योग तथा कुटीर उद्योगों का पतन रहा है। ग्रामीण बेरोजगारी का दूसरा स्वरुप अल्प रोजगार या चिरकालीन अदृश्य बेरोजगारी है।

भगवती रिर्पोट के अनुसार 1971 में देश में बेरोजगारों की संख्या 187 लाख थी जिसमें से 161 लाख ग्रामीण क्षेत्र के थे तथा जिनमें 76 लाख पुरुषों तथा 85 लाख महिलाएँ बेरोजगार थी। 1994 में बेरोजगारों की संख्या 3 करोड़ 77 लाख थी जिनमें 62 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों के लोग थे। वर्ष 2006 में एन॰एस॰एस॰ द्वारा जारी रिर्पोट में बतलाया गया कि 2004-05 में ग्रामीण पुरुषों में 56 प्रतिशत लोग कामकाजी है, जबकी महिलाओं में कामकाजी का हिस्सा मात्र 33 प्रतिशत है। 1999-2000 से 2004-05 तक महिलाओं के रोजगार प्रतिशत में क्रमशः वृद्धि हो रही है, यह एक अच्छा संकेत है। वर्ष 2004-05 में ग्रामीण क्षेत्रों में 64 प्रतिशत पुरुष तथा 45 प्रतिशत महिलाएँ शिक्षित पाई गई। शहरी क्षेत्रों में यह दर क्रमशः 81 प्रतिशत और 69 प्रतिशत थी। वर्ष 1993-94 में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी दर 5.61 प्रतिशत था जो 1999-2000 में बढ़कर 7.21 प्रतिशत हो गया। इस अवधि में बेरोजगारों की संख्या 14.34 मिलियन से बढ़कर 19.5 मिलियन हो गया। देश में उदारीकरण के पश्चात् लगभग 23.85 करोड़ लोग अभी भी गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करने को मजबूर है। देश में इस समय 21.8 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करते है जबकि बिहार में 40 प्रतिशत लोग बी॰पी॰एल॰ के अन्तर्गत आते है। 1993-94 में शहर एवं गावँ का निर्धनता अनुपात 3.2: 3.7 था। उदारीकरण के पश्चात 2001-02 में यह अनुपात बढ़कर 3: 4.2 हो गया। स्पष्ट है कि सुधार प्रक्रिया का गाँव पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। अर्थात निर्धनता बढ़ी है। इस तथ्य को निम्न तालिका-01 से स्पस्ट किया जा सकता है।

तालिका -01: निर्धानता अनुपात (प्रतिशत में)

वर्ष	*शहरी*	*ग्रामीण*	*अखिल भारत*
1973-74	49	56.4	54.90
1983-84	40.8	45.7	44.50
1993-94	32.4	37.3	36.00
1999-2000	23.62	27.09	26.10
2001-2002	15.10	21.10	19.13

शिक्षा

शिक्षा अंधविश्वास, कुरितियों तथा पिछड़ेपन रुपी अंधकार को दुर भगाता है और स्वच्छ समाज का निर्माण करता है। यदि देश की आधी भगीदारी अर्थात महिला शिक्षा के विषय मे ध्यान दे तो पाते हैं कि महिलाओं को शिक्षित करना अनिवार्य होना चाहिए, उन्हे शिक्षित बनाना समाज का नैतिक

उत्तरदायित्व है। यह सत्य है कि एक पुरुष शिक्षित होकर एक परिधि तक ज्ञान सीमित रखता है, परन्तु एक महिला शिक्षित होकर दो परिवारों तथा देश के भविष्य को शिक्षित करती है। महिलाओं के पिछड़ेपन एवं समस्याओं का सबसे बड़ा कारण शिक्षा एवं प्रशिक्षण का अभाव है। विश्व का जहाँ प्रत्येक तीसरा व्यक्ति निरक्षर है, वहीं हर दूसरी महिला निरक्षर की श्रेणी में आती है।

तालिका -02

निम्न तालिका से महिला एवं पुरुष की साक्षरता की स्थिति वर्ष 1951 से 2011 के बीच जाना जा सकता है।

जनगणना वर्ष	*पुरुष*	*महिलाएँ*	*व्यक्ति*	*पुरुष-महिला अंतराल*
1951	27.2	8.9	18.3	18.3
1961	40.4	15.4	28.3	25.0
1971	46.0	22	34.4	24
1981	56.4	29.8	43.6	26.6
1991	64.1	39.3	52.2	24.8
2001	75.3	53.7	64.8	21.6
2011	82.1	65.5	74	16.7

आजादी के समय महिलाओं की साक्षरता दर दयनीय थी। वर्ष 1951 में यह दर मात्र 8.9 प्रतिशत था जो पुरुषों की तुलना में एक तिहाई से भी कम थी। वर्ष 1981 में स्त्री-पुरुष साक्षरता दर अंतराल सर्वाधिक 26.6 प्रतिशत था। 2011 की जनगणना में पुरुष साक्षरता में 7 प्रतिशत जबकि महिला साक्षरता में 12 प्रतिशत वृद्धि हुई है फिर भी दोनो में अंतराल 16.7 बना हुआ है।

तालिका-03: राज्यवार महिलाओं एवं पुरुषों की साक्षरता दर 2011 (जनगणना)

केन्द्र शासित क्षेत्र का कोड	*भारत/राज्य/केन्द्रशासित क्षेत्र*	*व्यक्ति*	*पुरुष*	*महिला*
1	जम्मू-कश्मीर	68.74	78.26	58.01
2	हिमाचल प्रदेश	83.78	90.83	76.60
3	पंजाब	76.68	81.48	71.34
4	चंडीगढ़	86.43	90.54	81.38
5	उत्तराखण्ड	79.63	88.33	70.70
6	हरियाणा	76.64	85.38	66.77
7	दिल्ली	86.34	91.03	80.93
8	राजस्थान	67.06	80.51	52.66
9	उत्तर प्रदेश	69.72	79.24	54.26

10	बिहार	63.82	73.39	53.33
11	सिक्किम	82.20	87.29	76.43
12	अरुणाचल प्रदेश	66.95	73.69	59.57
13	नगालैण्ड	80.11	83.29	76.69
14	मणिपुर	79.85	86.49	73.17
15	मिजोरम	91.58	93.72	89.40
16	त्रिपुरा	87.75	92.18	83.15
17	मेघालय	75.48	77.17	73.78
18	असम	73.18	78.81	66.27
19	पं॰ बंगाल	77.08	82.67	71.16
20	झारखण्ड	67.63	78.45	56.21
21	उड़ीसा	73.45	82.40	64.36
22	छत्तीसगढ़	71.04	81.45	60.59
23	मध्य प्रदेश	70.63	80.53	60.02
24	गुजरात	79.31	87.23	70.73
25	दमन एवं दीव	87.07	91.48	79.59
26	दादर एवं नगर हवेली	77.65	86.46	65.93
27	महाराष्ट्र	82.91	89.82	75.48
28	आन्ध्र प्रदेश	67.66	75.56	59.74
29	कर्नाटक	75.60	82.85	68.13
30	गोवा	87.40	92.81	81.84
31	लक्षद्वीप	92.28	96.11	88.25
32	केरल	93.91	96.02	91.98
33	तमिलनाडू	80.33	86.81	73.86
34	पुदुचेरी	86.55	92.12	81.22
35	अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह	86.27	90.11	81.84

महिला उद्यमशीलता का विकास

महिलाओं के विकास एवं सशक्तीकरण का महत्वपूर्ण तरीका उनमें उद्यमशीलता एवं तकनीकी ज्ञान का विकास है। एक उद्यमशील महिला एक श्रमिक महिला से आर्थिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होती है क्योंकि स्वामित्व उसे न केवल परिसम्पत्तियों ओर देनदारियों पर नियंत्रण प्रदान

करता है, बल्कि उसे निर्णय करने की स्वतंत्रता भी प्रदान करता है। इससे उसकी सामाजिक एवं आर्थिक हैसियत में भी उल्लेखनीय बढ़ोतरी होती है। इसके अलावा एक महिला उद्यमशीलता के विकास द्वारा न केवल अपने लिए आय पैदा करती है। बल्कि अपने समाज की अन्य महिलाओं के लिए भी रोजगार के अवसर पैदा करती है। फलत: उद्यमशीलता का बहुअयामी प्रभाव पड़ेगा तथा गरीबी दूर करने में सहायता मिलेगी।

परिवार के लिए आय पैदा करने वाली गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी हाल के वर्षो में तेजी से बढ़ी है। महिलाओं के काम करने से न केवल परिवार की आय बढ़ती है बल्कि घर की महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता भी मिलती है। जहाँ महिलायें आर्थिक दृष्टि से सक्रिय होती है, वहाँ लड़कियों को बोझ नही समझा जाता और उन्हे घर के संसाधनों में अधिक हिस्सा मिलता है। व्यवसायिक एवं प्रबंधकीय कामों में महिलाओं की संख्या बढ़ने के बावजूद उद्यमशीलता में महिलाओं की अभी भी काफी कमी है। अत: भारत में "अवसर उद्यमशीलता" के स्थान पर "महिला आवश्यक उद्यमशीलता" होना चाहिए।

महिला विकास के विभिन्न राष्ट्रीय कार्यक्रम

महिला विकास एवं सशक्तीकरण को मूर्त रूप देने के लिए महिलाओं के शैक्षिक, स्वास्थ्य एवं सामाजिक स्तर में सुधार की अनिवार्यता को देखते हुए केन्द्र सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम चलाये जा रहें है, इन कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

क्र०	*कार्यक्रम*	*वर्ष*	*उद्देश्य*
1	स्वावलम्बन	1982	कमजोर वर्ग की महिलाओं के लिए प्रशिक्षण के माध्यम से रोजगार उपलब्ध कराना तथा आर्थिक सहायता प्रदान करना।
2	स्वशक्ति	1988	महिलाओं में आत्मनिर्भरता और आत्म विश्वास बढ़ाने तथा स्वरोजगार की दिशा में प्रेरित करने में सहायता प्रदान करना।
3	स्वयंसिद्ध	2001	ग्रामीण महिलाओं को स्वास्थय, शिक्षा कानूनी अधिकार, आर्थिक गतिविधियों, घरेलु बचत के प्रति जागरुक किया जाना। ऋण एवं रोजगार के लिए प्रेरित किया जाना।
4	आशा योजना	2005	ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ की देखभाल करना, इसके लिए प्रत्येक गाँव में एक आशा कार्यकर्ता की तैनाती का प्रावधान
5	स्वर्णिम योजना		बी० पी० एल० से नीचे जीवनयापन करने वाले अत्यंत पिछड़े वर्ग की महिलाओं को 4 प्रतिशत व्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराना।

6	राष्ट्रीय पोषाहार मिशन	2001	बी॰ पी॰ एल॰ से नीचे जीवनयापन करने वाली महिलाओं को सस्ते दर पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना।
7	जीवन भारती महिला सुरक्षा योजना	2003	18-50 वर्ष आयु की ग्रामीण महिलाओं को गंभीर बीमारियों एवं उनके बच्चों की अपंगता की स्थिति में एल॰ आइ॰ सी॰ द्वारा सुरक्षा कवच प्रदान करना।
8	एस॰ टी॰ इ॰ पी॰	1986-87	महिलाओं के लिए 8 परंपरागत क्षेत्रों कृषि, पशुपालन, मतस्य पालन, दुग्ध उत्पादन, हस्तशिल्प, खादी तथा ग्रामोद्योग एवं रेशम कीट पालन में प्रशिक्षण एवं रोजगार उपलब्ध कराना।

उपर्युक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त बालिका प्रोत्साहन, राष्ट्रीय महिला कोष, परिवार परामर्श केन्द्र, बालिका समृद्धि योजना, विल योजना, किशोरी शक्ति योजना, बंदे मातरम् योजना आदि महिला विकास एवं समृद्धि के लिए केन्द्र सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं। इन कार्यक्रमों के संचालन के बाद भी महिलाओं की स्थिति में अपेक्षित सुधार नही हुआ है। जाहिर है कि हमारी नीतियों, कार्यक्रमों और कानूनों के क्रियान्वयन में कमियाँ हैं तभी तो इस तरह का असंतुलन बना हुआ है।

गाँव के विकास के लिए आवश्यक है कि कृषि में अपेक्षित सुधार हो तथा कृषि में जी॰ डी॰ पी॰ का 7 प्रतिशत निवेश किया जाय। द्वितीय हरित क्रांति के लिए आवश्यक सुविधाएँ समय पर किसानों को उपलब्ध कराया जाय। कृषि आधारित उद्योग, ग्रामोद्योग, हस्तशिल्प, मतस्य पालन, दुग्ध उत्पादन पर समुचित ध्यान दिया जाय। अकेले बिहार में 25 हजार से भी अधिक लघु औद्योगिक इकाईयाँ बीमार हैं। इसका मुख्य कारण महँगा कच्चा माल, बिजली की कमी, पूंजी का अभाव, अधिक कीमत एवं निम्न मांग माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में कृषि आधारित स्थानीय एवं सस्ते कच्चे माल द्वारा संचालित लघु एवं छोटे-छोटे उद्योगों के विकास के लिए विशेष अभियान चलाना होगा। साथ ही बिजली एवं सड़क परियोजनाओं को समय से पूरा किया जाय तथा इसमें अधिक निवेश कर ग्रामीण आवश्यकताओं को पूरा किया जाय।

गाँव में गरीब परिवारों की महिलायें कुटीर एवं हस्तकरघा उघोग, खादी उघोग द्वारा कपड़ा तैयार कर अपनी आय बढ़ा सकती है। चटाई, डलिया एवं बांस से निर्मित अनेक दैनिक उपयोग एवं सजावट की वस्तुएँ तैयार कर आय का साधन बना सकती है। इसके लिए थोड़े से प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। गाँव में महिलायें फल सब्जियाँ एवं दुग्ध उत्पादन कर आय में वृद्धि कर सकती है। महिलाओं के लिए वस्त्र सिलाई का धंधा भी उनकी आय बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

गाँव की महिलायें सहकारी संस्थायें बनाकर उद्योग धंधे चलाये तो वे सरकार से अंश पूँजी, संरचना विपणन, प्रबंध आदि के लिए वितिय सहायता प्राप्त कर सकती है। इतना ही नहीं, उनकी औद्योगिक सहकारी सहकारी संस्थायें सरकार का ब्याज अनुदान योजना अंतर्गत रियायती ब्याज दर पर ऋण भी प्राप्त कर सकती है।

शहरों के साथ ही गाँव में भी महिलाओं का शोषण और उत्पीड़न रोकने के लिए महिलाओं में शिक्षा का व्यापक प्रसार करना होगा। उन्हे संगठित होकर अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रेरणा देनी होगी। महिलाओं को यह समझना भी आवश्यक है कि वे अपने बीच बनी खाई को समाप्त करे, एक महिला दूसरी महिला को उत्पीड़ित करने की बजाय उसे स्नेह दे। साथ ही आबादी की बाढ़ पर अंकुश लगाना महिलाओं का धर्म है।

इस प्रकार गाँव का सर्वांगीण विकास तभी संभव है जब यहाँ कि महिलाओं को शिक्षित-प्रशिक्षित किया जाय तथा उनमें जागृति लायी जाय। इसके अलावे राज्य के लिए बनायी जाने वाली योजनाओं तथा उनको क्रियान्वित करने में महिलाओं को सम्मिलित किया जाना आवश्यक है।

अतः महिलाओं की आय, रोजगार एवं व्यवसाय में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए आवश्यक है कि महिला-केन्द्रित ग्रामिण विकास की विशिष्ट योजनायें विशेषकर गाँवों में सफलतापूर्वक लागू किया जाय।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"

संदर्भ स्रोतः

योजना, कुरुक्षेत्र, जनगणना 2011, अर्थिक सर्वे, इन्टरनेट, आदि

❄❄❄

समाजशास्त्र

ग्रामीण विकास में पंचायती राज की भूमिका

कुमार हेमंत नारायण

नेट, उत्तीर्ण, शोध, छात्र, समाजशास्त्र विभाग, पटना वि.वि. पटना

ग्रामीण विकास तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम को सफल बनने में पंचायती राज की महत्वपूर्ण भूमिका है। संविधान के 73वें संशोधन या पंचायती राज अधिनियम – 1994 के माध्यम से पंचायतों को और अधिक स्वतंत्र और प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया गया है। साथ ही केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए चलाई जा रही योजना कितना कारगर सिद्ध हुआ तथा इसमें कौन–कौन सी योजना को शामिल किया गया है, इस पर प्रस्तुत शोध–आलेख में शोधकर्त्ता ने पंचायतों के माध्यम से ग्रामीण विकास की भूमिका को उल्लेख किया है।

परिदृश्य

भारत की आत्मा गाँवों में बसती है, इसे हम सदियों से सुनते आ रहे हैं। भारतीय राजनीति में दखल रखने वाले राजनीतिज्ञ द्वारा भी ग्रामीण विकास को भारत के विकास की आधारशिला कहा जाता है। गाँवों के विकास के लिए कैसी और कितनी योजना को क्रियान्वित किया जाए, इसे लेकर भी स्वतंत्रता से पूर्व चिंतन बैठकों का दौर चलता रहा है। पंचायतों की शक्ति प्रदान कर गाँवों का विकास सुनिश्चित करने के लिए सर्वप्रथम महात्मा गाँधी ने अपने विचार प्रस्तुत किये थे। गाँवों तक योजना को पहुँचाने एवं उचित समय में क्रियान्वित कर ग्रामीणों को लाभान्वित करना वास्तव में एक गंभीर समस्या बनी हुई थी।

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। आज भी यहाँ जनसंख्या का लगभग 74.5 प्रतिशत लोग गाँवों में निवास करते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था की जड़ें गाँवों के दम पर निर्भर करता है। यदि हम यह कहे कि खेती–किसानी भारत के संदर्भ में ऐसा उद्योग है जो अन्य व्यावसायिक उद्योगों को जीवित रखता है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। सही मायने में देखा जाए तो देश का विकास तभी संभव है जब हमारे सुदूर गाँव विकास के मार्ग पर प्रशस्त हो।

भारतीय संविधान प्रशासन के द्वारा पंचायती राज को नये ढंग से चलाने का अधिकार और शक्ति प्रदान की गई है। पंचायतों का गठन में एकरूपता, निश्चित समय के उपरांत चुनाव की

बाध्यता, वित्तीय व्यवस्था का निर्माण, राज्यों के धनराशि का आवंटन, अनुसूचित जाति, जनजाति और पिछड़े वर्गो के विकास अवसर प्रदान करना जैसी शक्तियों से परिपूर्ण किया गया है।

प्राचीन भारत में हमारे देश की पंचायतें काफी उन्नतशील स्थिति में थी। प्रजातांत्रिक रूप से गठिन इन पंचायतों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पंचायतों में भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं था। वे पंचायतों के माध्यम से समस्याओं को सुलझाने वाली पंचों को परमेश्वर की संज्ञा दी जाती थी।

न्यायालयों एवं जज के रूप में पंचायतें एवं पंचगण अपनी समझ-बूझ से विवादों को निपटारा कर दूध का दूध, पानी का पानी कर लोगों को सांत्वना दिया करते थे। लेकिन समय परिवर्तन के साथ ही पंचायतों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। देश अंग्रेजी शासकों के जंजीरों में अकड़ गया जिस कारण से पंचायती राज व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई।

स्वतंत्रता सेनानियों के अथक प्रयास से सन् 1947 में देश आजाद हुआ तो इसके साथ ही पंचायती राज व्यवस्था की पहल की गई। गाँवों की प्रगति का मार्ग प्रशस्त की गई। तत्पश्चात् भारत में ग्रामीण समुदाय के सर्वांगीण विकास के लिए 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा जनसहभागिता को बढ़ाना था। लेकिन सरकार को इस कार्य में आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिल सकी। जिसका मुख्य कारण कार्यरत् कर्मचारियों में ग्रामीण जीवन के ज्ञान की कमी तथा प्रशिक्षण का अभाव था। अत: 1957 में बलवन्त राय मेहता की अध्यक्षता में गाँवों के विकास के लिए एक समिति गठित की गई, जिसे बलवंत राय मेहता समिति के नाम से जाना जाता है।

पंचायती राज का शुभारम्भ स्वतंत्र भारत में 2 अक्टूबर 1959 ई. को भारत के प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के द्वारा राजस्थान राज्य के नागौर जिला में हुआ। 1959 में इस समिति ने त्रिस्तरीय पंचायती राज की स्थापना की सिफारिश की, जिसमें ग्राम-स्तर पर ग्राम पंचायत, ब्लॉक स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर पर जिला परिषद का गठन पर बल दिया गया था। लेकिन इस समिति की सिफारिश देश के कुछ राज्यों में लागू हुआ। किन्तु 1965 के बाद पंचायती राज प्रणाली में गिरावट आने लगी।

पुन: पंचायती राज संस्थाओं को नवजीवन प्रदान करने तथा ग्रामवासियों को विकास को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से अशोक मेहता समिति (1977), जी.वी. के. राव समिति (1985), लक्ष्मीमल सिंघवी समिति (1986), पी.के. युगन समिति (1988) तथा 64वें संविधान संशोधन विध ेयक (पारिक नहीं हुआ) जैसे अनेक प्रयास किये गये हैं। अन्तत: इन समितियों को सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण भारत में 24 अप्रैल 1993 को 73वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान की धारा-243 (क से ण तक) तथा अनुसूची-11 को प्रतिस्थापित करते हुए पंचायतों को संवैधानिक दर्जा प्रदान की गई है। इस संविधान संशोधन के माध्यम से देश में शक्तिशाली स्वायत्त प्रशासन की स्थापना के लिए इसे एक क्रांतिकारी कदम माना जा सकता है क्योंकि यहीं से ग्रामीण विकास के स्वर्णिम युग का सूत्रपात भी माना जा सकता है।

73वें संविधान संशोधन की प्रमुख विशेषताओं में त्रि-स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था संबंधित पंचायत के सभी वयस्क मताधिकारियों द्वारा ग्रामसभा का गठन, प्रत्येक पंचायत की पाँच वर्ष की कार्यावधि तथा विघटन की दिशा में पुनः निर्वाचन की व्यवस्था, पंचायतों को आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय की योजनाओं को तैयार करने का अधिकार महिलाओं के लिए एक तिहाई स्थानों के अनुपात में आरक्षण अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लिए आरक्षण आदि सम्मिलित किया गया है। इसी उद्देश्य से संविधान में 11वीं अनुसूची में उल्लेखित मुद्दों के संबंध में 73वें संविधान द्वारा प्रतिस्थापित की गई है जिसमें कृषि, भूमि सुधार, लघु उद्योग, समाज कल्याण, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा, ग्राम आवास, पेयजल कार्यक्रम ग्रामीण विद्युतीकरण, ग्रामीण संचार आदि 29 विषयों को शामिल गया है।

ग्रामीण विकास के लिए युवा एवं ऊर्जावान प्रधानमंत्री स्व. राजीव गाँधी द्वारा सबसे पहले 27 से 30 जनवरी 1989 तक पंचायती राज सम्मेलन का आयोजन किया गया। उन्होंने कहा कि हम शक्ति लोगों के हाथ में दे साथ ही उन्होंने इस बात पर जोड़ दिया कि ऐसा करते समय बात को ध्यान में रखा जाये कि निम्न तबका और नीचे न आने पाये। अत्याचार में पर्याप्त कमी भी लायी जा सके।

राज्यसभा में 13 अक्टूबर 1989 को विधेयक पर चर्चा करते समय राजीव गाँधी ने कहा कि पंचायती राज या नगरपालिका विधेयक हर चौपाल, हर आंगन, हर चबूतरे, दालान तक जनतंत्र को पहुँचाने वाला उपकरण ही नहीं वरन् यह नौकरशाही के उत्पीड़न को टेक्नोलॉजी की तानाशाही को घूसखोरी, लालफीताशाही जैसी लाखों दुखदायकों तकलीफों का विवरण को मेनिफेस्टो जिसे शैक्सपीयर ने जन शासन की 'सुडिया' कहा था। स्व. गाँधी की जन-जन को सत्ता देने की आकांक्षा पूरी नहीं हो पाई क्योंकि यह विधेयक लोकसभा में पारित होने के बाद राज्यसभा में कानून का अंग नहीं बन पाया जिसे स्थगित हो गई। लेकिन राजीव गाँधी के दृढ़ इच्छाशक्ति के प्रतीक पंचायती राज को उनकी मृत्यु के पश्चात् भी प्रधानमंत्री बने पी.वी. नरसिंहराव ने संविधान संशोधन विधेयक द्वारा कानूनी रूप प्रदान कराकर विकास को मार्ग को प्रशस्त किया। सत्ता के विकेन्द्रीयकरण की नई सोच और नई पहल से ही पूरे देश में पंचायती राज व्यवस्था लागू किया गया।

ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिए तैयार पंचायतों की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता है। गाँव के अशिक्षित लोगों को शिक्षा से जोड़ना, इनके लिए हर प्रकार की शैक्षणिक सुविधा प्रदान करना, उपयुक्त वातावरण के जरिये सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन करना आदि पंचायतों का कर्त्तव्य में शामिल है। ग्रामीण क्षेत्रों में मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य सरकार से लेकर केन्द्र सरकार तक ध्यान खींचना भी पंचायतों के माध्यम से संभव हो पा रहा है। पेयजल की पूर्ति अथवा कुआँ खनन से लेकर ट्यूबवेल आदि की व्यवस्था भी पंचायतों का ही देन है। विवादों का निबटारा भी स्वच्छ वातावरण में स्वच्छंद प्रक्रिया द्वारा पूरा किया जाना भी पंचायतों का अधिकार एवं कर्त्तव्य है।

ग्रामीण विकास में पंचायतों की भूमिका लगभग डेढ़ दशकों से क्रियाशील रूप में अवश्य देखी जा रही है। पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक सद्भाव और सामाजिक न्याय के साथ ग्रामीण विकास एक चुनौतीपूर्ण कार्य है जिसे ग्रामीण क्षेत्र के लोग आज भी विकास के नाम से परिचित नहीं है।

वर्तमान समय में विकास कार्य की गत जिस कछुआ की चाल से चल रही है। ऐसा लगता है कि आने वाले 20-25 वर्षों में भी विकास का सपना पूरा हो पायेगा या नहीं। इसके पीछे सबसे बड़ा कारण ग्रामीण जनता की बेरोजगारी, गाँव में व्याप्त अशिक्षा, गाँव के लोगों का सदा जीवन के साथ ही जागरूकता की कमी एवं रसूखदारों का दबंग पूर्ण रवैया आदि शामिल है। कमजोर वर्ग का शोषण भी ग्रामीण विकाय कार्य में रोड़े का काम कर रही है।

सूझाव

अत: पंचायती राज के माध्यम से ग्रामीण विकास को सफल बनाने के लिए शासकीय स्तर पर कुछ सुझाव दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं:

- सबसे पहले ग्राम पंचायत सभा में चुने गये सदस्यों को उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- ग्रामसभा के माध्यम से कार्यों की सूची पंचायत सभा में लाकर ग्रामीणों को परिचित कराया जाना चाहिए।
- ग्राम सभा की बैठक की सूचना प्रत्येक व्यक्ति को मुनादी के द्वारा दी जानी चाहिए।
- सालाना बैठक के माध्यम से समस्याओं के अंबार को खत्म करने के लिए तिमाही बैठक की व्यवस्था है।
- ग्राम स्तर पर पंचायतों द्वारा लगाये जाने वाले करो की सूची से ग्रामीणजनों को अवगत करने की उचित व्यवस्था की जाए।
- पंचायतों के कार्य को पूर्व की भांति तीन स्तरों में विभाजित किया जाए।
- जनप्रतिनिधि की भांति पंचायती राज में शामिल पंच, सरपंच आदि को भी वेतन एवं भत्ते की सुविधा की व्यवस्था की जाए।
- ग्राम सभा की बैठक ऐसे समय करायें जिस समय गाँवों के लोग खाली हों।

निष्कर्ष:

अत: कहा जा सकता है कि ग्रामीण विकास में ग्रामीणजनों की भागीदारी इस उद्देश्य से महत्वपूर्ण है कि गाँवों में निवास कर रहे लोगों को अधिकार के प्रति जागरूक किया जाए। समाज के सभी वर्गों का सकारात्मक सहयोग पंचायती राज की सफलता के लिए रामबाण सिद्ध हो सकता है। पंचायती राज व्यवस्था की शक्तियों एवं अधिकारों को सही रूप से उपयोग करते हुए विकास का

मार्गप्रशस्त किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त भय, अशिक्षा, गरीबी, जातिवाद, अज्ञानता, भ्रष्टाचार आदि का उन्मूलन ही पंचायती राज के द्वारा विकास का मार्ग खोला जा सकता है।

संदर्भ-सूची:

1. कुरूक्षेत्र – अगस्त – 2008, वर्ष-54, अंक - 48.
2. N.O.U. – भारत का ग्रामीण समाजशास्त्र,
3. रामबिहारी सिंह तोमर - ग्रामीण समाजशास्त्र, पृष्ठ-593.
4. कुरूक्षेत्र – अगस्त - 2009, वर्ष - 55, अंक - 10,
5. डॉ. के.के. शर्मा - भारत में पंचायती राज, पृष्ठ-132।
6. देवेन्द्र मिश्र - पंचायती राज का संगठन एवं कार्यप्रणाली।

❄❄❄

मनोविज्ञान

भारत में उच्च शिक्षा–चुनौतियाँ एवं समाधान

डॉ. मनीषा बासल

विभागाध्यक्ष मनोविज्ञान, हवाबाग महिला महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

''उच्च शिक्षा लोगों को एक अवसर प्रदान करती हैं कि वह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मुद्दों से जूझ रही मानवता को प्रतिबिंबित करे तथा उच्च शिक्षा राष्ट्रीय विकास में अपना योगदान विशिष्ट ज्ञान और कुशलता को दूर तक फैला कर करती हैं।''

इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर प्राचीन भारत का नाम विश्वगुरू के रूप अंकित है। राष्ट्र की समृद्धि के लिये व्यक्तिगत जीवन का अर्पण प्राचीन भारतीय शिक्षा का सार हैं। आजादी के स्वर्ण जयंती वर्ष के पश्चात् नई शताब्दी में यह सोचना लाजिमी हैं कि क्यों हम अपनी प्राचीन धरोहर से वंचित होकर पश्चिमी राष्ट्रों के अनुकरण को तत्पर हैं। जीवन के प्रश्नों का समाधान करने वाली हमारी शिक्षा पद्धति स्वयं प्रश्नचिन्ह के घेरे में कैद है। सहस्त्राब्दी के प्रथम चरण में समूची शिक्षा प्रणाली पर गंभीर चिंतन की महती आवश्यकता हैं।

भारत में उच्च शिक्षा क्षेत्र में जहाँ गणनात्मक दृष्टि से बढ़ोत्तरी हुई है वही दूसरी ओर शिक्षा की गुणवत्ता प्रश्न चिन्ह के घेरे में है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली बेरोजगारों की फौज तैयारी करती है। देश के विकास में उपयोगी पर महत्वपूर्ण इकाई रोजगार के अभाव में शारीरिक रूप से अक्षम एवं मानसिक रूप से कुंठित होती जा रही है। रोजगार के अवसरों की कमी कड़ी प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है यह स्पर्धा विकृत रूप में जातिगत क्षेत्रगत, भाषागत द्वेष को जन्म देती है इससे राष्ट्र की सामाजिक समरसता प्रभावित होती है। परिणामस्वरूप धर्मगत, जातिगत, तथा क्षेत्रगत विवादों का जन्म होता है।

वर्तमान में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण समस्याऐं निम्नानुसार हैं–

शिक्षण के महत्वपूर्ण अंगों में तालमेल का अभाव, संसाधनों की कमी, उपलब्ध संसाधनों का समुचित उपयोग न होना, पाठ्यक्रम समय के अनुकूल नहीं, विदेशी भाषा, संस्कृति से दूर, सैद्धांतिक व उद्देश्य विहीन शिक्षा, अविश्वसनीय परीक्षा प्रणाली, जैसी अनेक समस्याओं ने हमारे समक्ष चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं।

आईये इन समस्याओं पर विस्तार से चर्चा करें:

1. ***शिक्षण के महत्वपूर्ण अंगों में तालमेल का अभाव:***

उच्च शिक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग हैं: (1) छात्र (2) शिक्षक (3) प्रशासन (4) जन समुदाय।

हमारे विद्वान छात्र, शिक्षक तथा प्रशासन को तो उच्च शिक्षा का अंग मानते हैं पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग जनसमुदाय की उपेक्षा कर जाते हैं। उच्च शिखा में संसाधनों की कमी का रोना तो रोया जाता है। परन्तु उसके पीछे यही कारण दृष्टिगोचर होता है कि इसमें महत्वपूर्ण जनसमुदाय को महत्व नहीं दिया जाता।

2. ***संसाधनों की कमी, उपलब्ध संसाधनों का उपयोग नहीं:*** उच्च शिक्षा में संसाधनों का अभाव तो है ही परन्तु उपलब्ध संसाधनों को समुचित दोहन न होने से स्थिति और भी गंभीर हो जाती है। भारत के कितने विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में परस्पर आदान-प्रदान होता है। यदि होता है तो किस स्तर पर? सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से परस्पर संवाद का मार्ग प्रशस्त हुआ है पर यदि संवाद की मानसिकता ही न हो।

3. ***पाठ्यक्रम समय के अनुकूल नहीं:*** प्रचलित पाठ्यक्रम समय के अनुकूल नहीं है। इस परिवर्तनशील दुनियां में पाठ्यक्रमों में आवश्यकतानुसार सामयिक परिवर्तन अपरिहार्य है किन्तु जटिल प्रक्रियाओं, प्रशासनिक अवरोधों के कारण पाठ्यक्रमों में समायानुसार परिवर्तन नहीं हो पाते। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि उत्तीर्ण छात्र जीवन की पाठशाला में अयोग्य साबित होते हैं।

4. ***विदेशी भाषा कैसी आशा:*** हमारे राष्ट्र निर्माताओं ने उच्च शिक्षा के लिये तात्कालिक रूप से अंग्रेजी भाषा को स्वीकार किया था। हमारी बहुसंख्यक आबादी अंग्रेजी के ज्ञान से वंचित है। यदि उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होगा तो शिक्षा में जनभागीदारी की संभावना ही नहीं बनती।

5. ***संस्कृति से दूर:*** हमारी उच्च शिक्षा दिन प्रतिदिन अपनी सांस्कृतिक विरासतों से दूर होती जा रही है। ''वसुधैव कुटुम्बकम'' और 'सर्वे भवन्तु सुखिन' का हमारा आदर्श 'मैं और मेरा' का सूत्र वाक्य आत्मसात कर रहा है। जब भाषा बदलती है तो वेष-भूषा भी बदल जाती है। इसी क्रम में हम अपनी संस्कृति व सभ्यता से वंचित हो जाते हैं।

   परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता, सामाजिक समरसता, चरित्र की दृढ़ता, दूर-दर्शन पर भी हले लगते हैं। वास्तकवता जीवन से इनका कोई सरोकार नहीं होता।

6. ***सैद्धांतिक व उद्देश्यहीन शिक्षा:*** हमारी उच्च शिक्षा अत्यधिक सैद्धांतिक व उद्देश्यहीन है। उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद अधिकांश विद्यार्थियों के सामने यह प्रश्नचिन्ह उपस्थित होता है कि अब वे क्या करें। हमारी शिक्षा पद्धति प्रारंभ से ही विद्यार्थियों को उचित मार्गदर्शन प्रदान नहीं करती है कि वे अपने लिये कैसे एक उपयुक्त कैरियर का वरण करें व उसमें सफल होवें।

7. ***अविश्वसनीय परीक्षा प्रणाली:*** हमारी परीक्षा प्रणाली की विश्वसनीयता संदिग्ध है। उपयुक्त समायानुसार परीक्षा का न होना, प्रश्न पत्रों का आउट होना, अनुपयुक्त मूल्यांकन, मार्कशीट में त्रुटियाँ। इन सबसे बढ़कर इन त्रुटियों के प्रकाश में आने के उपरांत किसी तरह की उचित कार्यवाही न होना।

उच्च शिक्षा की इन कमियों को दूर करना कठिन है पर असंभव नहीं। ''जब जागे तब हुआ सवेरा'' के सूत्र वाक्य को आत्मसात कर हम इन कमियों को दूर कर सकते हैं। आइए उच्च शिक्षा की कमियों को दूर करने के कुछ उपायों पर चर्चा करें।

(1) ***शिक्षण की विभिन्न इकाईयों का तालमेल:*** शिक्षण की सभी ईकाइयों को संगठित करने के लिये उनमें परस्पर विश्वास, सौहार्द एवं शुचिता की भावना का प्रसार करना होगा। हमें मानना होगा कि शिक्षण के सभी अंग समान रूप से महत्वपूर्ण है। शिक्षण की सभी इकाईयों को अधिकार की भावना से मुक्त होकर कर्तव्य के पथ का आश्रय ग्रहण करना होगा। ऐसी प्रणाली का विकास करना होगा जिसमें शिक्षण की इन इकाईयों में सार्थक संवाद हो। ऐसे आयोजनों की व्यवस्था करनी होगी जिसमें शिक्षण की सभी इकाईयों को अभिव्यक्ति का अवसर मिले।

(2) ***संसाधनों की कमी:*** संसाधनों की कमी उपलब्ध साधनों के समुचित दोहन से किसी हद तक पूरी की जा सकती है। संसाधनों की कमी दूर करने के लिये हमें आत्म निर्वासन से मुक्त होकर विस्तृत व्यापक समाज से संवाद स्थापित करना होगा।

(3) ***पाठ्यक्रम का निर्धारण:*** पाठ्यक्रम का निर्धारण उच्च शिक्षा का अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है। पाठ्यक्रम जितना व्यवस्थित होगा, उच्च शिक्षा का स्वरूप उतना ही निखरा होगा। सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार के साथ पाठ्यक्रम का निर्धारण सुगम हो गया है। पाठ्यक्रम की प्रचलित प्रक्रिया में प्रशासनिक दुरूहता, जटिल प्रक्रिया और जड़ता का दोष घर कर गया है। इसे दूर करने में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। पाठ्यक्रम निर्माण के पूर्व सभी अध्ययनशील इकाईयों का अभिमत आमंत्रित करना चाहिये।

(4) ***व्यवहारिक तालमेल:*** शिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रम एवं सुविधाओं को समयानुकूल तथा बाजारोन्मुखी बनाया जाये। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिये सैट, जी.आर.आई. तथा जीमैट के अनुरूप राष्ट्रीय स्तर पर प्रवेश परीक्षायें आयोजित की जाये तथा एक संस्थान से दूसरे संस्थान में स्थानान्तरण का आधार इनमें प्राप्त प्राप्तांक को बनाया जाये। शिक्षकों को सतत् प्रशिक्षण व गुणवत्ता विकास के लिये प्रोत्साहित किया जाये।

(5) ***दीर्घकालीन नियोजन:*** विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, संस्थानों तथा स्कूलों के स्तर को निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र एजेंसियों द्वारा समय-समय पर इनकी रेटिंग कराई जाये तथा उनका स्तर तय किया जाये।

(6) ***राजनीतिक प्रशासकीय दृढ़ इच्छाशक्ति:*** उच्च शिक्षा हेतु सरकार की भूमिका उच्च शिक्षा के संस्थानों की मदद करने, उन्हें कोष प्रदान करने, विद्यार्थियों को कर्ज दिलाने में वित्तीय गारंटी देने, पाठ्यक्रम तथा उनकी गुणवत्ता में एकरूपता लाने तथा शैक्षिक विकास योजना बनाने तक सीमित की जाये। सभी राजनैतिक पार्टियों के बीच इस बात की सहमति बनाई जाये, कि वे विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थानों से दूर रहेंगे। विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षण संस्थानों में राजनीतिक गतिविधियों पर पाबंदी लगाई जाये।

(7) जन सहयोग: किसी भी कार्यक्रम की सफलता जनसहयोग पर निर्भर करती है। उच्च शिक्षा की इन समस्याओं के समाधान हेतु जनता को एक प्रभावी पक्ष बनाया जाना आवश्यक है। साथ ही साथ विज्ञान, तकनीकी, प्रबंधन तथा वित्तीय क्षेत्रों में पढ़ाई के लिये निजी क्षेत्र की सहभागिता को प्रोत्साहन दिया जाये।

उपरोक्त उपायों के माध्यम से इन चुनौतियों का उपचार संभव है।

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा को मनुष्य की अंतनिर्हित प्रतिभा के प्रकाशन को उत्कृष्ट निरूपति किया है। शिक्षा केवल सूचनाओं का संकलन न होकर जीवंत होनी चाहिये। विश्वविद्यालय या महाविद्यालय शिक्षा का आखिरी पड़ाव नहीं है, वस्तुत: शिक्षा जन्म से प्रारंभ होकर मृत्यु पर समाप्त होती है। विश्व-विद्यालयीन शिक्षा जीवन यात्रा को सुगम, उद्देश्यपूर्ण बनाने का उपक्रम है। विश्व-विद्यालयीन शिक्षा जितनी बेहतर होगी मनुष्य का जीवन उतना ही गौरवमय, शांतिपूर्ण तथा उत्कृष्ट होगा।

संदर्भ ग्रंथ:

1. भटनागर, डॉ. सुरेश, शिक्षा मनोविज्ञान, लायल बुक डिपो, आगरा, 1992।
2. भटनागर, डॉ. सुरेश, आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याए। मेरठ पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 1992।
3. पाठक, पी.डी. शिक्षा मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1990।
4. कोहली, बी.के. भारतीय शिक्षा की वर्तमान समाचर।
5. रोजगार और समाचार
6. प्रतियोगिता दर्पण।

❄❄❄

ग्वालियर की संगीत परंपरा में कथक नृत्य शैली

सुश्री तरूणा सिंह

अतिथि विद्वान, (नृत्य विभाग), राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, ग्वालियर म.प्र.

गौरवशाली ऐतिहासिक विरासत को सहेजे हुए ग्वालियर एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक भूमि रही है। संगीत के क्षेत्र में इस अंचल का नाम विश्व पटल पर नक्षत्र के समान देदीप्यमान है। यह नगरी संगीत सम्राट तानसेन, बैजूबावरा जैसी महान साधकों की साधना स्थली रही है, यहाँ राजा मानसिंह तोमर एवं मृगनयनी की स्वर लहरियों की अनुगूंज आज भी सुनाई देती है। ''संगीत के क्षेत्र में ग्वालियर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शास्त्रीय संगीत के लिये, भारत प्रसिद्ध ऐतिहासिक तीर्थ स्थान रहा है। संगीत की अनेक शैलियों का संवर्धन तथा संरक्षण का श्रेय ग्वालियर को ही है ग्वालियर का संगीत कभी समस्त भारत में समृद्ध था और साथ ही भारत की राजधानी दिल्ली को भी उसने अपूर्व संगीत से विमोहित कर लिया था और ग्वालियर भारतीय संगीत का पर्यायवाची बन गया।[1]

ऐसी ऐतिहासिक नगरी में संगीत अर्थात् गायन वादन के अतिरिक्त शास्त्रीय कथक नृत्य की भी संगम धारा प्रवाहमान रही है। कथक नृत्य की परंपरा के इतिहास को खंगालने पर जो जानकारी उपलब्ध हुई उसके अनुसार 18वीं-19वीं शताब्दी के मध्य प्रसिद्ध पखावज वादक एवं तबला वादक उस्ताद पर्वत सिहं उर्फ गुदई महाराज के छोटे भ्राता श्री माधौ सिंह जी द्वारा प्रशिक्षित शिष्यानु शिष्य परंपरा के रूप में जाने जाते हैं। अत: ग्वालियर परिक्षेत्र में इस परंपरा को जीवित रखने का संपूर्ण श्रेय श्री माधौ सिंह जी को जाता है। यह अवश्य है कि नृत्य की इस प्रमुख धारा के तथ्य अंग्रेज़ों के अवसान काल के दौरान ही प्राप्त होते हैं। इस परंपरा के अंतर्गत सर्व प्रथम स्व. श्री बापूराव शिन्दे, स्व. श्री डी. के. राव, श्री पुरुषोत्तम नायक, डॉ. कमल वशिष्ठ आदि का अतुलनीय योगदान रहा है। इन के अतिरिक्त स्व. बापूराव शिन्दे के शिष्यगण स्व. शोभा चौहान, श्रीमती पुष्पा गंजवार, सुश्री वीणा झाला, सुश्री मधु वानखेडे, सुश्री अरुणा जाधव, सुश्री पुष्पा व्यास, सुश्री साधना वाखले, सुश्री नरगिस, सुश्री पुष्पा पॉल, सुश्री पद्मिनी, सुश्री रंजना सहस्त्र बुद्धे, डॉ. नीलिमा शर्मा आदि ने कथक नृत्य परंपरा को जीवित रखने में अपना विशिष्ठ योगदान दिया है। वर्तमान में आप सबके प्रयासों के फलस्वरूप कथक नृत्य को देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचार-प्रसार प्राप्त हुआ है।

''*गीतवाद्यं च नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।।* (संगीत रत्नाकर)(1/21)

अर्थात्-गीत वाद्य नृत्य यह तीनों मिलकर संगीत कहलाते हैं वैसे तो यह तीनों कलाऐं एक दूसरे से स्वतंत्र हैं फिर भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

"नृत्तंवाद्यनुगं प्रोक्तंवाद्यं गीतानुवर्ति च।।

अतो गीतं प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते। (संगीत रत्नाकर) (1/24-25)

"नृत्य वादन के और वादन गायन के आधीन है अत: इन कलाओं में 'गान' को प्रधानता दी गई है।"[2]

"ऋग्वेद में लिखा है-'नृत्यमानो देवता' (ऋचा 5-33-6) अर्थात् नृत्य करते हुऐ देवता।

यजुर्वेद में लिखा है-'नृताय सूतं गीताय शैलूषम' अर्थात् नृत्य करने वाले सूत एवं गीत गाने वाले शैलूष होते थे।"[3]

"अथर्व वेद में लिखा है- "यास्याय गायन्ति नृत्यन्ति भूम्याम् मृत्यर्व्येलवा" (ऋचा 2-9-41) अर्थात् आनन्द भरी किलकारी को कंठ से निनादित करने वाले जिस भूमि पर नाचते गाते रहते हैं।"[4]

वर्तमान समय में इन तीनों का अलग अलग विकास हुआ। संगीत शब्द गीत शब्द में सम् उपसर्ग लगाकर बना है। सम अर्थात सहित एवं गीत अर्थात गान। गान के सहित अंगभूत क्रियाओं नृत्य व वादन के साथ किया हुआ कार्य संगीत कहलाता है।

मेरे द्वारा इस शोध क्षेत्र में किए गए अन्वेषण के आधार पर विद्वानों से ग्वालियर में संगीत की परम्परा तथा कथक नृत्य की परंपरा को जानने के प्रयास में मुझे यहाँ के वरिष्ठ नर्तक स्व. श्री बापूराव शिन्दे साहब के शिष्यों से बातचीत कर ज्ञात हुआ कि ग्वालियर में संगीत परंपरा के साथ-साथ ही कथक परम्परा का भी जन्म हुआ। लेकिन कथक नृत्य का लिखित प्रमाण अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हैं। क्योंकि मेरे अनुसार इस पक्ष पर कभी गौर नहीं किया गया। जबकि ग्वालियर में आज भी कथक परम्परा जीवित है। यहाँ के पखावज वादक कथक नृत्य का भी प्रशिक्षण दिया करते थे। "ग्वालियर के राजदरबार में विख्यात परंपरागत गायक वादक एवं नर्तकों को राजाश्रय प्राप्त था। पुराने कलाकारों में आपसी प्रेम एवं एक दूसरे की कलाओं को आत्मसात करने की प्रबल इच्छा होती थी। इसी कारण गायन वादन वाले कलाकार कुशल नर्तक भी होते थे। अर्थात् इतनी तो आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेते थे कि अभाव के समय एक दूसरे की पूर्ति कर सकें। उस समय प्रतिभाशाली कलाकार अपने अंदर चौमुखी विकास करते थे। पं. माधौ सिंह जी को पखावज एवं तबले के अलावा गायन तथा नृत्य का पर्याप्त ज्ञान था। इसी क्रम में इनके शिष्य प्रो. लल्लू सिंह (आगरा) ने भी तबला पखावज एवं कथक का प्रचार-प्रसार किया। साथ ही उन्होंने अनेक शिष्य तैयार किए जो वर्तमान में उच्च ख्याति प्राप्त कलाकार हैं। माधौ सिंह जी के ये शिष्य भी उन्हीं की तरह चौमुखी कलाकार रहे हैं।"[5] इनके सुविख्यात शिष्य काजल शर्मा जिन्होंने पं. बिरजू महाराज से भी शिक्षा ग्रहण की वर्तमान में ये अमेरिका में कथक की शिक्षा प्रदान कर रहीं हैं। दूसरी शिष्या सुश्री शोभा सूद जो कि चण्डीगढ़ के प्राचीन कलाकेन्द्र मे कार्यरत हैं।

''कथक नृत्य के साथ तबला संगति के संदर्भ मे डॉ. पुरूदधीच के विचार हैं कि नृत्यकार को ताल ज्ञान के साथ तबला या पखावज का ज्ञान होना आवश्यक है। अभिनय के प्रमुख अंग नृत्य को संगीत का अंग इसलिए माना गया है, क्योंकि उसमें भावों के साथ ताल को भी प्रधानता दी गई है। "गीतं वाद्यं तथा नृत्य यतस्ताले प्रतिष्ठतम्" लय और ताल का आधार मृदंग एवं तबला आदि वाद्य ही हैं। वादन ज्ञान होने पर ही विभिन्न लयकारियों के व्यवहारिक स्वरूप का भी ज्ञान होता है"[6]

इन सभी तथ्यों से में इस निश्चय पर पहुँची हूँ, कि ग्वालियर की कथक परंपरा उतनी ही प्राचीन है जितने कि कथक के लखनऊ एवं जयपुर घराने हैं। दुर्भाग्यवश ग्वालियर के कथक का लिखित प्रमाणीकरण आंशिक रूप में प्राप्त है।

अत: इस शोध पत्र द्वारा मेरा प्रयास रहेगा कि मैं ग्वालियर की कथक नृत्य परम्परा को साक्ष रूप में ऐतिहासिक खोज कर इसे सुलिखित कर पुर्नस्थापित करने में अपना योगदान दे सकूं।

संदर्भित ग्रंथ:

1. डॉ. अरूण बांगरे - ग्वालियर की संगीत परंपरा, कनिष्क पब्लिशर्स दिल्ली (पृष्ठ 2)
2. व्याख्या एवं अनुवादकर्ता सुभद्रा चौधरी - संगीत रत्नाकर
3. गैरोला-भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण (पृष्ठ 116)
4. आज़ाद-कथक दर्पण (पृष्ठ 12)
5. अशोक कुमार - संगीत और संवाद (पृष्ठ 120)
6. नागेश्वर लाल कर्ण - कथक नृत्य के साथ तबला संगीत (पृष्ठ 100)

❊❊❊

प्राचीन भारतीय आहार, पोषण का आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता

तुहिना विजय

असिस्टेंट प्रोफेसर, गृह विज्ञान विभाग, पूर्णिया महिला महाविद्यालय, पूर्णिया

मानव जीवन में भोजन का स्थान सर्वोपरि रहा है। जिस प्रकार यंत्रों को क्रियाशील बनाये रखने के लिए ईंधन की आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार शरीर को सुचारू रूप से कार्य करने के लिए आहार एवं पोषण की आवश्यकता होती है। क्योंकि मानव शरीर एक यंत्र के समान है, जिसके विभिन्न अंग यांत्रिक कल-पुर्जो के समान सदैव क्रियाशील रहते हैं। एक विदेशी विद्वान् टर्नर साहब ने 'हैण्ड बुक ऑफ डाइट थैरेपी' नामक अपनी पुस्तक में पोषण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है कि "पोषण इन प्रक्रियाओं का संयोजन है, जिनके द्वारा जीवित प्राणी अपनी क्रियाशीलता को बनाये रखने के लिए तथा अपने अंगों की वृद्धि एवम् उनके पुनर्निर्माण हेतु आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करता है व उनका उपभोग करता है।" इस प्रकार हमारे शरीर को आहार एवं पोषण से ऊर्जा की प्राप्ति होती है।

भारत में प्रारंभिक सभ्यता के युग से अब तक आहार शास्त्र का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। हमारे प्राचीन ग्रंथों जैसे -वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं आयुर्वेद शास्त्र में भी आहार एवं पोषण का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्राय: सभी धर्मों के ग्रंथों में आहार के महत्त्व को दर्शाया गया है।

वेदों में आहार को 'पिता' कहा गया है, क्योंकि यह पिता के समान पोषण, संरक्षण तथा स्नेह प्रदान करने वाला होता है। हमारे पूर्वजों की अवधारणा थी कि पारलौकिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए तथा लौकिक दायित्वों के निर्वहण के लिए स्वस्थ शरीर एवं सुन्दर विचार की नितान्त आवश्यकता है। जीवन के प्रति इसी दृष्टिकोण के कारण वे शुद्ध, सात्विक तथा पौष्टिक आहार के पक्षधर थे, क्योंकि स्वस्थ शरीर ही धर्म, नीति एवं कर्त्तव्य पालन से व्यक्ति श्रमादि में सक्षम हो सकता है।

प्राचीन काल में आहार व्यक्ति के प्रकृति एवं कार्यों के अनुरूप होते थे। ऋषि-मुनि जो तपस्या करते थे, मन-कर्म एवं वचन की सात्विकता को बनाये रखने के लिए तथा आत्मा की पवित्रता के लिए सात्विक भोजन करते थे, जो अन्न, फल, शाक-सब्जी, कंद, मूल, दूध, घी, मट्ठा, मधु तथा ईख रस पर आधारित था जो सुपाच्य होता था तथा पोषक तत्त्व ये युक्त होता था।

भगवद्गीता में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने आहार को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है-

(1) सात्विक आहार- यह आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करने वाला अर्थात् सरल, सादा एवं सुपाच्य आहार है।

(2) राजसी आहार- यह भौतिक सुख देने वाला अर्थात् पौष्टिक एवं गरिष्ट आहार है एवं

(3) तामसी आहार- यह निम्न गुणों को उत्पन्न करने वाला (मिर्च, मसाले एवं तेल युक्त चटपटा आहार) है।

'चरक' तथा 'सुश्रुत' जैसे पौराणिक आर्युवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया था कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य आहार पर ही निर्भर होता है। उत्तम स्वस्थ्य जीवन के चारों पहलुओं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने के लिए स्वस्थ्य शरीर आवश्यक है।

वैदिक काल से ही कार्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ ग्रहण किये जाते रहे हैं। समाज में प्रायः तीन प्रकार के कार्य करने वाले लोग निवास करते थे - शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिक वर्ग, सामान्य श्रम करने वाले गृहस्थ वर्ग तथा बुद्धिजीवी वर्ग। छात्रों को राजसी तथा तामसी भोजन से परहेज रखकर शक्ति तथा समय को विद्याध्ययन में लगाने का परामर्श दिया जाता था। छात्रों को भिक्षाटन से उपलब्ध आहार उन्हें नम्रता की शिक्षा देता था। प्राचीन ग्रंथों में छात्रों के लिए भोजन की मात्रा निर्धारित नहीं की गई है। कौटिल्य ने स्त्रियों तथा नौकरों के लिए भी आहार की मात्रा सुनिश्चित की थी, जैसे -स्त्रियों को पुरुषों के भोजन का 3/4 भाग रखना चाहिए। प्राचीन काल में नौकरों को अन्य लोगों की अपेक्षा कम खाने की सलाह दी जाती थी।

संस्कृत साहित्य के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत का समय उन्नति और विकास का था। गुप्त काल तक आते-आते यह विकास मात्र अपनी पूर्णता के शीर्ष बिन्दु को स्पर्श कर गई थी। अनाजों की कई जातियाँ उपजाई जाने लगी थी। यद्यपि समाज के बहुत से लोग शाकाहारी हो गये थे परन्तु मांस व्यजंन भी विविध विधियों द्वारा बनाया जाता था।

हमारा आहार, पोषण मानवीयता के गुणों से ओत-प्रोत रहा है। देश, काल और क्षेत्र के अनुसार भले ही कुछ पारंपरिकता हमारे ऊपर हावी रहे हों, किन्तु हम किसी न किसी रूप में प्रगतिशीलता की ओर बढ़ते रहे हैं। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि मानवीय गुणों के विकास में भोज्य पदार्थ, आहार एवं पोषक तत्त्वों का ज्ञान हमें प्रारंभ से ही रहा है। इसके साधन स्रोत जहाँ प्राचीन साहित्य हैं वहीं परंपरा एवं किंवदंतियों में आज भी देखने को मिलते हैं। विदेशियों ने भी यहाँ के आहार, पोषक तत्त्वों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पाश्चात्य लोगों के लेख का सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि "प्राचीन भारतीय लोग विशेषकर बिहार के प्राचीन निवासी चिकित्सीय ज्ञान से परिपूर्ण थे और संतुलित आहार लेते थे जो औषधि सदृश्य काम करता था। प्राकृतिक दृष्टिकोण से क्षेत्रीय भिन्नताएँ थी, किन्तु उन सामग्रियों के आहार एवं पोषण में प्रचुरता होती थी जो सरल एवं सुलभ रूप से क्षेत्र

में उपलब्ध हों। न जाने क्यों ऐसा लगता है कि भारत के प्राचीन कालीन आहार एवं पोषक तत्त्व आज भी प्रासंगिक हैं और उनकी निरंतरता दिखती है।

हाल ही में भारत में जो आहार सर्वेक्षण किए गए हैं, उनसे पता चलता है कि अधिकांश लोगों के भोजन का संगठन निम्न स्तर का है और वे कुपोषित हैं। उनके आहार में अनाज की मात्रा बहुत अधिक रहती है तथा दाल, तरकारियाँ, दूध, दही, फल आदि की मात्रा बहुत कम रहती है। उनके आगे पोषक तत्त्वों पर सोचना उतना जरूरी नहीं है, वनस्पति की पेट भर लेना। उनके आहार में मंहगे, पौष्टिक भोज्य पदार्थ, मांस, मछली, अंडा नहीं के बराबर रहते हैं। ऐसी जनाबादी में कुपोषण का विकराल प्रभाव, बच्चों तथा गर्भवती और धात्री अवस्था की महिलाओं पर औरों की अपेक्षा और अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। शिशुओं और छोटे बच्चों में प्रोटीन-कैलोरी कुपोषण, विटामिनों, रिबोफ्लोबिन, आयरन आदि की कमी से होने वाले रोगों के केस बहुत सर्वेक्षणों में अधिक देखने को मिले। गर्भवती स्त्रियों में और धनी महिलाओं में, आयरन और फोलिक एसिड की कमी से एनीमिया रोग के केस अधिक संख्या में पाए गए। हमारे देश का आहार उत्पादन उतना नहीं है, जितनी की संख्या बढ़ गई है। पशुजन्य प्रोटीन बहुल भोज्य पदार्थ बहुत कम हैं और अत्यधिक मंहगे भी हैं। निम्न आर्थिक वर्ग की जनता इन्हें खरीदने और उपभोग करने में असमर्थ है। वर्त्तमान जन-आबादी को पोषण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में, उच्च पोषण स्तर का आहार उपलब्ध नहीं है।

हम सभी जानते हैं और स्वीकार भी करते हैं, साथ ही यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जनसमुदाय के पोषण स्तर में सुधार लाने के लिए, धन की जरूरत है। जब तक कि लोगों का आर्थिक और सामाजिक स्तर ऊँचा नहीं किया जा सकेगा, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि लोग पौष्टिक भोजन के प्रति जागरूक रहें और पौष्टिक और संतुलित भोजन हीं ग्रहण करें। प्राय: देखा जाता है कि गरीब जनता को जो कुछ भोजन स्थानीय रूप से पैदावार में मिलता है, उसी से पेट भरती है। जो कुछ पास में, सस्ता और सहज ढंग से मिलता है, उसी से पूरे परिवार का पेट भरा जाता है। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण, वे कुछ अधिक मूल्य लगाकर या कुछ दूरी से लाकर अपने परिवार को पौष्टिक आहार नहीं दे पाते हैं। शिक्षा की कमी भी इसका एक कारण है और वे जानते भी नहीं हैं कि पौष्टिक भोजन का क्या महत्व है। अज्ञानता सामान्य जनता का पोषक स्तर ऊँचा उठाने में आड़े आती है, क्योंकि यह भी संभव है कि स्थानीय रूप से उपलब्ध सस्ते खाद्य पदार्थों में भी, पौष्टिक व्यजंन बनाये जा सकने के बारे में वे जानते हीं नहीं हैं। उदाहरण के लिए यदि पोषण सम्बन्धी जानकारी होती हो, तो आर्थिक रूप से कमजोर महिलाएं, यह बहाना कभी नहीं बना सकती हैं कि उनके पास पैसे हीं नहीं हैं कि वे अपने बच्चों को ताकत की चीजें खिला सकें। जबकि वे मामूली सी हरी पत्ती वाली तरकारियों के द्वारा पालक के थोड़े से रस से, सस्ते फलों से हीं बच्चों की पोषण सम्बन्धी जरूरतों को पूरा कर सकती हैं। उनहें रोगों से बचा सकती हैं और ताकतवर बना सकती हैं। इसी बात से यह स्पष्ट है कि पोषण सम्बन्धी शिक्षा का प्रयास किया जाये, जिससे जन सामान्य उसके महत्त्व को समझे और फिर उसके नियमों को अपनी जीवन शैली में अपनाए।

संदर्भ-सूची:

1. पोषण एवं आहार विज्ञान - डॉ. जी. पी. शैरी
2. आहार विज्ञान - प्रो. (श्रीमती) सुधा नारायणम्
3. बाल विकास परियोजना पदाधिकारी- बिहार लोक सेवा आयोग, पटना।
4. आहार एवं पोषण विज्ञान - डॉ. प्रमिला वर्मा एवं डॉ. कांति पांडेय
5. आहार एवं पोषण विज्ञान - उषा टण्डन